।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ।।

श्रीमद्भागवतीय

उत्तमाभक्ति-निरूपणम्

-श्रीहरिदास शास्त्री

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

।। श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्।।

स्वकीयात्वनिरासविचारः

तथा

परकीयात्वनिरूपणम्

[श्रील विश्वनाथचक्रवर्ति प्रणीतम्]

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन
न्यायवैशेषिकशास्त्रिन्यायाचार्यकाव्यव्याकरणसांख्य
मीमांसावेदान्ततर्कतर्कन्यायवैष्णवदर्शनतीर्थ
विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितम्।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस
(श्रीहरिदास निवास)
प्राचीन कालीदह, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

प्रकाशक :
श्रीचैतन्य संस्कृति संस्था
(श्रीहरिदास निवास)
प्राचीन कालीदह, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.

प्रकाशन तिथि :
श्रीराधिका जन्मतिथि
श्रीगौरांगाब्द : ५२१–५२२

द्वितीयसंस्करणम्

प्रकाशन सहयोग :
१००) रुपया मात्र

मुद्रक :
श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस
(श्रीहरिदास निवास)
प्राचीन कालीदह, वृन्दावन (मथुरा) उ. प्र.

॥ श्रीश्रीगदाधरगौरांगौ जयतः॥

सूची-पत्र

क्रम.	पृष्ठ	क्रम.	पृष्ठ
१-ग्रन्थ विवरण ब्रजीय परकीया भाव	५	१०-श्रीकृष्ण ही परतत्व	२१
२-श्रीचैतन्यदेव	६-७	११-अचिन्त्य भेदाभेदवाद में निखिल श्रुतियों की सार्थकता	२२
३-परकीया भाव की उपासना भावना साधना	८-९	१२-पौराणिक युग में वैष्णवधर्म	२२-२५
४-अकैतव ममत्वास्वादन ही परकीया भाव है। ग्राम्य रस-गन्धहीन परकीया भाव	१०-११	१३-वर्तमान वैष्णव सम्प्रदाय	२५
५-वेदादि में परकीया भाव	१२	१४-श्रीसम्प्रदाय एवं विशिष्टाद्वैतवाद	२६-३०
६-वैष्णवधर्म पांचरात्र मत	१२-१५	१५-श्रीमध्वाचार्य सम्प्रदाय, द्वैतभाष्य	३०-३३
७-वैष्णवधर्म का क्रमिक विवरण	१५-१९	१६-श्रीवल्लभाचार्य सम्प्रदाय विशुद्धाद्वैतभाष्य	३३-३५
८-वेद एवं गौड़ीय वैष्णवधर्म	१९-२०	१७-श्रीनिम्बार्क एवं द्वैताद्वैतभाष्य	३५-४०
९-गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त में आम्नायवाक्य ही प्रमाण है	२१	१८-श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय एवं अचिन्त्य भेदाभेदवाद	४०-५६

क्रम.	पृष्ठ	क्रम.	पृष्ठ
१-श्रीसाधनदीपिका नवम कक्षा मुख्यतत्व निरूपण	५७	४-उपासक चतुर्विध	६४
२-भक्ति निरूपण	५८	५-समर्थारति	६५
३-रागानुगा भक्ति	५९	६-मन्त्रमयी स्वारसिकी उपासना	६६

क्रम.	पृष्ठ
७-गुरु लक्षण	६६
८-विरक्त लक्षण	६७
९-रागानुगाधिकारी लक्षण	६८
१०-शिष्य लक्षण	६९
११-रागात्मिका लक्षण एवं विभाग	७०-७१
१२-रागानुगा द्विविधा लोभ का लक्षण	७२
१३-गुरु लक्षण एवं गुरुकरण की आवश्यकता, रहस्यलीला-श्रवण, दर्शन स्मरणादि का अधिकारी निर्णय	७२-७३
१४-श्रुतिगण वांछित रागानुगा	७४
१५-रागानुगा भक्ति के अंग समूह	७५-७६
१६-भाव प्रेमरस प्रक्रिया	७७-७९
१७-उपपति, परकीया भाव में रसोत्कर्ष पर सप्रमाण विमर्श	७९
१८-श्रीगौरांगदेव तथा उनके समस्त परिकरगण नित्य परकीयावादी	११९
१९-दशम कक्षा-उत्तमाभक्ति का लक्षण	११९
२०-साधन-भक्ति	१२१
२१-रागानुगा	१२२
२२-गुरुवरण	१२४
२३-श्रवण गुरु	१२५-१२९
२४-आचार्य लक्षण	१३०
२५-गोपनीयत्व	१३१
२६-श्रील राधागदाधराष्टकम्	१३२
२७-स्वकीयात्वनिरासविचारः तथा परकीयात्व निरूपणम्	१३३-२२२
२८-परकीया रसोत्कर्ष में संगृहीत प्रमाण-समूह	२२२-२३६
२९-सद्ग्रन्थ अनुक्रमणिका	२३७

॥ श्रीश्रीगदाधरगौरांगौ विजयेताम्॥

विज्ञप्तिः

श्रीश्रीराधाभाव विभावित विग्रह परम करुण श्रीगौरसुन्दर की अनुकम्पा से तदीय हृदय सर्वस्वरूप 'स्वकीयात्व निरासविचारः तथा परकीयात्व निरूपणम्' ग्रन्थ सानुवाद प्रकाशित हुआ, ग्रन्थकार स्वनामधन्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठक्कुर हैं, इस ग्रन्थरत्न की रचना, उज्जवलनीलमणि की टीका रचना के पश्चात् ही हुई है।

एतत् सह 'साधनदीपिका की नवम, दशम कक्षा' वेदोक्त परकीयावाचक मन्त्र समूह तथा वैष्णवधर्म विवरण भी सन्निविष्ट है।

सम्वत् २०-२० में ग्रन्थ-प्रकाशनव्रती श्रीकृष्णदास बाबा महाशय के द्वारा सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। बाबा के आदेश से मैंने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया था, किन्तु अनावश्यक बोध से उपेक्षित होकर वह नष्ट हो गया, कालान्तर में परम मधुर श्रीब्रजराजनन्दन की प्रेरणा से भाव उद्बुद्ध हो गया और ग्रन्थ का प्रकाशन भी आनन्द से सम्पन्न हुआ।

ब्रजीय परकीय भाव अति दुर्ज्ञेय, दुरूह, परमोपादेय एवं परम रहस्यमय है, वेद में निगूढ़रूप से इसका वर्णन तो है ही, पुराणादि में भी यत्र-तत्र परमोपादेय रूप से इस भाव का वर्णन मिलता है, अधिकतो कहना ही क्या है-सर्ववेदान्तसार पारमहंस्य संहिता श्रीमद्भागवत में अलौकिक परमावेशरूप परकीय रस का ही परिवेषण परमोपादेय रूप से हुआ है।

श्रीमद्भागवतीय नन्दनन्दन, ब्रजांगनागण के भजन की परिपाटी को देखकर पराजय मान गये थे एवं सदा के लिए ऋणी रहने की भी उन्होंने मुक्तकण्ठ से घोषणा की।

मात्र इतना ही नहीं, किन्तु इतने लोभी भी बन गये थे कि-'कैछन राधा प्रेमा, कैछन मधुरिमा, कैछन तिँहो सुखे भोर' सोचकर निज नाम विनोदी श्रीगौरांग ही हो गये। भक्तों ने उनकी जय-जयकार इन शब्दों से की-

'जय निजकान्ता कान्ति कलेवर, जय निज प्रेयसी भाव विभोर।'

ईश्वरीय सृष्टि में नैसर्गिक विषय एवं आश्रयभाव प्राणियों में होता है, इस सम्बन्ध के अवलम्बन से ही प्राणी जगत् के सभी व्यक्ति व्यवहार निर्वाह करते हैं, किन्तु कालक्रम से विषय आश्रय के महत्व को विस्मित कर देता है और स्वयं विषय बनकर पृथ्वी के भार में वृद्धि करता है, वह भोक्ता भोग्य अभिमान से विभोर हो जाता है।

इस आश्रयतत्व में प्रधानत: स्त्री जाति से लेकर समस्त आश्रित चेतनतत्व का संग्रह होता है, श्रीमन्महाप्रभु के आविर्भाव के समय जगत् पुरुष का रहा और स्त्री जाति की निरापत्ता नहीं रही, पुरुषों से नारी भीत रहती थीं, धर्मीय संविधान कन्या बिक्री करने वाले की निन्दा करके भी कन्यादान की प्रशंसा करते थे। फलत: जननी मा, गृहिणी प्रभृति शब्द व्यंजित असीमगुण सम्पन्ना मानवीगण के लिए मानव समाज में अति नगण्य स्थान ही रहा, गुण ग्रहण सामग्री तो पुरुष हृदय में रही ही नहीं।

आध्यात्मिकता के क्षेत्र में साधु धार्मिक होने का एकाधिपत्य पुरुष का ही था और नारि से उत्पन्न एवं पालित घोषित होकर भी पुरुष साधु होते थे और नारि राक्षसी, पिशाची, माया शब्द से लांछित होती थी। साहित्यालंकार के क्षेत्र में मनीषिगण निज-निज प्रतिभा को नारि के अंग-प्रत्यंग विशेष के वर्णन में लगा देते थे और रस एवं शृंगार शब्द स्त्री विलास में रूढ़ था। इस समय में ही श्रीकृष्णचन्द्र आश्रयतत्व श्रीराधाभाव विभावित वपु श्रीगौरांग होकर आविर्भूत हुए। यह ही सर्वप्रथम अवतार, जो नारी के भाव आस्वादन के लिए ही अवत्तीर्ण हुए, इनको छोड़कर समस्त अवतारों की हेतु परिभाषा दुष्टदमन, शिष्टपालन, धर्मस्थापन ही है।

आपने साहित्यालंकार, कामतन्त्र, गान्धर्वकला को निर्दुष्ट बनाया, आध्यात्मिकता के क्षेत्र में शृंगाररस विशेषकर औपपत्य को विशुद्ध एवं विभीषिकाहीन बनाया और पुरुष के अभिमान को

चूर्ण–विचूर्ण करके 'वन्दे नन्द ब्रजस्त्रीणां पादरेणु मभीक्षणश:।' पुन:–पुन: स्त्री की चरण–वन्दना करने को सिखाया और ग्राम्यरस वर्जन की रीति को सुस्पष्ट किया।

यद्यपि आपने भी निद्रिता धर्मपत्नी को त्यागकर संन्यास ग्रहण किया था और स्त्री स्पर्श से मृत्यु होगी, इस विभीषिका में अनवरत रहते थे, तथापि भिक्षा का निर्वाह तो आप स्त्री के हाथ से ही करते थे अधिक कहना तो क्या है, श्रीजगन्नाथदेव के समक्ष असंख्य जन–समागम में एक उड़िया रमणी को कन्धे पर लेकर दीर्घकाल तक खड़े थे, सम्भ्रम से उतारने वाले को तो आपने फटकारा, किन्तु वह रमणी लपट–झपटकर श्रीमन्महाप्रभुजी के वपु को सिड्डी बनाकर कन्धे पर पैर रखकर खड़ी हो गयी, रमणी का भार और पाद स्पर्श दोनों ही उनको परमानन्दित करते थे, अनुयायियों को फटकारते हुए आपने कहा था, इसे न उतारो यथेष्ट श्रीजगन्नाथदेवजी का दर्शन करने दो। 'हेन आर्त्ति जगन्नाथ मोरे नाहि दिला।' इत्यादि आपने तो रूढ़भावमयी ब्रज सीमन्तिनीगण के द्वारा कल्पित रम्या उपासना को ही सर्वोच्च स्थान दिया तथा ब्रजगोपियों के भावानुसरण को छोड़कर ब्रजभाव–प्राप्ति की सम्भावना को उन्मूलित किया और कहा–'काम थाकिते प्रेम हवे ना ब्रजगोपीर भाव बिने।'

श्रीमन्महाप्रभुजी के चिरसाथी श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी ने सत्य ही कहा है–'अनावेद्यां पूर्वैरपि मुनिगणैर्भक्ति निपुणै: श्रुतेर्गूढां प्रेमोज्ज्वलरसफलां भक्ति लतिकाम्।'

कृपालुस्तां गौड़े प्रभुरपि कृपाभि: प्रकटयन्।
शचीसूनु: किं मे नयन शरणीं यास्यति पुन:।।

एकमात्र श्रीचैतन्यदेवजी के द्वारा अनुमत ब्रजीय परकीयाभाव की उपासना, भावना, साधना मधुराति मधुर है, वह इस प्रकार से है–

श्रीराधाप्राणबन्धोश्चरणकमलयोः केशशेषाद्यगम्या,
यासाध्या प्रेमसेवा ब्रजचरितपरै र्गाढ़ लौल्यैक लभ्या।
सा स्यात् प्राप्ता यया तां प्रथयितुमधुना मानसीमस्य सेवां,
भाव्यां रागाध्वपान्थै र्ब्रजमनुचरितं नैत्यिकं तस्य नौमि।।

(श्रीगोविन्दलीलामृत)

श्रीहरिविरिंचि अनन्त भी जिसको समझ नहीं पाते हैं, मात्र ब्रजलीला के प्रति प्रगाढ़ अनुराग लालसा से ही जिसकी प्राप्ति होती है। रागमार्ग के पथिकवर्ग जिसकी भावना सर्वदा करते हैं। जिस उपाय से श्रीराधिका के प्राणबन्धु श्रीकृष्ण के चरण-कमल की मानसी प्रेम-सेवा प्राप्त होती है, उस उपाय को प्रकाश करने के लिए तदीय दैनन्दिन ब्रजचरित को नमस्कार करता हूँ।

अलौकिक विशुद्ध परमावेशमय परकीयाभाव के साधकों के चरित्र भी विचित्र हैं, श्रीकृष्ण-राधा के प्रश्नोत्तर से उसकी एक झलक प्राप्त होती है-

तृप्तावन्यजनस्य तृप्तिमयिता दुःखे महादुःखिताः,
लब्धैः स्वीयालिदुःख निचयै र्नोहर्षबाधोदयाः।
स्वेष्टाराधन तत्परा इह यथा श्रीवैष्णव श्रेणयः,
कास्ता ब्रूहि विचार्य चन्द्रवदने ता मद्वयस्या इमाः।।

(श्रीगोविन्दलीलामृत-१३।११३)

अन्यजन की तृप्ति से तृप्त दुःख से दुःखित, निज सुख-दुःख समूह की प्राप्ति से न सुखी न दुःखी निज इष्ट की आराधना में तत्पर श्रीवैष्णवगण जिस प्रकार होते हैं, उस प्रकार स्वभावाक्रान्त ही मेरी वयस्यागण हैं। कारण-

सख्यः श्रीराधिकाया ब्रजकुमुदविधो र्ह्लादिनी नाम शक्तेः,
सारांशप्रेमवल्ल्याः किशलयदलपुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः।
सिक्तायां कृष्णलीलामृत रस निचयैरुल्लसन्त्याममुष्यां,
जातोल्लासाः स्वसेकाच्छतगुणमधिकं सन्ति यत्तन्नचित्रम्।।

(श्रीगोविन्दलीलामृत-१०।१६)

श्रीराधा के सुख से सखीगण की जो सुखोत्पत्ति होती है, श्रीराधा के साथ उन सबका अभेद ही उसका कारण है, कारण ब्रजरूप कुमुद समूह के चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्ण की ह्लादिनी नाम की जो शक्ति है, उसका सारांश रूप ही प्रेम है, वह प्रेम ही राधारूपी लता है, सखीगण उनके पत्र-पुष्प, नव-पल्लवस्वरूप होने के कारण वे सबही श्रीराधा के तुल्य हैं, अतएव श्रीराधास्वरूप लता श्रीकृष्णलीला समूह से अभिषिक्त होकर उल्लसिता होने से समस्त पत्र-पुष्पस्वरूप सखीगण निज सिंचन की अपेक्षा से शतगुण उल्लासवती होती रहती हैं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है॥

स्पृशति यदि मुकुन्दो राधिकां तत् सखीनां,
भवति वपुषि कम्प स्वेद रोमांच वाष्पम्।
अधर मधुमुदास्याश्चेत् पिवत्येष यत्नात्,
भवति वत तदासांमत्तता चित्रमेतत्।

(श्रीगोविन्दलीलामृत-११।१३७)

आश्चर्य की बात तो यह है कि-श्रीकृष्ण, श्रीराधिका को स्पर्श करने से उनकी सखियों के तन में कम्प, श्वेद, रोमांच, वाष्पादि होते रहते हैं, श्रीकृष्णचन्द्र यत्नपूर्वक यदि श्रीराधिका के अधर मधुपान करते हैं, तो उनकी सखियों में मत्तता छा जाती है।

इस प्रकार भाव माधुर्य परम ममतामयी अलौकिक परकीया लीला में ही सम्भव है, कारण-

पातिव्रत्यं क्वनु परबधूत्वापवादः क्व चास्याः,
प्रेमोद्रेकः क्वच, परवशत्वादिविघ्नः क्व चायम्॥
कैषौत्कण्ठा क्वनु वकरिपो र्नित्य सङ्गाद्यलब्धि,
मूलं कृष्ट्वा कषति हृदयं कापि शल्यत्रयी नः॥

(श्रीगोविन्दलीलामृत-११।१२१)

श्रीराधा का पातिव्रत्य कितना अनुपम है ? और वहाँ पर परबधूरूप अपवाद भी किस प्रकार दुःखद है ? अर्थात् जहाँ पर उस प्रकार पातिव्रत्य विद्यमान है, वहाँ पर परबधूरूप अपवाद की सम्भावना ही नहीं हो सकती है, प्रेमोद्रेक भी किस प्रकार है ?

अर्थात् वहाँ पर पराधीन होने की समस्या भी किस प्रकार हो सकती है अर्थात् जहाँ पर प्रेमाधिक्य है, वहाँ पर विघ्न की सम्भावना ही नहीं होती है, दूसरी बात उत्कण्ठा भी किस प्रकार है ? एवं श्रीकृष्ण से निरन्तर मिलन का अभाव भी किस प्रकार है ? इस प्रकार अनिर्वचनीय शल्यत्रय हमारे हृदय को कुरेद रहे हैं। यहाँ पर पातिव्रत्य, प्रेमोद्रेक, उत्कण्ठा यह तीन ही सत् साधक हैं एवं अपवाद, विघ्न, संगाभाव यह तीन असत् हैं। इस प्रकार तीन शल्य हृदय को आर-पार बिद्ध कर रहे हैं। इस कार्य के प्रति, पूर्व तीन सत् हैं, अपर तीन असत् हैं, इस हेतु यहाँ पर सद्सद योग समुच्चय हुआ है।

इस अलौकिक परकीयाभाव परमास्वाद्य होने के कारण श्रीकृष्णचन्द्रजी ने सोल्लास से (भा० ११।२-१२) उद्धव से कहा है-

मत्कामारमणं जारमस्वरूपं विदोऽवला:।
ब्रह्म मां परमं प्रापु: सङ्गात् शतसहस्रश:।।

इसका अर्थ-शतसहस्र गोपनारीगण मात्र मेरी कामना से मेरे स्वरूप को न जानने पर भी जारबुद्धि से, रमणबुद्धि से मुझमें आसक्त होकर परंब्रह्मस्वरूप मुझको प्राप्त किये हैं, अतएव हे उद्धव ? श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य एवं श्रुत सभी को छोड़कर सब प्रकार से सभी देहि के शरण्य मुझ परमात्मा की शरण ग्रहण करो, मैं तुम्हें अकुतोभय करूँगा।

अहैतुक पारस्परिक अकैतव ममत्वास्वादन ही उत्तमा ब्रज भक्ति अथवा परकीयाभाव है, इसमें ग्राम्यजनानुभूत संभोग लीलास्वादन की संभावना ही नहीं है, यह विदग्ध शिरोमणिगण सेवित अनवद्य भागवतधर्म है, अतएव नर्मालाप, नखदन्त क्षत किंवा चुम्वनादि लीला से भी विद्वदनुभव प्रामाण्य से संप्रयोग नामक क्रीड़ा विशेष की समधिक गौणता ही है, 'विदग्धानां लीला विलासेन यत्सुखं न तथा संप्रयोगेन स्यादेवं रसिकाबिदु:।' (उज्ज्वल शृं०-२५३) रसिक व्यक्तियों को जो सुख परस्पर लीला-विलास से होता है, संप्रयोग से तज्जातोय सुखास्वादन

नहीं होता है। उसकी संक्षिप्त झलक श्रीवृषभानुनन्दिनी के वचन से-

'वटो ! न ते कृत्य मिहास्ति पुष्पा रामेऽवलास्वैरविहारधाम्नि पशूनवं स्त्वं पशुपालसङ्गी, तच्चारणाय ब्रज शाद्वलेषु ।।'

स्मितरुचि शिशिरात्तद्वक्त्रपीयूषरश्मे,
श्चलनयनकुरङ्गोत्प्लावरम्यात् स्रवन्तीम्।
पिवति हरिचकोरे नर्म पीयूषधारा
मतृपदिह सखीनां दृक्चकोरीचयोऽपि।।

बटु ! स्त्रियों के टहलने की बगीची में तुम्हें आने की आवश्यकता क्या है ? तुम ग्वारिया हो, ग्वाल-वाल साथ में हैं, जहाँ हरियाली है, वहाँ गाय चराने के लिए चले जाओ, तब कृष्ण, ईषत्, हास्य रुचिरूप सुशीतल एवं चंचल नयन कुरंग के साथ रम्य श्रीराधा के वदन सुधाकर से विगलित परिहासामृत पान करने लगे, यह देखकर सखीगण की सब नयनचकोरी भी परितृप्त हो गयीं।

अनन्तर श्रीकृष्ण राधा को रोकने के लिए आगे बढ़ने से-

वाष्प व्याकुलितारुणाञ्चलचलन्नेत्रं रसोल्लासितं,
होलोल्लास चलाधरं कुटिलित भ्रूयुग्ममुद्यत्स्मितम्।।
कान्तायाः किलकिञ्चिताञ्जितमसौ वीक्ष्याननंसङ्गमा,
दानन्दं तमवाप कोटि गुणितं योऽभून्न गी गोंचरः।।

(श्रीगोविन्दलीलामृत-९-१८)

उस समय श्रीकृष्ण राधा के रसोल्लास विशिष्ट वाष्पाकुलित अरुण, चंचल, लोचन, 'हेला विलषित अधर, कुटिल भ्रूद्वय, उद्गत किलकिंचित् रस विशिष्ट आनन को देखकर संगम से जो कोटि गुण आनन्दानुभव किये थे, वह वाणी का विषय नहीं होता है। गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय, क्रोध इन सात भावों का एककालीन अतिशय हर्ष हेतु उदय होने से किलकिंचित् भाव होता है, वाष्पव्याकुलितं-रोदन, अरुणाञ्चलं-क्रोध, चलन्नेत्रं-भय, रसोल्लसितं-गर्व, हेलोल्लासचलाधरं-अभिलाष, कुटिलित भ्रूयुग्मं असूया, उद्यत्स्मितं-स्मित वर्णित है।

पारस्परिक अकैतव निविड़ ममत्वास्वादन ही परमधर्म है, उसका परिवेषण ही भगवतीय ब्रजलीला के माध्यम से हुआ है। यहाँ पर प्रसंगवश ऋग्वेद एवं उपनिषत् में जार शब्द का प्रयोग किस प्रकार हुआ है, उसको दिखाते हैं–ऋग्वेद अष्टक–१।१२।६६ सूक्त में जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्। सायन–कनीनां कन्यकानां जार जरयिता, यतो विवाह समय में अग्नौलाजादि द्रव्य होमे सति तासां कन्यात्वं निवर्त्तते, अतो जरयितेत्युच्यते। तथा जनीनां जायानां कृत विवाहानां पतिः भर्त्ता। दार जारौ कर्त्तरि णि लुक् च' पाणिनि–३।३।२०।७ जरयतीति। ऋक्–१।१७।११७ सूक्त में १८ जारः कनीन इव, यथा प्राप्त यौवनः कामुकः जारः पारदारिकः सन् परस्त्रियै सर्व धनं प्रयच्छति एवम्। जार आ सतीम् १।२०।१३४।३ जारः पारदारिकः। आसतीम्, उपपत्यागमन–ध्यानेन ईषत् स्वपन्तीम् इस प्रकार ६।५५।४–५ जारः उपपतिः' ९।३८।४ गच्छन् जारो न योषितम्। ९।९६।२३ प्रियां न जारो अभिगीत इन्दुः' १०।१६२।५ यन्त्वा भ्रातापति र्भूत्वा भूत्वा जारोनिपद्यते। छान्दोग्य में २।१३।२ स य एव मेतद् वामदेव्यं; शांकरभाष्य में– कथञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्म तल्प प्राप्तां न परिहरेत् समागमार्थिनीम्; वामदेव्य सामोपासनाङ्गत्वेन विधानात्। एतस्मादन्यत्र प्रतिषेध स्मृतयः, वचन प्रामाण्याच्च धर्मावगते र्न प्रतिषेधशास्त्रेणास्य विरोधः। आनन्दगिरि–पराङ्गनां नोपगच्छेत्' इति स्मृतिविरोध माशङ्क्याह–विधिनिषेधयोः सामान्य–विशेष विषयत्वेन व्यवस्था प्रसिद्धेति भावः। किंच–शास्त्र प्रामाण्यादत्र धर्मोऽवगम्यते, न काञ्चन परिहरेदिति च शास्त्रावगतत्वाद वाच्यमपि कर्म धर्मो भवितु मर्हति। तथा च श्रौतेऽर्थे दुर्बलायाः स्मृते र्न प्रतिस्पर्धितेत्याह– वचनेति यथोक्तोपासनावतो ब्रह्मचर्य नियमाभावो व्रतत्वेन विवक्षितः, तन्न, प्रतिषेध शास्त्र विरोध शङ्केति भावः। तुलनीय वृहत्तोषणी–४७।६१–६९।

वैष्णवधर्म

पांचरात्र एवं सात्वत मत 'सात्वत' के सम्बन्ध में पद्मपुराण के उत्तरखण्ड ९९ अध्याय में वर्णित है, सत्त्व सत्त्वाश्रयं

सत्वगुणं सेवेत केशवं। यो ऽनन्यत्वेन मनसा सात्वतः समुदाहृतः विहाय काम्य कर्मादीन् भजेदेकाकिनं हरिं, सत्यं सत्त्व गुणोपेतो भक्त्या तं सात्वतं विदुः। मुकुन्दपाद सेवायां तन्नाम श्रवणेऽपि च। कीर्त्तने च रतो भक्तो नाम्नः स्यात् स्मरणे हरेः॥

वन्दनार्चयो र्भक्ति रनिशं दास्य सख्ययोः।
रति रात्मार्पणे यस्य दृढानन्तस्य सात्वतः॥

सत्+वतुप् सत्वत् (सत्त्वायुक्त, सत्य गुण विशिष्ट, इस धर्मावलम्बि व्यक्तिगण ही सात्वत् सत्वत् कृष्ण–यत् सात्वतं रूप मुशन्ति सन्तम्। भा० १२।८।४६ यह सात्वत सम्प्रदाय वैदिक वैष्णवों के मध्य में श्रेष्ठ वैष्णव 'सम्प्रदाय रूप में ख्यात थे उनके आचार–व्यवहार, रीति–नीति, उपासना पद्धति सर्वतोभाव से उत्तम, निष्काम एवं भागवद् भाव पूर्ण थीं।

कूर्मपुराण के चतुर्थ अध्याय में आदिदेव, महादेव प्रजापति इत्यादि नाम की व्युत्पत्ति प्रदर्शन पूर्वक जगत् को विष्णुमय कहा गया है। कूर्मपुराण से ज्ञात होता है कि यदुवंश के सत्वत राजा इस धर्म की उन्नति के लिए यथेष्ट सहयोगी थे। सत्वतः अंशु के पुत्र, सत्वत के पुत्र सात्वत, यह नारद से सात्वत धर्म जानकर निरन्तर वासुदेव की अर्चना करते थे।

अथांशोः सत्वतो नाम विष्णु भक्तः प्रतापवान्।
स नारदस्य वचनाद् वासुदेवार्चनान्वितः॥
तस्य नाम्ना तु विख्यातं सात्वतं नाम शोभनं।
प्रवर्त्तते महाशास्त्रं कुण्डादीनां हितावहम्॥
सात्वत स्तस्य पुत्रोऽभूत् सर्वशास्त्र विशारदः।

(इत्यादि कूर्मपुराण के यदुवंश वर्णन में)

इससे ज्ञात होता है कि नारद द्वारा उपदिष्ट यह सात्वत् धर्म अति प्राचीन है।

पांचरात्र मत भी अति प्राचीन है। नारद पांचरात्र में इसकी व्युत्पत्ति है–रात्रञ्च ज्ञान वचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् तेनेदं पञ्चरात्रञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः॥१।१। वासुदेवादि चतुर्व्यूह,

प्रेम एवं भक्ति–इस मत के परम लक्ष्य हैं। महाभारत के मोक्षधर्म में सांख्य, योग, पाशुपतादि के साथ इस पांचरात्र मत का उल्लेख है (मोक्षधर्म ३४९ अध्याय) इस मत में संसार बन्धन से मुक्त होने के लिए पंचविध उपाय हैं-(१) काय वाक्य मन के द्वारा संयम पूर्वक देवमन्दिराभिगमन, प्रातः स्तव, प्रणिपात, भगवदाराधना, (२) पुष्प चयन, पुष्पांजलि प्रदान, (३) भगवत् सेवा, (४) भागवत शास्त्र पाठ, श्रवण, मनन, (५) सन्ध्या, पूजा, ध्यान, धारणा भगवान् में चित्त समर्पण, हयशीर्षादि २५ पांचरात्र का उल्लेख है एवं २५७ पांचरात्र ग्रन्थ है, परमात्मसन्दर्भ–१७ एवं भक्तिसन्दर्भ–२२९ में श्रीजीव गोस्वामिपाद ने पांचरात्र का प्रामाण्य स्वीकार किया है, इस मत के वैष्णवगण गीता, भागवत, शाण्डिल्य सूत्रादि को निज धर्मग्रन्थ मानते हैं।

जयन्त भट्ट ने निज न्याय मंजरी ग्रन्थ में पांचरात्र का प्रामाण्य स्थापन किया है, 'ईश्वर कर्त्तृकत्वस्य तत्रापि स्मृत्युनुमानान्तर सिद्धत्वात् मूलान्तरस्य लोभमोहादेः कल्पयितुमशक्यत्वात्' इस वाक्य से आपने पांचरात्र का ईश्वर कर्त्तृत्व निरूपण किया है। सम्प्रति ब्राह्म, वैष्णव, वाशिष्ट, पाराशर, पारम, विश्वामित्र भारद्वाज, आगस्त्य, आहिर्बुध्न्य, सात्वत एवं नारदीय पांचरात्र उपलब्ध है।

भारत के उत्तर पश्चिम अंचल में ही वैष्णवधर्म की प्रचार भूमि थी, उसके पश्चात् दाक्षिणात्य में इस मत का विस्तार हुआ, गोदावरी, कृष्णा, काबेरी तट में द्राविड़देश में, कृतमाला, ताम्रपर्णी नदी के तट पर वैष्णवगण रहते थे।

भा० ११।५।१९–४० एवं ११।७९।१२–१४ में इसका विवरण है, दाक्षिणात्य भ्रमण के समय श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा ब्रह्मसंहिता एवं कर्णामृत ग्रन्थ द्वय के आनयन से ज्ञात होता है कि वहाँ पर पूर्व से ही वैष्णवधर्म का प्रचार–प्रसार था। आलोयारगण की जीवनी भी इस प्रसंग में आलोच्य है।

आचार्य शंकर ने २।२।४५ में पांचरात्र मत का खण्डन किया है। उनके मत में पांचरात्र मत एवं भागवत मत अवैदिक है, आचार्य रामानुज ने शंकर मत का खण्डन किया है, आचार्य शंकर के बहुकाल पूर्व से ही बोधायन, गुहदेव, द्रमिड़ाचार्य प्रभृति वैष्णव थे एवं उनकी वेदान्त सूत्र की व्याख्या वैष्णव सिद्धान्त सम्मत है। महाभारत में पंचरात्रागम एवं सात्वत विधान का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थ रचित होने के पूर्व से ही इस देश में सात्वत धर्म का प्रचार था।

आनन्दगिरि लिखित शंकरदिग्विजय में छः प्रकार के वैष्णव सम्प्रदाय थे। 'भक्ता भागवताश्चैव वैष्णवा: पाञ्चरात्रिण:। वैखानसा: कर्महीना: षड्विधा वैष्णवा मता:॥' महाभारत रचना के पूर्व श्रीकृष्ण वासुदेव की अर्चना होती थी, किन्तु शंकर दिग्विजय ग्रन्थ में श्रीकृष्ण उपासकों का नामोल्लेख नहीं है।

वैष्णवधर्म का क्रमिक विवरण-

वैदिक युग में वैष्णवधर्म--श्रीविष्णु एवं वैष्णव शब्द का प्रयोग वैदिक युग से ही है। प्राचीनतम ऋक् मन्त्र में ऋषिगण विष्णु की उपासना करते थे, भोगैश्वर्य कामना से एवं विपत्ति में श्रीविष्णु की प्रार्थना एवं उनका स्मरण करते थे। निष्काम भाव से भी कभी उनकी महिमा कीर्तन करते थे, ऋग्वेद के प्रथम मण्डल २२ सूक्त के १६ से २१ ऋक् पर्यन्त तत्कालीन विष्णु आराधना का प्रभाव, प्रसार प्रतिपत्ति का आभास मिलता है। (१) अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे पृथिव्या: साप्त धामभि:। (२) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूलस्य पांसुरे। (३) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य: अतो धर्माणि धारयन्। (४) विष्णो: कर्माणि पश्यत: यतो व्रतानि पस्पसे इन्द्रस्य युज्य: सखा। (५) तद् विष्णो: परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरय: दिवीव चक्षुराततम्। (६) तद् विप्रासो विपण्यवो जागृवांस: समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्। निरुक्ति की टीका में दुर्गाचार्य ने सूर्य को विष्णुनाम से

प्रतिपन्न किया है, किन्तु यह मत सर्वसम्मत नहीं है। कारण वेद विभागकर्त्ता ब्रह्मसूत्र रचयिता व्यासदेव ने विष्णु को सूर्य से पृथक् प्रतिपादन किया है। (गीता-१५।२२) में 'यद्यादित्यगतं तेज स्तत्तेजो विद्धि मामकम्' श्रीनारायण के ध्यान से भी सुस्पष्ट ज्ञात होता है, कि 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलवर्ती नारायणः' इत्यादि। पौराणिक के मत में 'ज्योतिरभ्यन्तरे रूपं द्विभुजं श्यामसुन्दरम्' एतद्व्यतीत आलोच्य ऋक् १।१५६।३।१, १६४।४६, ७।१००।३ एवं तैत्तिरीयक ब्राह्मण २।४।३।५, ९, शाकपुणि, और्णवाम प्रभृति व्याख्याकारों ने भी विष्णु शब्द से विभिन्न अर्थ प्रकाश किये हैं। सायण-वादरायण मतानुयायी हैं, महीधर, शाकपुणि के अनुयायी हैं, उनके मत में अग्नि, वायु, सूर्य-विष्णु के तीन अवतार हैं। वादरायण, महीधर, सायण प्रभृति के मत से ही विष्णु स्वतन्त्र देवता रूप में उपासित होते हैं। सूर्य विष्णु के ही तेज से ज्योतिष्मान् हैं।

ऋग्वेद १ मण्डल १५४ सूक्त के ५-६ ऋक् में विष्णु के बल विक्रम की कथा है। 'विष्णु उरुक्रम उरुगाय' विश्व ब्राह्मण उनके त्रिपाद संचरण स्थान हैं। उनके त्रिधाम मधु-माधुर्य, पूर्ण एवं आनन्दमय हैं, वहाँ पर गो समूह है। तथाहि-तदस्य प्रियमभि पाथो अस्यां लयो देवयन्नो मद्धन्ति। उरुक्रमस्य सहिबन्धुरित्थ्या विष्णोः पदे परमे मध्या उते। तां वां वास्तून्यूश्मसि गमघ्यै यत्र गावो भूरि शृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पद मवभाति भूरि। ये दो मन्त्र वर्हास्फुरितरुचि गोपवेश, विष्णु के माधुर्यमय धाम गोलोक वृन्दावन के माधुर्य प्रदर्शक हैं।

परवर्त्ती समय में श्रीव्यासदेव ने समाधि में स्थित विष्णु की माधुर्यमयी लीला को देखकर श्रीमद्भागवत में वर्णन किया है। वैदिक ऋषिगण भी प्रियतम धाम माधुर्य का उत्स गोलोक में द्रुतगतिशील बहुशृंग धेनुवृन्द को देखकर कृतार्थ हुए हैं। इस मन्त्र में गोलोक धाम प्राप्ति की उत्कण्ठा एवं व्यग्रता प्रकाशित है। ये ऋषिगण उस समय 'वैष्णव' नाम से अभिहित न होने पर भी वैष्णव शब्द से कथन योग्य हैं।

(ऋक् १।२२।१७) मन्त्र में वामनावतार, शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।७) में इसकी विस्तृति, शतपथ (७।४।३।५) में तैत्तिरीयक आरण्यक में (१।१३।३१) कूर्मावतार, तैत्तिरीयक संहिता में (७।१।५।१) तैत्तिरीयक ब्राह्मण (१।१।३।५) में शतपथ (१४।१।२।११) में वराहावतार, ऐतरेय ब्राह्मण में परशुराम, छान्दोग्य उपनिषत् (३।१७) तैत्तिरीयक आरण्यक (१०।१।६) ऋग्वेद खिलसूक्त में देवकीनन्दन वासुदेव, कृष्ण एवं राधा की उक्ति है। अथर्ववेद में (२।३।४।५) विश्वम्भर नाम है, 'विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा' यह ही प्राचीन गौरमन्त्र है। (ऋक् १०।१५५।३) दारुब्रह्म का अपौरुषेयत्व प्रकटित है।

चार वेदों में ही विष्णु की उपासना वर्णित है। विष्णुसूक्त पुरुषसूक्त (१०।९१ प्रभृति ऋक्, अथर्ववेद (१९।१।६) 'न ते विष्णो जायमानौ न जातो देव महिमः परमतमाप।' ऋग्वेद–'आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानः कृष्णेन रजसा द्यामृणोति सविता, कृष्ण रजांसि दधान।' (ऋग्वेद १।३।५१) मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते 'कठ' मन्त्र भागवत में १५० ऋक् मन्त्र के द्वारा श्रीरामकृष्ण लीला की भित्ति वेदमन्त्र में प्रतिष्ठित है, श्रीनीलकण्ठ सूरि ने श्रीमद्भागवतीय दशमस्कन्ध की लीला के सूत्र को वेद ऋग्वेद से प्रतिपादन किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ में भी विष्णु का प्राधान्य है, ऐतरेय ब्राह्मण में (१।५) अग्निश्च ह वै विष्णुश्च देवानां दीक्षापालौ। सायण के मत में–'योऽयमग्निः सर्वेषां देवानां प्रथमः। यश्चविष्णुः सर्वेषाम् उत्तमः। तावुभौ देवानां मध्ये दीक्षाख्यस्य च व्रतस्य पालयितारौ' अग्नि ही सकल देवता के मुखस्वरूप हैं, विष्णु समस्त देवताओं में उत्तम हैं। ये दोनों ही दीक्षा दान के अधिकारी हैं। अतएव यज्ञादि कर्म में विष्णु का प्राधान्य है एवं विष्णु यज्ञेश्वर हैं। श्राद्धतत्त्व में वर्णित है–'यज्ञेश्वरो हव्य समस्त कव्य भोक्ताव्ययात्मा हरिरीश्वरोऽत्रगा॥'

शतपथ ब्राह्मण में विष्णु का प्राधान्य एवं महिमा उक्त है। तत् विष्णुं प्रथमं प्राप, स देवतानां श्रेष्ठोऽभवत्' तस्मादाहः विष्णुः देवतानां श्रेष्ठः। इति १४।१।१ ऐतरेय ब्राह्मण प्रथम पंजिका, तृतीय अध्याय चतुर्थखण्ड में उक्त है, 'वैष्णवो भवति विष्णुर्वै यज्ञः स्वयैवेनं तद्देवताया स्वेनच्छन्दसा समर्द्धयति।' विष्णु ही साक्षात् यज्ञमूर्ति हैं, याज्ञिकगण ही वैष्णव हैं। विष्णु स्वयं ही स्वेच्छा से ही दीक्षित वैष्णव को सम्बर्द्धित करते हैं। 'विष्णुर्देवता यस्य स वैष्णवः।' इस प्रकार से ही वैदिक साहित्य में वैष्णवपद का प्रयोग हुआ है। पाणिनि से (४।२।२४) 'सास्य दैवता' इस अर्थ में वैष्णव शब्द की व्युत्पत्ति मिलती है।

इस प्रकार अन्यान्य ब्राह्मणों में भी विष्णु की श्रेष्ठता स्थिरीकृत हुई है। सुतरां ब्राह्मण ग्रन्थ प्रचलन के समय में इस देश में वैदिक वैष्णवों का प्रभाव, प्रादुर्भाव एवं प्रतिपत्ति थी।

उपनिषत् में भी विष्णु का माहात्म्य कीर्तित है- (१) विष्णुर्योनिं कल्पयतु (वृहदारण्यक ६।४।२१), (२) शंनो विष्णु रव्ययक्रमः (तैत्ति० १।१।१), (३) तद्विष्णोः परमंपदं (कठ ३।९।२, मैत्री ६।२६), (४) तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्, महानारा०(३।६), (५) स एव विष्णुः स प्राणः कैवल्यः), (६) यश्च विष्णु स्तस्मै नमो नमः (नृसिंहोत्तर), (७) विष्णुश्च भगवान् देवः ब्रह्मविन्दु), (८) य एव वेद स विष्णुरेव भवति (नारायण), (९) छान्दोग्य ३।१७।६) कृष्णाय देवकी पुत्राय। (११) आदित्यानामह विष्णुः (गीता १०।२१), यह सब उपनिषत् व्यतीत गोपालतापनी, रामतापनी, कृष्णोपनिषत्, महोपनिषत्, वासुदेवोपनिषत्, हयग्रीवोपनिषत् एवं गारुड़ोपनिषदादि वैष्णव साम्प्रदायिक हैं।

शतपथ ब्राह्मण में नारायण नाम अथर्व वेदान्तर्गत वृहन्नारायणोपनिषत् में हरि, विष्णु, वासुदेव नाम हैं। महोपनिषत् में नारायण ही परंब्रह्म अथर्व शिरः उपनिषत् में-देवकी पुत्र, मधुसूदन, नारायणोपनिषत् में (३) ब्रह्मण्यो देवकी पुत्र प्रभृति

नाम है। साम्प्रदायिक उपनिषत् समूह अपेक्षाकृत अप्राचीन होने पर भी वे सब पाणिनि के पूर्व रचित हुई हैं। 'जीविकोपनिषदावौपम्ये' पाणिनि (१।४।७८), भट्टोजी दीक्षितकृत व्याख्या से विदित है कि–एक श्रेणी के ब्राह्मण उसकी रचना करते थे और जीविका निर्वाह करते थे, उपनिषत्कृत्य। अर्थ उपनिषत् सदृश ग्रन्थ करणान्तर यह अर्थ सर्ववैयाकरण सम्मत है, 'उपनिषत्तुल्य' शब्द प्राचीन उपनिषत् की सत्ता मिलती है, पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः (पाणिनि ४।३।११०) इससे ज्ञात होता है कि वेदान्तदर्शन के बीजभूत उपनिषत् के अवलम्बन से रचित भिक्षुसूत्र है, इसको पाणिनि जानते थे। (पाणिनि ४।३।९८।९९) सूत्र में भी वासुदेव शब्द भगवत् पर ही प्रयोग हुआ है, यह पाणिनि की सूचना है।

पाणिनि के पूर्वतन यास्क निरुक्ति (३।२।६), 'इत्युपनिषद्वर्णा भवति' इस उक्ति से उपनिषत् शब्द की प्राचीनता सूचित होती है। सुतरां प्रागुक्त उपनिषत् की प्राचीनता में सन्देह करना उचित नहीं है, तब स्वीकारना होगा कि सभी उपनिषत् वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। जो ग्रन्थ प्राप्य है वह उपनिषत्तुल्य है, किन्तु तैत्तिरीय संहिता के अन्तर्गत नारायणोपनिषत् अति प्राचीन है।

वेद एवं गौड़ीय वैष्णवधर्म–

श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, परिकर कर्मजड़ निर्विशेष ज्ञानी के मत में गौण एवं अनित्य हैं, किन्तु वेद में सुस्पष्ट रूप से उनका नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। फलतः गौड़ीय वैष्णवधर्म का अचिन्त्य भेदाभेदवाद भी वेद की परम मुख्यावृत्ति से ही समर्थित है, गौड़ीय वैष्णव भजन में नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है उसके सम्बन्ध में (ऋग्वेद १।१५६।३) ॐ आस्य जानन्तो नामचिद् विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे, ॐ तत् सत्। श्रीजीव गोस्वामीपाद की व्याख्या–'हे विष्णो ! आपका नाम चित्स्वरूप है, स्वप्रकाश है। सुतरां नाम के सम्यक् उच्चारणादि–माहात्म्य न जानकर भी, ईषन्मात्र जानकर भी

नामाक्षर का अभ्यास करने से हम सुमति स्तद्विषयक विद्या भजन रहस्य प्राप्त करेंगे। कारण प्रणव व्यंजित वस्तु स्वतः सिद्ध है, अतएव भय, द्वेषादि स्थल में भी श्रीमूर्ति की स्फूर्ति होती है, अतः 'सांकेत्य' प्रभृति स्थल में नामोच्चारण मु[illegible]तप्रद है। भगवद्संदर्भ-४९।

लीलाधाम परिकर के सम्बन्ध में-

(ऋक् १।५४।६) तां वां वास्तून्यश्मसि इत्यादि, व्याख्या- श्रीकृष्ण-बलदेव की वास्तु लीलाभूमि प्राप्ति के लिए कामना करता हूँ। वहाँ पर बहु श्रृंग शुभ लक्षण कामधेनु रहती हैं, इस भूमि में लोक वेद प्रसिद्ध सर्वकाम परिपूरक चरणारविन्द श्रीकृष्ण के प्रपंचातीत गोलोक नामक परमपद धाम सुप्रकाशित हैं। यजुर्वेद माध्यन्दिनीशाखा में धाम का नित्यत्व प्रतिपादित है, या ते धाम-'न्युश्मसीत्यादौ विष्णोः परमंपदं वभाति भूरि॥' पिप्पलाद शाखा में-'यत्तत् सूक्ष्मं परमं वेदितव्यं नित्यपदं वैष्णव ह्यामनन्ति' इत्यादि। ऋग्वेद में १।२२।१६४-३१), अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्॥ इत्यादि में श्रीकृष्ण लीला की नित्यता प्रतिपादित है। इस प्रकार रूप, गुणादि भी नित्य हैं, उसका प्रमाण वेद संहिता में है।

'उपनिषत्' शब्द का विविध अर्थ-

(१) जिससे ब्रह्मेत्तर विषय में आसक्ति नष्ट होती है।
(२) जिससे पाप, पाप बीज, अविद्या उन्मूलित होती है।
(३) जिससे निःसंशय से ब्रह्म सामीप्य लाभ होता है, वह ही उपनिषत् शब्द वाक्य है। रूढ़ि, योग, योगरूढ़ि, महायोग, विद्वद्रूढ़ि, इन पंच मुख्य शब्दवृत्ति से उपनिषत् शब्द द्वारा उपगम्य, उपगन्ता एवं उपगमन, यह त्रिविध वस्तु क्रिया निर्दिष्ट होकर जीव एवं ब्रह्म का नित्य अवस्थान एवं उनके नित्य सम्बन्ध का बोध होता है। नामात्मक शब्द ब्रह्म के मध्य में रूप, गुण, क्रिया, स्वरूपादि अन्तर्भुक्त है। उपगन्ता जीव की उपगम्य भगवान्

के निकट उपगमन क्रिया, एकमात्र श्रवण के द्वारा ही साधित होती है, आत्मा वा अरे दृष्टव्य:, श्रोतव्य:, श्रवण से कीर्तन होता है, श्रीमद्गौरांगदेव का भी अभिप्रेत अभिधेय श्रवण–कीर्तन ही है।

श्रीगौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त में आम्नाय वाक्य ही प्रमाण रूप में गृहीत है। श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणपाद ने नव–प्रमेय रूप में उसका प्रकाश किया है। आम्नाय वाक्य का मौलिक प्रमाणत्व एवं ब्रह्म सम्प्रदाय का सनातनत्व के सम्बन्ध में (मुण्डक १।१।१, १।२।१३), उपनिषत् में–'ब्रह्मा देवानां प्रथम: सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।' (वृहदारण्यक २।४।१०) अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदाथर्वाङ्गिरस इतिहास: पुराणं विद्या उपनिषद: श्लोका: सूत्राण्यनुव्याख्यानानि सर्वाणि नि:श्वसितानि॥

श्रीकृष्ण ही परतत्त्व–(गोपालतापनी) 'तस्मात् कृष्ण एव परोदेव स्तं ध्यायेत्तं रसेद्' इत्यादि, एकोवशी सर्वग: कृष्णईड्य:। (छान्दोग्य ८।१३।१) 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये' (छान्दोग्य ८।१।२) मन्त्र में ब्रह्मपुरे पद्म पुष्प सन्निभ धाम का इंगित है। (ब्रह्मसंहिता ५।२) सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदं तत् कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश सम्भवम्। श्वेताश्वतर उपनिषत् में (३।८,१६,१९,४।५।४।२०,६।७) प्रभृति में श्रीभगवान् का स्वत: प्रकाशत्व, प्रकृत्यतीतत्व, श्रेष्ठतत्व, सर्वशक्ति सम्पन्नत्व, सर्वव्यापित्व अविचिन्त्य शक्तिमत्त्व प्रभृति प्रतिपादित हैं। (तैत्तिरीय २।७) अनुवाक रसो वै स:, इत्यादि में श्रीकृष्ण को ही अखिल रसामृत समुद्र कहा गया है। (छान्दोग्य ७।२५।२) में जीव भगवान् को सर्वस्व रूप में यदि जानता है, तो वह आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन आत्मानन्द एवं स्वराट् हो सकता है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद में वेदान्त की उभयनिष्ठ श्रुति समूह के युगपत् प्रामाण्य स्वीकृत हुआ है, यथा-

(१) अभेद पक्ष में सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दोग्य ३।१४।१) आत्मैवेदं सर्वमिति (७।२५।१) स देव सौम्येदमग्र आसीत् (६।२।१) इत्यादि।

भेद पक्ष में ब्रह्म विदाप्नोति परम्। (तैत्तिरीय २।१) महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति (क० १।२) यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तै आ १ अनु) यस्मात् परं नापरमस्ति किंचित् (श्वेताश्वतर ३।९) प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेश: (श्वेताश्वतर ६।१६) तस्यैष आत्माविवृणुते तनुंस्वां (कठ० २।२३, मु० ३।२), नित्यो नित्यानां (कठ० २।२३) अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु। (वृहदारण्यक २।५।१४) इत्यादि।

पौराणिक युग में वैष्णवधर्म

महाभारत के मोक्षधर्म अध्याय में नारायणीय नामक अर्न्तध्याय है। यह सब अध्यायों में प्राचीनकाल के नारायणोपासक वैष्णवगण की विवृत्ति है, शान्तिपर्व के ३३५ अध्याय में १७।१९ श्लोक में उपरिचर राजा के इतिवृत्त से ज्ञात है कि आप नारायण के परम भक्त थे। आप सूर्यमुख विनि:सृत सात्वत विधि के अनुष्ठान द्वारा पूर्व ही नारायण की एवं उनकी प्रसादी वस्तु के द्वारा पितामह ब्रह्मा प्रभृति की पूजा किया करते थे। सात्वत शब्द में टीका की, नीलकण्ठ सूरि ने लिखा है-'सात्वतानां पांचरात्राणां हितं।' (शान्तिपर्व ३२५।२५) पांचरात्र मुख्य ब्राह्मणगण भागवत प्रोक्त भोज्यादि का ग्रहण करते थे। महाभारत के उस विवरण से ज्ञात होता है कि-सात्वत विधान ही प्राचीन वैष्णव मत है। मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वशिष्ठ यह सप्तर्षि चित्र शिखण्डी नाम से विख्यात एवं सात्वत विधि का प्रवर्त्तक है, उपरिचर राजा वृहस्पति के निकट से यह चित्र शिखण्डिज

शास्त्राध्ययन किये थे एवं उसके अनुसार याग-यज्ञादि का अनुष्ठान भी करते थे। शान्तिपर्व से ३३७।३-५ से जाना जाता है कि 'अजेन यष्ठव्यमिति' इस वाक्यस्थ अज शब्द छाग का बोधक न होकर बीज का बोधक है। नीलकण्ठ टीका में 'यदा भगवतोऽत्यर्थमित्यादिरध्यायो वैष्णवानां हिंस्र यज्ञ वर्जनार्थः' इत्यादि द्रष्टव्य। ३४६ अध्याय में (४७) 'भक्त्या परमया युक्तैर्मनो वाक् कायकर्मभि स्तदा' एवं (६४) 'नारायणो नरोभूत्वा नारायण जपं जपन्' इन दोनों वचनों में जो भक्ति की बात कही गयी है, यह भक्ति ही वैष्णवधर्म की उपासना का प्रधान वैशिष्ट्य है, यह ही सात्वत विधि है, स्वयं श्रीभगवान् ही इस धर्म के आदि उपदेष्टा हैं। (महाभारत शान्ति ३३५।३४-३४), श्रीमद्भागवत में भी सात्वत तन्त्र के प्रकाश के सम्बन्ध में पौराणिक इतिहास है। (भा० १।३।९) तृतीय ऋषिसर्ग में श्रीनारद रूप में निष्कर्ष लक्षण 'सात्वततन्त्र' प्रकाश किया था। उक्त श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामी कहते हैं-'सात्वतं वैष्णवतन्त्रं पंचरात्रागममाचष्ट' सात्वतधर्म को श्रीमद्भागवत में श्रीभागवतधर्म भी कहा गया है। स्वयं भगवान् ने ब्रह्मा के निकट पूर्व में भागवतधर्म उपदेश किया था। ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को इस प्रकार परम्परा क्रम से यह धर्म चला आ रहा है। (भा० २।९।४२।४३) तृतीय स्कन्ध की टीका के प्रारम्भ में श्रीधरस्वामी ने भागवत सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के विषय में कहा है- 'द्वेधा हि भागवत सम्प्रदाय प्रवृत्तिः, एकतः संक्षेपतः श्रीनारायणाद् ब्रह्मनारदादिद्वारेण, अन्यतस्तु विस्तरतः शेषात् सनत्कुमार सांख्यायनादिद्वारेण।' षष्ठ स्कन्ध में (३।२०-२१) ब्रह्मा, रुद्र, सनत्कुमार प्रभृति द्वादशजन ही भागवत धर्मवेत्ता हैं।

इससे प्रमाणित हुआ कि प्राचीनतमकाल से ही यह वैष्णवधर्म, सात्वतधर्म, भागवतधर्म एवं पांचरात्रधर्म नाम से अभिहित है। सात्विक पुराणों की आलोचना करने पर इस धर्म का विस्तृत विवरण मिलता है। सुतरां पुराणादि सम्मत सात्वतधर्म,

अवैदिक नहीं है, आधुनिक भी नहीं है, पुराण समूह भी श्रुति सम्मत ही है, इसमें ब्राह्मण ग्रन्थ समूह में प्रमाण है। मध्य भारत में ग्वालियर की दक्षिण सीमांत के वेस नगर में १९०-९ ई० में जो शिलालिपि मिली थी, उसका कुछ अंश इस प्रकार है-'देव देवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं कारिते इय होलिओडोरेण भागवतेन दियन पुत्रेण तक्षशिलाकेन योन दातेन आगतेन अन्त महाराजस अन्तलिकितस उपन्ता।' यह गरुड़ध्वज-तक्षशिला निवासी भागवत होलिओडोर के द्वारा उत्सृष्ट हुआ। इससे ई० पूर्व १७५ से १३५ तक ग्रीकनरपति का राजत्वकाल का निश्चय होता है। अतएव खृष्ट पूर्व बहुकाल से ही श्रीकृष्ण-वासुदेव की उपासना होती थी। खृष्ट पूर्व १५० अब्द के पतंजलि के महाभाष्य में उपास्य वासुदेव की कथा है। बोधायन धर्मसूत्र के पूर्व भी दामोदर-गोविन्द की उपासना होती थी एवं त्रिविक्रम, वामन, विष्णु, वासुदेव रूप में पूजित होते थे। ई० ७०० वर्ष में भी वैष्णवधर्म का अस्तित्व था। इस समय श्रीवासुदेव के चरण-चिह्न की उपासना होती थी। बुद्ध के पद-चिह्न स्थापन के पूर्व गया धाम में श्रीविष्णु पादपद्म की पूजा होती थी, यास्कोद्धृत ऊर्णवाभ के समारोहण में विष्णुपदेगयशिर सीत्यौर्णवाभः वचन से वह प्रमाणित होता है।

बौद्धधर्म प्रचार के पूर्व भी वैष्णवधर्म का प्रसार था, उसका प्रमाण यह है, अदोयद् दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्। तदा रभस्य दुर्हणोतेन गच्छ परस्तरम्। (ऋग्वेद १०।१५५।३) सायनाचार्य कृत भाष्यम् अदो विप्रकृष्टदेशे वर्त्तमानपुरुष निर्मात्रा पुरुषेण रहितं, यद् दारु दारुमयं पुरुषोत्तमाख्यं देवता शरीरं सिन्धोः पारे समुद्रतीरे प्लवते जलस्थोपरि वर्त्तते तद्दारु हे दुर्हणो दुःखेन हननोय केनापि हन्तुमशक्य। हे स्तोतराररभस्व आलम्वस्व उपास् स्वेत्यर्थ तेन दारुमयेण देवनोपास्य मानेन परस्त रमतिशयेन तरणीयमुत्कृष्टं वैष्णवं लोकं गच्छ अर्थात् अनादिकाल से जो अपौरुषेय दारुमय पुरुषोत्तमदेव समुद्र तट में विराजमान

हैं, उनकी उपासना से ही सर्वोत्कृष्ट वैष्णवधाम में प्रगति होती है, उक्त मन्त्र सूचित करता है कि अनादिकाल से ही श्रीजगन्नाथदेव की उपासनादि प्राप्त है।

वर्तमान वैष्णव-सम्प्रदाय

पद्म पुराण एवं गौतमीयतन्त्र में उक्त है, वैष्णव-सम्प्रदाय चार हैं, अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वार सम्प्रदायिनः। 'श्रीब्रह्म रुद्र सनकाः वैष्णवाः क्षिति पावनाः।' कलियुग में श्रीब्रह्म, रुद्र, सनक नामक चार सम्प्रदाय क्षिति पावन होंगे। यह सम्प्रदाय सम्प्रति आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, 'रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः, श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः।' श्रीरामानुज को, ब्रह्मा श्रीमध्वाचार्य को, रुद्र श्रीविष्णुस्वामि को एवं चतुःसन श्रीनिम्बार्क को निज-निज सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रूप में अंगीकार किया है। भारतवर्ष में सम्प्रति चार-सम्प्रदाय ही दृष्ट होते हैं। किन्तु श्रीगौरांगदेव मध्वाचार्य सम्प्रदाय भुक्त होकर भी वैष्णवधर्म का अभिनव समुज्ज्वल सिद्धान्त प्रकट किये हैं। समग्र बंग उड़ीसा में इस सम्प्रदाय की विस्तृति है। श्रीराजेन्द्रनाथ घोष कृत आचार्य शंकर एवं रामानुज ग्रन्थ की ८९३ पृष्ठा में लिखित है-रामानुज पांचरात्र सम्प्रदाय के शिष्य हैं, गौड़ीय वैष्णव मार्ग भागवत सम्प्रदाय सम्मत है, रामानुज अद्वैतवाद के विरुद्ध में महासंग्राम करके निज पांचरात्र मत का उद्धार किया है, अप्रतिहत गति से उसकी उन्नति होने पर भी गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त के तुल्य जगत् को कोई अमृतमय सिद्धान्त प्रदान करने में श्रीरामानुज भी समर्थ नहीं हुए। मध्वाचार्य मत को प्राचीन भागवत मत कहा जा सकता है, किन्तु वह भी गौड़ीय सम्प्रदाय की भाँति उत्कर्ष प्राप्त करने में असमर्थ रहा। यह भक्ति सिद्धान्त कुमुदिनी श्रीमन्महाप्रभुरूप पूर्णशशि की किरण से सुजला सुफला सस्य श्यामला बंगभूमि की स्वच्छ सलिला स्निग्धसरसी के मध्य में प्रस्फुटित हुई है अथवा कहा भी जा सकता है कि उस पूर्णचन्द्र की स्निग्धोज्ज्वल ज्योति में अन्य मत समूह निर्मल गगन में तारका

के समान विलीन हो गये हैं। इसलिए पांचरात्र अथवा प्राचीन भागवत की अवश्यम्भावी गति सागर में नदी की भाँति गौड़ीय सम्प्रदाय के मध्य में है, अन्यत्र नहीं है। उसके पश्चात् गौड़ीय सम्प्रदाय भागवत अथवा पांचरात्र मत को आश्रय कर निजस्व भक्ति सिद्धान्त स्थापन किया है, आप पांचरात्र एवं भागवत उभय मत के सामंजस्य की रक्षा करके भक्तितत्त्व के अपूर्व सिद्धान्त में उपनीत हुए हैं।

श्रीसम्प्रदाय एवं विशिष्टाद्वैतवाद

यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य से ही श्री सम्प्रदाय का समधिक प्रसार एवं प्रतिपत्ति लाभ हुआ है। तथापि इसके पूर्व बोधायन, द्रविड़, टंक, गुहदेव, शठकदमन, नाथमुनि एवं यामुनाचार्य प्रभृति प्राचीन मनस्वीगण विशिष्टाद्वैतवाद का ही समर्थन एवं पुष्टि साधन किये हैं, यह मत श्रीरामानुज कल्पित नहीं है, किन्तु उन्होंने इस मत को प्रमाण एवं युक्ति के द्वारा सुप्रतिष्ठित किया है। अविसंवादित सत्य यह है कि आचार्य शंकर के प्रतिद्वन्द्वी रूप में श्रीरामानुज का स्थान ही सर्वोच्च है, श्रीरामानुज के अभिमत सिद्धान्त का नाम ही विशिष्टाद्वैतवाद है। विशिष्ट अर्थ–चेतन एवं अचेतन विशिष्ट ब्रह्म, द्वैत का अर्थ भेद, अद्वैत का अर्थ अभेद अथवा एकत्व मिलित अर्थ यह है कि–चेतन अचेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म का अभेद अथवा एकत्व निरूपक सिद्धान्त। किसी के मत में ब्रह्म दो प्रकार हैं, एक स्थूल चेतना चेतन विशिष्ट, अपर सूक्ष्म चेतना चेतन विशिष्ट इस उभयविध ब्रह्म का अद्वैत अथवा एकत्व प्रतिपादक सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैतवाद है। इस मत में पदार्थ तीन प्रकार हैं-(१) चित्, जीव, (२) अचित्, जड़, (३) ईश्वर। 'ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थ त्रितयं हरिः॥' ये तीन पदार्थ तत्त्वत्रय नाम से प्रसिद्ध हैं, उसके मध्य में चित् अनन्त जीवात्मा, अचित् जड़ जगत् एवं निखिल कल्याण–गुणगणाकर सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वप्रकाश जगत् प्रभु वासुदेव ही ईश्वर हैं। यह तीन ही पुरुषोत्तम श्रीहरिः के रूप हैं। विष्णु पुराण के 'जगत् सर्व

शरीरं ते' इस वचन से ही अनन्त जीव जगत् उनका ही शरीर है, यह प्रमाणित हुआ। तत्त्वत्रय के समर्थन के लिए रामानुज भाष्य में निम्नलिखित सिद्धान्त निचय को स्वीकार किये हैं। (१) स्थूल सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म का एकत्व। (२) द्वैत एवं अद्वैत श्रुति का विरोध। (३) ब्रह्म का सगुणत्व, विभुत्व प्रभृति सविशेष मात्र। (४) ब्रह्म का निर्गुणत्व निर्विशेषवाद का खण्डन। (५) जीव का अणुत्व, ब्रह्मस्वभावत्व, सेवकत्व। (६) जीव का बन्ध उसका कारण अविद्या। (७) जीव का मोक्ष उसका उपाय विद्या। (८) उपासनात्मक भक्ति का श्रेष्ठत्व, मोक्षसाधनत्व। (९) मोक्ष दशा में जीव की ब्रह्मभाव प्राप्ति का निरसन। (१०) शंकराभिमत मायावाद खण्डन। (११) अनिर्वचनीयतावाद खण्डन। (१२) जगत् तुच्छत्व खण्डन, सत्यतास्थापन। (१३) जीव एवं जगत् का ब्रह्म शरीरत्व निरूपण प्रभृति।

आचार्य श्रीरामानुज ने श्री भाष्य में श्रुति स्मृति युक्ति अनुभवादि के द्वारा उक्त विषय समूह की उत्तम आलोचना एवं मीमांसा करके स्वाभाविक विशिष्टाद्वैतवाद की विशिष्टता प्रतिपादन की है। बौद्ध प्रभाव के समय ही आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ था। सुतरां बौद्ध विजय में आपको रत होना पड़ा, किन्तु श्रीरामानुज का समय उससे भिन्न था, आचार्य शंकर ही उनका एकमात्र प्रतिपक्ष था। उनके मत खण्डन में आपने असीम शक्ति एवं साहस का परिचय दिया है। शंकर भाष्य सरल, मधुर एवं गम्भीर चित्ताकर्षक है, रामानुज भाष्य अधिकतर सूत्रानुसारी तथा समीचीन है। निज मत स्थापन में कष्ट-कल्पना शंकर को करनी पड़ी, रामानुज निज मत समर्थन के लिए क्लेश कर कल्पना नहीं की है। रामानुज की विचार-मल्लता, भावप्रवणता अधिक है, भाषा सौष्ठव अल्प है। भाषा अतिशय जटिल है। विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'आचार्य शंकर एवं रामानुज' श्रीराजेन्द्रनाथ घोष कृत ग्रन्थ देखना आवश्यक है।

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषितकी श्वेताश्वतर–यह द्वादश उपनिषत् ही प्रस्थानत्रय के अन्तर्गत सर्वमान्य है। प्रस्थानत्रय का अर्थ– उपनिषत्, वेदान्तसूत्र, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता है, यह क्रमशः–श्रुति प्रस्थान, न्याय प्रस्थान, स्मृति प्रस्थान शब्द से कहते हैं, इसमें प्रत्येक वेदान्त के लिए भाष्य रचना करना आवश्यक है।

एक ब्रह्म, उपासक भेद से जिस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रकाशित होते हैं, तद्रूप एक ही वेदान्त भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के ज्ञान, बुद्धि, पांडित्य कौशल से भिन्न–भिन्न रूप से प्रकाशित हैं, शंकर एवं रामानुज के पूर्व यहाँ तक कि ब्र सूत्र संग्रह के पूर्व भी वेदान्त सम्बन्ध में ऋषियों में मतभेद था। आत्रेय।, आश्मरथ्य: औडुलोमि कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, वादर प्रभृति ऋषिगण प्रधान–प्रधान वेदान्त सिद्धान्त में एकमत नहीं हैं। (ब्रह्मसूत्र १।४।२०–२०, ४।३।७।१२,१४।४।४।५७) सूत्र दृष्टव्य।

अतएव शंकर एवं रामानुज भिन्न–भिन्न सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक नहीं हैं, इसके पूर्व ही वह मत आपने उक्त मत का प्रचार–प्रसार ही किया है। शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य प्रभृति प्रस्थानत्रय में भाष्य रचना की है, शंकर शारीरिक भाष्य, रामानुज भाष्य, वल्लभाचार्य कृत अनुभाष्य, श्रीमध्वाचार्य द्वैतभाष्य पूर्णप्रज्ञ दर्शन, निम्बार्क वेदान्त पारिजात सौरभ, श्रीबलदेवविद्याभूषण कृत गोविन्द भाष्य, श्रीहरिदासशास्त्रि कृत भागवत भाष्य विद्यमान है, एतव्यतीत विज्ञान भिक्षु कृत विज्ञानामृत भाष्य, श्रीकण्ठाचार्य कृत शैव भाष्य एवं पंचानन तर्करत्न कृत शक्ति भाष्य भी है। पाणिनि कृत ४।३।१४० में पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयो: एवं सुपद्म व्याकरण कर्मन्दपाराशर्य्याभ्यामिन् भिक्षु सूत्रे (रामानुजीय गीता भाष्य १३।४) इस सूत्रद्वय से जाना जाता है कि पाराशर कमन्द उभय ने ही पृथक्–पृथक् भिक्षुसूत्र की रचना की थी। भिक्षु शब्द से संन्यासी अर्थ होता है। (भा० ७।१७।३, ७।११।८) श्लोक में भिक्षु की कर्तव्यता निर्दिष्ट है।

वेदान्तदर्शन के चार पाद में सूत्र संख्या ५५८ है, समन्वय अविरोध, साधन फल, चार पादों में वर्णित है। प्रत्येक पाद में चार अध्याय हैं, शांकरदर्शन का तात्पर्य है–'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मै नापरः।' रामानुज ब्रह्म को चिद्चिद विशिष्ट कहते हैं, यह विशेष पदार्थ भी ब्रह्म का शरीर है एवं नित्य है, रामानुज के ब्रह्म निखिल कल्याण द्रव्य कर्म गुण विशिष्ट वासुदेव हैं।

'वासुदेवः परंब्रह्म कल्याण गुणसंयुतः। भुवनानामुपादानं कर्त्ता जीवनियामकः।' ध्यान एवं भक्ति के द्वारा ही वासुदेव लभ्य हैं। 'ध्यानञ्च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृति संतान रूपा ध्रुवानुस्मृतिः। भक्तिः निरतिशयानन्दप्रियानन्य प्रयोजन सकलेतरवितृष्णवद् ज्ञान विशेष एव।' (गीताभाष्य)

शंकर एवं रामानुज दोनों ही अद्वैतवादी हैं। सांख्य के समान प्रकृति पुरुषवादी नहीं है, न्याय वैशेषिक के समान अनेक पदार्थवादी भी नहीं हैं, शंकर–चिन्मात्रवादी हैं, रामानुज चिद्चिद विशिष्ट ब्रह्मवादी हैं। शंकर के मत में चिदेक रस ब्रह्मभिन्न सकल पदार्थ मिथ्या हैं, इन्द्रजालवत् प्रतीयमान है, रामानुज भी सर्वब्रह्ममय स्वीकार करते हैं, किन्तु ब्रह्म सजातीय–विजातीय भेद रहित होने पर भी स्वगत भेदयुक्त हैं, शंकर के मत में जगत् मायाकल्पित है, रामानुज के मत में वास्तव है, शंकर का ईश्वर, माया शवलित है, रामानुज के ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वकर्त्ता हैं। शंकर के मत में माया उपाधि व्यतीत जीव एवं ब्रह्म में भेद नहीं है। रामानुज के मत में प्रत्येक जीव ही चित्कण एवं ब्रह्म के अंश स्वरूप हैं, इन सभी की पृथक् सत्ता है एवं चिरकाल ही रहेगी। शंकर की मुक्ति ब्रह्म कैवल्य है, रामानुज के मत में भगवद्धाम में नित्य प्रतिष्ठा ही मुक्ति है। शंकर की भाँति रामानुज, सगुण–निर्गुण भेद से दो प्रकार ब्रह्म नहीं मानते हैं। शंकर विवर्त्तवादी, रामानुज परिणामवादी हैं।

श्रीरामानुजीय मत में भगवान् पंचरूप में आत्म प्रकट करते हैं-(१) अर्चा, प्रतिमा, विभव, मत्स्यादि अवतार। (३) व्यूह वासुदेव, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध। (४) सूक्ष्म, वासुदेवाख्य परंब्रह्म (५) अन्तर्यामी। इन सबमें छः गुण विद्यमान हैं, विजर, विमृत्यु विशोक, विजिघित्सा (क्षुत् पिपासाभाव) सत्य काम, सत्य संकल्प उपासना भी पाँच प्रकार की हैं। (१) अभिगमन, देवतागृह पथमार्जन अनुलेपनादि। (२) उपादान, पूजोपकरणादि आहरण। (३) इज्या-भगवत् पूजा। (४) स्वाध्याय-अर्थ बोधपूर्वक मन्त्र जप, वैष्णवसूक्त, स्तोत्र पाठ, नामसंकीर्त्तन शास्त्राभ्यासादि। (५) योग-ध्यान धारणा समाधि। फल वैकुण्ठ प्राप्ति।

(१) इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ समूह

श्रीभाष्य, द्रमिड़ भाष्य, न्यायसिद्धि, सिद्धित्रय, श्रुत प्रकाशिका वेदान्तविजय, तत्त्वत्रय, गीता भाष्य इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं। रामानुज की शाखा में प्रसिद्ध शाखा-(१) रामानन्दी। (२) कबीरपन्थी। (३) खाकि। (४) मलूकदासी। (५) दादुरपन्थी। (६) रैदासी। (७) सेनपन्थी। (८) रामसनेही, यह सबही रामोपासक हैं। श्री सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा भक्तमाल की दशममाला में वर्णित है।

(२) श्रीमध्वाचार्य एवं द्वैतभाष्य

आनन्दतीर्थ अथवा पूर्णप्रज्ञ मध्वाचार्य के नामान्तर हैं, आप द्वैतभाष्य के प्रवर्त्तक हैं, इनके ब्रह्मसूत्र भाष्य में दार्शनिक तत्त्व की प्रगाढ़ आलोचना न होने पर भी अनुभाष्य में पांडित्य की पराकाष्ठा दिखायी देती है। आनुमानिक द्वादश शक शताब्दी में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। आप जीव का अणुत्व, दासत्व, वेद का अपौरुषेयत्व, स्वतः प्रामाण्यत्व, प्रमाणत्रय, पंचरात्र उपजीव्यत्व प्रभृति विषयों में श्रीरामानुज के साथ प्रायशः एकमत होने पर भी रामानुज के तत्त्वत्रय के साथ एकमत नहीं हैं। आपके मत में तत्त्व पदार्थ दो हैं, तत्त्व विवेक, स्वतन्त्रमस्वतन्त्रञ्च द्विविधं तत्त्वमिष्यते। स्वतन्त्रो भगवान् विष्णु निर्दोषोऽशेष सद्गुणः।

सर्वदर्शन संग्रह में उक्त है–परमेश्वर जीव से भिन्न है, कारण आप सेव्य हैं, जो जिसके सेव्य हैं, वह सेवक से भिन्न होते हैं, जैसे भृत्य से राजा भिन्न होते हैं, 'परमेश्वरो जीवाद् भिन्नः, तं प्रति सेव्यख्यात्। यो यं प्रति सेव्यः स तस्माद् भिन्नो यथा भृत्याद् राजा।' शाकल्यसंहिता परिशिष्ट एवं तैत्तिरीय उपनिषत् से द्वैतवाद समर्थक श्रुति का उद्धार आपने किया है, इस सम्प्रदाय के मत में भेद पंचविध हैं। (१) जीवेश्वर भेद। (२) जड़ेश्वर भेद। (३) जीव–जीव भेद। (४) जड़ जीव में भेद, जड़–जड़ में भेद। जीवेश्वरभिदा चैव जड़ेश्वरभिदा तथा। जीवभेदो मिथश्चैव जड़ जीवभिदा तथा। मिथश्च जड़भेदो यः प्रपंचो भेद पंचकः। सोऽयं सत्योऽप्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्। विष्णुतत्त्व निर्णय।

श्रीमन्मध्वरचित ब्रह्मसूत्र भाष्य तीन हैं। (१) श्रीमद्ब्रह्मसूत्र भाष्यम् अथवा सूत्र भाष्यम्। यह भाष्य सर्वापेक्षा वृहत् है, इसमें श्रुति, स्मृति, पुराण, पंचरात्रादि के प्रमाणों से श्रीव्यासदेव के समस्त सूत्रों को शुद्धद्वैत सूत्र से ग्रथित किया गया है, अन्य मत का इसमें स्पष्टतः खण्डन नहीं है, केवल श्रुति, स्मृति प्रमाण द्वारा सिद्धान्त संगति को दर्शाया गया है। (२) अनुव्याख्यानं अथवा अनुभाष्यम् यह श्लोकाकार से निबद्ध है। इसमें पूर्वाचार्य के मतवाद को खण्डन कर स्वमत स्थापित हुआ है। (३) अणुभाष्यम्– चतुरध्यायात्मक ब्रह्मसूत्र के प्रत्येक अधिकरण का तात्पर्य इसमें श्लोकाकार से गुम्फित हुआ है। गीताभाष्य में आचार्य मध्व के मतवाद का वर्णन संक्षिप्त रूप में महाभारत तात्पर्य में मायावाद की अस्तारता प्रतिपादित है। भाष्य में उद्धृत ब्रह्म तर्क के श्लोक से अचिन्त्य भेदाभेदवाद का इंगित सुस्पष्ट है। नारायण में अवयवी अवयव समूह, गुणी गुण समूह, शक्तिमान् शक्ति, क्रियावान् क्रिया, अंशी अंश इसमें परस्पर नित्य अभेद वर्तमान है। जीव स्वरूप में एवं चिद्रूपा प्रकृति में भी उस प्रकार अभेद विद्यमान है। अतएव अंशादि के साथ अंशी प्रभृति के अभेदत्व हेतु गुणादि

के गुणी से अपृथक् अवस्थान हेतु एवं अंशी अंशादि के नित्यत्व हेतु, अंशी प्रभृति अनंश, अगुण, अक्रियादि शब्द से कथित होते हैं। क्रियादि की नित्यता, प्रकाश-अप्रकाश भेद, अस्तित्व अनस्तित्व व्यवहार, विशेष विशिष्ट का अभेद भी उस प्रकार से सिद्धि होती है। अचिन्त्य शक्तित्व निबन्धन परमेश्वर में सबही संगत हैं और उनकी शक्ति हेतु जीव समूह में एवं चिद्रूपा प्रकृति में भी तत्तद् विषयगत भेद एवं अभेद एवं अभेद युगपत् वर्तमान है। कारण अन्यत्र भेद एवं अभेद उभय ही दृष्ट होते हैं, निमित्त कारण व्यतीत, कार्य-कारण के मध्य में भी इस प्रकार भेदाभेद स्वीकार्य है। (मध्वभाष्य २।३।२८-२९) द्रष्टव्य।

श्रीमद्भगवद्गीता में-क्षर एवं अक्षर द्विविध पुरुष का उल्लेख है, इसके मत में तत्त्व मस्यादि वाक्य तादात्म्य प्रतिपादक नहीं हैं, आदित्यो यूपवत् यह वाक्य केवल सादृश्य का ही बोधन करता है, जीव मुक्तावस्था में भी पृथक् है, जीवेश्वरौ भिन्नोसर्वदैव विलक्षणौ, जगत् क्षयशील है, किन्तु मिथ्या अथवा ब्रह्म से अभिन्न नहीं है। सिद्धान्तसार-सदागमैक विज्ञेय समतीत क्षराक्षरं। नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेष सद्गुणम्॥' रामानुज एवं मध्व वैष्णव होने पर भी उपासना एवं साम्प्रदायिक चिह्नादि से उनमें यथेष्ट वैलक्षण्य है। मायावाद शतदूषणी, तत्त्वमुक्तावली ग्रन्थ में द्वैतवाद का समर्थन करके अद्वैत मत का खण्डन किया गया है।

लक्ष्मीनारायण-उपास्य देवता, वैकुण्ठेश्वर नारायण, लक्ष्मी भूमि, लीलादेवी के साथ विराजते हैं। इनके मत में सारूप्यादि चतुर्विध मुक्ति स्वीकृत है, उपासना का फल ही श्रीविष्णु की प्रसन्नता लाभ। श्रीबलदेवविद्याभूषण ने इस मत का सार संक्षेप में लिखा है-श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो, भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नोचोच्चभावं गताः।

मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्ति स्तत् साधनम्।
मक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्योहरिः॥

श्रीगुरु-परम्परा यथा, श्रीकृष्ण ब्रह्मा-नारद-वादरायण, मध्वाचार्य, पद्मनाभ, नरहरि, माधव, अक्षोभ्य जयतीर्थ ज्ञानसिन्धु दयानिधि-विद्यानिधि-राजेन्द्र जयधर्म विष्णुपुरी, पुरुषोत्तम से व्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र-ईश्वरपुरी, अद्वैतप्रभु। ईश्वरपुरी से श्रीगौरांग। इस गुरु-परम्परा के अनुसार गौड़ीय सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय भुक्त कहा जाता है, मध्वविजय ग्रन्थ में, मध्वाचार्य का विस्तृत विवरण लिखित है। दक्षिण पथ के अनेक स्थान में इस सम्प्रदाय का आधिपत्य है, उडुपी में, नामान्तर रजतपीठपुर, मुख्य गादी है, इनकी शाखा-प्रशाखा अनेक हैं।

(३) श्रीवल्लभाचार्य एवं विशुद्धाद्वैत भाष्य

श्रीमद्‌वल्लभाचार्य-अणुभाष्य में विशुद्धाद्वैतवाद की आलोचना की है। केवलाद्वैतवादी शंकर-'ब्रह्म को निर्धर्मक, निर्विशेष निराकार निर्गुण प्रतिपन्न करते हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्र के सर्वधर्मोपपत्तेश्च (२।१।३७) में एवं सर्वोपेता च तद् दर्शनात् (२।१।३०) इत्यादि सूत्र के तात्पर्य निर्धारण में श्रीवल्लभाचार्य ने अशुद्ध केवलाद्वैतवाद को खण्डन करके विशुद्धाद्वैतवाद स्थापन किया है। इस भाष्य में ब्रह्म का सर्व धर्मवत्त्व, विशुद्ध सर्वधर्माश्रयत्व, सर्वकर्त्तृत्व ब्रह्मगत वैषम्य नैर्घृण्य दोषपरिहार, ब्रह्म से जगत् का अनन्यत्व जीवस्वरूप, जीव की नित्यता ज्ञातृत्व, परिणाम भोक्तृत्व, अंशत्व, जीव ब्रह्म का अभेदत्व, जगत् का सत्यत्वं जगत् संसार भेद, अविकृत परिणामवाद, आविर्भाव, तिरोभाववाद, भक्ति साधनत्व, पुष्टिमार्ग प्रभृति विषय की आलोचना है। इनके मत में परंब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट, सच्चिदानन्द व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमत स्वतन्त्र, निर्गुण प्राकृत गुण वर्जित, देश-कालादि द्वारा अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगतभेद वर्जित है, निर्गुण होकर भी सगुण हैं, निराकार होकर भी साकार हैं इत्यादि, शुद्धाद्वैतवाद में ईश्वर का कर्त्तृत्व मायाकृत नहीं है, आरोपित भी नहीं है। निर्गुण ब्रह्म का जगत् कर्त्तृत्व असम्भव है,

सगुण ब्रह्म परतन्त्र है, सुतरां परतन्त्र का भी कर्त्तृत्व नहीं हो सकता है। सुतरां ब्रह्म में सर्व कर्त्तृत्व मानना होगा। 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' (गीता १०।८)।

इस भाष्य में जीव चित्कण, सूक्ष्म, परिच्छिन्न, चित् प्रधान एवं आनन्दस्वरूप हैं। जीव नित्य, किन्तु इसकी नित्यता अलीक है, मायावादीगण जीव को ब्रह्म कहते हैं, इनके मत में जीव विभु हैं, किन्तु विशुद्धाद्वैतवाद में जीव अणु हैं, जीव के कर्त्तृत्व भोक्तृत्व अंशत्वादि आलोचित होने पर भी जीव ब्रह्म का अभेद कल्पित हुआ है। ब्रह्म चित् एवं पूर्ण प्रकटानन्द हैं, जीव, तिरोहितानन्द होने पर भी शुद्ध जीव एवं ब्रह्म वस्तुतः एक ही पदार्थ है।

शंकर मत में जगत् मिथ्या है, किन्तु शुद्धाद्वैतवाद में जगत् सत्य एवं नित्य है, भगवद्रूप एवं भगवान् से अभिन्न है। भावे चोपलब्धे (२।१।१५) द्रष्टव्य। इस मत में भक्ति ही परमतत्त्व श्रीकृष्ण साक्षात्कार के लिए साधना है। विशिष्टाद्वैतवाद में स्थूल, सूक्ष्म अचित् पदार्थ, प्रलय में भी सूक्ष्माकार में एवं अचिद्भाव में ही वर्तमान रहता है। स्थूल, सूक्ष्म जीव के सम्बन्ध में भी यही बात है, किन्तु शुद्धाद्वैतवाद में यह दो पदार्थ ब्रह्म से अभिन्न एवं नित्य सत्य हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में सालोक्यादि चतुर्विध मोक्ष स्वीकृत है। शुद्धाद्वैतवाद में सायुज्य मोक्ष भी स्वीकृत है। रुद्र से यह सम्प्रदाय प्रवर्त्तित हुआ है, इसके प्रथम आचार्य श्रीविष्णुस्वामि हैं। ब्रह्म सम्प्रदाय के समान रुद्र सम्प्रदाय भी प्राचीन है, ४५० वर्ष पूर्व श्रीवल्लभाचार्य ने इस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध आचार्य पदवीं प्राप्त की थी, अतः इस सम्प्रदाय की ख्याति वल्लभाचारी रूप से हुई। मारुतशक्ति नामक टीका ग्रन्थ में सम्प्रदाय की गुरु प्रणाली लिपिबद्ध है, 'आदौ श्रीपुरुषोत्तमंपुरहरं श्रीनारदाख्यं मुनिं कृष्णं व्यासगुरुं शुकं तदनु विष्णुस्वामिनं द्राविड़म्। तच्छिष्यं किलविल्व मंगलमहं वन्दे महायोगिनं श्रीमद्वल्लभ नाम धाम च भजेऽस्मत्

सम्प्रदायाधिपम् शाण्डिल्यसंहिता भक्तिखण्ड के पंचाध्याय से टीकाकार ने प्रमाण किया है कि आचार्य वल्लभ, श्रीभगवान् के वदन से आविर्भूत होकर निज सम्प्रदाय का कल्याण करेंगे। श्रीवल्लभाचार्य का प्रसंग गौड़ीय ग्रन्थ में सुप्रसिद्ध है, (श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य १।२६३,१९-६१।११३, अन्त्य ७वाँ परिच्छेद तथा भक्तिरत्नाकर, श्रीगदाधर पंडित गोस्वामी की शाखा परम्परा भी द्रष्टव्य है।

मथुरा, वृन्दावन, काशी में इस सम्प्रदाय के मन्दिर हैं, उदयपुर के निकटस्थ श्रीनाथद्वारा में श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी गोस्वामी द्वारा प्रकटित श्रीगोपालदेव वर्तमान में इस सम्प्रदाय की सेवा अंगीकार कर रहे हैं। पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग भेद से सम्प्रदाय की उपासना प्रणाली द्विविध है।

(४) श्रीनिम्बार्क एवं द्वैताद्वैतभाष्य

सुदर्शनावतार (सूर्यावतार) श्रीनिम्बादित्य हैं, पूर्व नाम ही नियमानन्द है। औडुलौमि प्रणीत वेदान्तसूत्र वृत्ति को अवलम्बन कर आपने वेदान्त पारिजात सौरभ की रचना की। यह वाक्यार्थ ग्रन्थ मात्र है। इस सम्प्रदाय के प्रकृत भाष्य-श्रीश्रीनिवासाचार्य कृत वेदान्तकौस्तुभ है। श्रीकेशवकाश्मीरि प्रणीत कौस्तुभप्रभावृत्ति ग्रन्थ विस्तृत एवं विचारपूर्ण है। माधवमुकुन्द रचित परपक्ष गिरिवज्र भी प्रखर पांडित्य पूर्ण है। ब्रह्म-भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही इस सम्प्रदाय में उपास्य तत्त्व हैं। इनके मत में तत्त्व त्रिविध, चित्, अचित् एवं ब्रह्म, किन्तु चित् अचित् ब्रह्म से भिन्न होकर भी अभिन्न है। ज्ञान ही ब्रह्म साक्षात्कार का साधन है, ध्यान, ध्रुवानुस्मृति एवं पराभक्ति आदि भी ज्ञान शब्द का ही पर्याय है, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन-तत् प्राप्ति का उपाय है। जीव का लक्षण-अचिद्वर्ग भिन्न ज्ञानस्वरूप, ज्ञातृत्व, कर्त्तृत्वादि धर्म विशिष्ट भगवदायत्त, स्वरूपस्थिति प्रकृतिशील, अणु परिमाण,

प्रति शरीर भिन्न मोक्षार्ह चित् पदार्थ ही जीव है। अचित् पदार्थ प्राकृत, अप्राकृत एवं काल भेद से त्रिविध है, गुणत्रयाश्रयभूत द्रव्य प्राकृत है, यह नित्य एवं परिणामादि विकारी है, अप्राकृत, अचित् पदार्थ–त्रिगुणा प्रकृति एवं काल से अत्यन्त भिन्न अचेतन है। प्रकृति मण्डल भिन्न देशवर्त्ती नित्य विभूति सम्पन्न परव्योम, परमपद, ब्रह्मलोकादि ही अप्राकृत अचित् पदार्थ है, यह सब धाम अप्राकृत एवं कालातीत हैं, प्राकृत एवं अप्राकृत भिन्न काल पदार्थ नित्य एवं विभु है, इन्होंने श्रुति प्रमाण के द्वारा भेदाभेदवाद के प्रामाण्य को दर्शाया है एवं श्रीभगवद्भाव लक्षण मोक्ष ही प्रयोजन तत्त्व है। भक्ति ही मोक्ष का साधन है एवं ध्रुवास्मृति को ही भक्ति कही जाती है, श्रीराधाकृष्ण ही इस सम्प्रदाय के उपास्य हैं। श्रीनिम्बार्क कृत दशश्लोकी में उपास्य की जो वर्णना है वह विशेष प्रणिधान योग्य है।

पुरुषोत्तमाचार्य कृत वेदान्तरत्नमंजुषा की टीका में निर्णीत है कि–रुक्मिणी सत्यभामा एवं श्रीराधा मिलित श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। 'रुक्मिणी सत्यभामा ब्रजस्त्री विशिष्ट श्रीभगवान् पुरुषोत्तमः सम्प्रदायिभि वैष्णवैः सदा उपासनीयः' दशश्लोकी में पाँच विषयों का निर्देश है–(१) उपास्य। (२) उपासक का स्वरूप। (३) साधन भक्ति। (४) भक्तिरस प्रेमलक्षणा भक्ति। (५) उपास्य प्राप्ति का अन्तराय (माया) हरिव्यासीगण सखीभाव से रागमार्ग द्वारा उपासना की कथा कहते हैं। महावाणी में प्रेमभक्ति साधना एवं सखीभाव से श्रीकृष्ण सेवा का स्पष्ट संकेत मिलता है। परपक्ष गिरि वज्र के तृतीय अध्याय में वर्णित है–प्रथमतः श्रीभगवान् में अर्पित निष्काम कर्मयोग द्वारा चित्त–संस्कार, अनन्तर वैराग्य एवं तत्त्व जिज्ञासा उससे श्रवणादि लक्षण साधन के द्वारा स्वरूपादि विषयक परोक्ष ज्ञान, उसके पश्चात् ध्यान परिपक्व होने से पराभक्तिरूपा ध्रुवास्मृति है। इस अवस्था में भगवदनुग्रह से साक्षात्कार होता है। उससे मोक्षप्राप्ति होती है।

श्रीनिम्बादित्य के श्रीहरिव्यास एवं केशवभट्ट नामक दो शिष्यों से दो शाखाओं की उत्पत्ति हुई है। यह उदासीन एवं गृहस्थ भेद से बँटे हुए हैं, श्रीनिम्बादित्य का विवरण श्रीभक्तमाल के १० में अनुसन्धेय है।

श्रीनिम्बार्क मत का काल-निर्णय सन्देहास्पद होने के कारण कुछ व्यक्तियों के निर्णय से इस मत का प्रचार-प्रसार पंचदश शक शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है, किन्तु श्रीरामानुजीय वेदार्थसंग्रह में 'परोपाध्यालीढ़ं विवशमशुभस्यास्पदं' इत्यादि वाक्य में भास्कर भाष्य का संकेत मिलता है, हिन्दी श्रीभक्तमाल में, वार्त्तिकप्रकाश में लालदास कृत अनुवाद में, प्रमेय-रत्नावली १।६ श्लोक में भक्तिरत्नाकर ५।२१।२९।३०, १२।२२।५६-५७ में प्राचीनकाल से इस सम्प्रदाय का अस्तित्व अनुमित होता है।

प्राचीनसात्वत सम्प्रदाय चतुष्टय के अन्यतम निम्बार्क तैलंगदेश के वैदूर्यपत्तन (मुंगेरपत्तन, मुंगिपाटन में) आरुणि निम्बादित्य नियमानन्द नाम से आविर्भूत हुए थे, आप सनत्कुमार के शिष्य थे, श्रीनारद से उपदेश प्राप्त कर जगत् में जो मत प्रचार किया था, उसका लोप अनेक काल पूर्व में ही हो गया था, अतएव सायनमाधव ने तदीय सर्वदर्शन-संग्रह में विष्णुस्वामि प्रभृति मत का उल्लेख करने पर भी निम्बार्क का नाम नहीं लिखा है।

विष्णुयामल के-

नारायण मुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूत कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय वै॥
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।
एवं परम्परा प्राप्तो मन्त्र स्त्वष्टादशाक्षरः॥

इत्यादि वचन से निम्बार्काचार्य का चतुःसन सम्प्रदायित्व सिद्ध होता है। श्रीकमलाकर भट्ट ने निर्णयसिन्धु ग्रन्थ प्रथम परिच्छेद में श्रीनिम्बार्कीय कपालबेध मत का उट्टंकन किया है। तिथि-निर्णय में श्रीभट्टोजी दीक्षित ने भी जन्माष्टमी प्रकरण में

इस मत की प्रतिध्वनि को अंकित किया है। श्रीनिम्बार्कीयगण भविष्योत्तरीय सुदर्शनो द्वापरान्ते निम्बादित्य इति ख्यातः, इस प्रमाण से श्रीनिम्बार्क का अवतारकाल द्वापरान्त में मानते हैं, किन्तु उक्त पुराण के सम्बन्ध में सब ही व्यक्ति विशेष सन्देह पोषण करते हैं, श्रीनिम्बार्क स्वाभाविक भेदाभेदवाद मानते हैं। इनके मत में भेद एवं अभेद सम सत्य ही नहीं है, सम नित्य भी है सर्वकाल में सर्वावस्था में भेद एवं अभेद समान रूप में वर्तमान है। ब्रह्म कारण, जीव जगत् कार्य है, ब्रह्म शक्तिमान् जीव जगत् शक्तिद्वय है, ब्रह्म समग्र सत्ता, जीव जगत् ब्रह्मान्तर्गत क्षुद्रातिक्षुद्र अंश है। कारण एवं कार्य, शक्ति एवं शक्तिमान् अंशी एवं अंश में भेद वास्तव, स्वाभाविक एवं नित्य है, ब्रह्म ध्येय, ज्ञेय एवं प्राप्तव्य है। जीव, ध्याता ज्ञाता एवं प्रापक है। ब्रह्म-सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्ता सर्वव्यापी पूर्ण स्वाधीन है, जीव सृष्ट्यादि शक्तिहीन, अनुमात्र एवं शासित है। केवल बद्ध जीव नहीं, मुक्त जीव भी ब्रह्म से भिन्न है, ब्रह्म एवं जीव में यह स्वभाव एवं धर्मगत भेद नित्य है, जगत् के सम्बन्ध में भी वही बात है, ब्रह्म केवल चेतन, अजड़, अस्थूल, नित्य शुद्ध है, किन्तु जगत् अचेतन जड़ स्थूल एवं अशुद्ध है। सुतरां ब्रह्म एवं जगत् में स्वभाव एवं धर्मगत भेद नित्य वर्तमान है। ब्रह्म जीव जगत् में भेद जिस प्रकार स्वभाव सिद्ध है, उस प्रकार अभेद भी समान रूप से सत्य है। कार्य कारण से गुणतः एवं कार्यतः भिन्न है, किन्तु स्वरूपतः अभिन्न है। कारण भी कार्यातिरिक्त रूप में कार्य से भिन्न है, किन्तु कार्यकालीन एवं कार्यस्वरूप में कार्य से अभिन्न है। कार्य-कारण से भिन्न है, कारण कार्य एवं कारण के गुण समूह एवं कार्य समूह एक नहीं है, मृण्मय घट, मृत्पिण्ड से भिन्न है, कारण घट का आकार (कम्बुग्रीवाकृति एवं कार्य जलाहरणादि, मृत्पिण्ड के आकार एवं कार्य से भिन्न है, किन्तु भिन्न होने पर भी मृण्मय घट मृत्पिण्ड से अभिन्न है। कारण-मृण्मय घट मृत्तिका व्यतीत अपर कुछ नहीं है अर्थात् कार्यकारणात्मक, कारण सत्तामय

एवं कारणाश्रयी है। अतएव कार्य एवं कारण–अभिन्न है। कारण भी कार्य से भिन्न है। कारण कार्य विशेष व्यतीत अन्यान्य कार्य का भी जनक है। जिस प्रकार मृत्पिण्ड, मृण्मय घट से भिन्न है, कारण–मृत्पिण्ड, केवल घटरूप में ही परिणत नहीं होता है। शराब, चुल्ली प्रभृति रूप में भी परिणत होता है, ऐसा होने पर भी मृत्पिण्ड मृण्मय घट से अभिन्न है, कारण मृण्मय घट की भाँति यह भी मृत्तिकास्वरूप है। स्वाभाविक भेदाभेदवाद में भेद का अर्थ–कार्य के ओर से गुणतः एवं कार्यतः अभेद है, कारण के ओर से कार्यातिरिक्तता है। अभेद का अर्थ है–कार्य के ओर से कारणात्मकता एवं कारणाश्रयित्व है। कारण के ओर से कार्यलीनत्व है, सुतरां जगत् रूप में जीव एवं जगत् से भिन्न होने पर भी जगल्लीनरूप में जीव एवं जगत् से अभिन्न है।

श्रीभाष्य १।४।४ में भेदाभेदवाद का खण्डन हुआ है। श्रीरामानुज कहते हैं–युगपत् भेद एवं अभेद में विरोध नहीं है–यह कहना अयोक्तिक है। कारण शीत उष्ण; अन्धकार आलोकवत् कभी भी एक वस्तु कहना संगत नहीं होता है।

श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं–कार्य एवं कारण में भेदाभेद नहीं है, कार्यावस्था में ही कार्यत्व दृष्ट होता है, कारणत्व अवस्था में ही कारणत्व परिलक्षित होता है, घटत्व कार्य का है, कारण का नहीं, घटत्व कार्य साध्य है। सुतरां कार्य, कारण एवं तदाश्रय वस्तु निश्चय ही भिन्न है, एक नहीं है। कार्य कारण की जो अभिन्नता स्वीकृत है, वह घटादि की भाँति विशिष्ट वस्तुगत है, सकल वस्तुगत नहीं है, कार्य समूह में भी परस्पर भिन्न–भिन्नत्व प्रतीत नहीं होता है। कारण प्रत्यय की विलक्षणता है, जातिगत अभेद एवं व्यक्तिगत भेद है, ऐसा कहना भी अयोक्तिक है, कारण एक ही वस्तु के दो स्वरूप स्वीकृत नहीं हैं।

दो आकार मानकर एक वस्तु मानने से दो स्वरूप का दोष पृथक् हो जायगा। ऐसा कहने से इसमें तृतीय वस्तु की सत्ता

मानना आवश्यक होगा, उससे अनवस्था दोष होगा। अतएव भेदवाद प्रकृत सिद्धान्त है, तत्त्वमसि वाक्य-केवल अभेद निर्देशक नहीं है, किन्तु जीव ब्रह्म का प्रीतिमय संयोग व्यंजक है। अतएव विशिष्ट वस्तु की अपेक्षा से भेदाभेदवाद एवं विशेष. अनुसन्धान साहित्य के समय ही अभेदवाद का प्रवर्त्तन होना आवश्यक है। स्वाभाविक भेदाभेदवाद में ब्रह्म में स्वतः ही जीवभाव स्वीकृत होने से जीवगत दोष समूह भी गुणवत् स्वाभाविक ब्रह्म की सम्पत्ति होगी, अतएव ब्रह्म के साथ सदोष जीव का ब्रह्म तादात्म्योपदेश निश्चय ही विरुद्ध है।

(९) श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय एवं अचिन्त्य भेदाभेदवाद

इस प्रकार भारतवर्ष के विभिन्न सम्प्रदाय के पण्डिताग्रणी सम्प्रदाय प्रवर्त्तक आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य निर्माण के द्वारा निज-निज सम्प्रदाय की दार्शनिक भित्ति प्रतिष्ठित की है, विशुद्धद्वैतवाद प्रवर्त्तन के समय ही बंगदेश में एक अभिनव जागरण आया था, नदिया के कलियुगपावनावतार श्रीगौरसुन्दर ने ही उक्त आन्दोलन का मुख्यतम नेतृत्व किया था, प्राचीन एवं नवीन में, एक अनेक में, अनुकूल-प्रतिकूल में एक अचिन्त्य अत्यद्भुत सामंजस्य विधान करके आपने प्राचीन वैदान्तिक समाज के आधुनिक पण्डितगण के समक्ष में सर्वकल्लोल कोलाहल निरासक अति समीचीन वेदान्त सिद्धान्त स्थापन किया है स्वयं भगवान् महावतारी श्रीगौरांग स्वसम्प्रदाय सहस्रादिदेव होकर भी स्वयं आपने वेदान्त भाष्य प्रणयन नहीं किया अथवा करना प्रयोजन है, यह भी नहीं समझा, कारण उनके मत में श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्यभूत इत्यर्थः। 'तस्मात्तद् भाष्य भूते स्वतः सिद्धे तस्मिन् सत्यर्वाचीनमन्यदन्येषां स्व स्व कपोलकल्पितं, तदनुगत मेवादरणीयमिति गम्यते।' अर्थात् श्रीभागवत ही ब्रह्मसूत्रों का अकृत्रिम भाष्य है, सुतरां इस स्वतःसिद्ध भाष्यभूत श्रीभागवत के समक्ष में अन्यान्य अर्वाचीन भाष्य समूह स्वकपोलकल्पित मात्र है, किन्तु श्रीभागवतानुगत भाष्य मात्र ही आदरणीय है। इसलिए

श्रीगौरांगदेव के परिकरगण भी वेदान्तसूत्र के भाष्य प्रणयन में व्रती नहीं हुए। श्रीमन्महाप्रभु ने तत्कालीन वेदान्तिगण के समक्ष में अचिन्त्य भेदाभेदवाद का ही प्रचार किया था। काशी धाम में मायावादी पण्डित वरेण्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती एवं नवद्वीप के अद्वितीय नैयायिक श्रीवासुदेव सार्वभौम प्रभृति के निकट में आपने जो वेदान्तसूत्र की अभिनव व्याख्या एवं सिद्धान्त प्रकाश किया था, उससे वे सभी मन्त्रमुग्धवत् होकर आपके चरणों में आत्म-समर्पण किया था। इन सभी सिद्धान्तों का उल्लेख श्रीपाद श्रीसनातनादि गोस्वामियों ने निज-निज ग्रन्थ में किया है, तदनुसार श्रीपाद श्रीजीव गोस्वामीचरण ने क्रमसन्दर्भ, षट्सन्दर्भ, सर्वसम्वादिनी में उसका विस्तृत विवरण लिखा है।

अपरे तु तर्काप्रतिष्ठानात्, (ब्रह्मसूत्र २।१।११) भेदेऽप्यभेदेऽपि निर्मर्याद दोष सन्तति दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वाद भेदं साधयन्तः तद्वदभिन्नतया चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदमपि साधयन्तोऽचिन्त्यभेदाभेदवादं-स्वीकुर्वन्ति (सर्वसम्वादिनी) अर्थात् एक सम्प्रदायी वेदान्तीगण कहते हैं, तर्क की अप्रतिष्ठा हेतु भेद एवं अभेद में भी निखिल दोष सन्तति को देखकर भिन्न रूप में मानना असम्भव है, इसलिए जिस प्रकार भेद साधन करना दुष्कर है, उस प्रकार अभेद मानकर अभेद साधना भी दुष्कर है। इस प्रकार भेदाभेद उभय साधन में ही चिन्ता की असामर्थ्य को देखकर श्रीजीव गोस्वामीजी अचिन्त्य भेदाभेदवाद को ही मानते हैं। परमतत्त्व अचिन्त्य शक्तिमय होने के कारण निज मत में अचिन्त्य भेदाभेदवाद ही स्वीकृत हुआ है। अचिन्त्य अनन्तशक्तिशाली (अतर्क्यसहस्रशक्ति भा० ३।३३।३) परतत्त्व की शक्ति समूह एवं शक्ति परिणत वस्तु समूह के साथ-उक्त परतत्त्व का जो अचिन्त्य युगपत् भेद एवं अभेदयुक्त सम्बन्ध को अचिन्त्य भेदाभेदवाद कहते हैं-अचिन्त्य अपौरुषेय शब्दगम्य है, किन्तु पुरुष अर्थात् जीव की क्षुद्र चिन्ताशक्ति अथवा युक्ति तर्क के अगम्य है।

भेद अभेद की सहावस्थिति एवं उभय ही समभाव से सत्य एवं नित्य–यह अबोध्य अथवा अचिन्त्य होने के कारण मानव की युक्ति धारणा में प्रतीयमान न होने पर भी शास्त्रोपदिष्ट होने से अवश्य स्वीकार्य है। श्रीचैतन्यदेव ने सार्वभौम एवं प्रकाशानन्द के निकट श्रीसनातन गोस्वामी को लक्ष्य करके जो कहा था उसको श्रीसनातन गोस्वामीजी ने (वृहद्भागवतामृत २।२।१८६) में वैष्णवतोषणी में श्रीरूप गोस्वामीजी ने लघुभागवतामृत में श्रीजीव गोस्वामीजी ने षट्सन्दर्भ सर्वसम्वादिनी में विस्तार रूप से लिखा है, परतत्त्व के शक्तिमत्त्व एवं शक्ति का अचिन्त्यत्व (ब्रह्मसूत्र २।१।२७।२८) में उक्त है। श्रीजीव गोस्वामीजी ने श्रीमद्भागवतोक्त अद्वयतत्त्ववाद–'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व की अद्वितीया स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति के वैचित्र्य को मानकर अति सूक्ष्मतम विचार विश्लेषण के द्वारा उक्त वाद को प्रतिष्ठित किया है।

आपने श्रीमद्भागवत के 'वदन्ति तत्तत्त्वविद:' १।२।११ श्लोक को उपजीव्य करके परतत्त्व के अद्वयत्व का स्थापन किया है, भगवद्सन्दर्भ एक अद्वितीय परतत्त्व ही स्वाभाविकी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा सर्वदा ही भगवत्स्वरूप, स्वरूपवैभव जीव एवं प्रधान यह चार रूप में विराजित हैं, श्रीजीव गोस्वामीपाद ने जीव एवं प्रकृति को तत्त्व नहीं कहा है, उन दोनों को शक्तिरूप में स्थापन करके परतत्त्व का अद्वयत्व स्थापन किया है, (क्रम० १।२।१२, तत्त्व ५१, भग० १६, भक्ति ६।७) परतत्त्व को नि:शक्तिक अथवा निर्विशेष कहने से सर्वशक्तिमान् की पूर्णता की हानि होती है। (चै०च० आदि ७।१३८–४०) इसलिए श्रीजीव गोस्वामीपाद सशक्ति परतत्त्व को ही परब्रह्म कहते हैं, जो स्वयं बृहत् एवं जिसमें दूसरे को बृहत् करने की स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति है, वह ही ब्रह्म है। अद्वय तत्त्व की सच्चिदानन्दता हेतु शक्ति भी अद्वितीया सच्चिदानन्दात्मिका है, उस शक्ति के त्रिविध वैचित्त्य है, उसको सन्धिनी संवित् ह्लादिनी शब्द से कहते हैं। (भग० १०२) शक्ति

की क्रिया से ही ब्रह्म का सविशेषत्व होता है। ब्रह्म की शक्ति दो प्रकार से अवस्थित है। (१) केवल शक्ति अमूर्त्त रूप में। (२) शक्ति की अधिष्ठात्री मूर्त्त रूप में। श्रीभगवद्धाम एवं श्रीभगवत् परिकरगण स्वरूपशक्ति की वृत्ति हैं। अमूर्त्त शक्ति रूप में शक्ति समूह श्रीभगवद् विग्रह के साथ एकात्मता प्राप्त होकर अवस्थान करती है और मूर्त्त रूप में श्रीभगवद् परिकरादि होकर प्रकट होती हैं। (भग० १०२), परतत्त्व की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी परतत्त्व में अवस्थान करती है, जब परतत्त्व रसास्वादन के लिए उस ह्लादिनी शक्ति की सर्वातिशायिनी वृत्ति को उनके ही शक्त्यंशस्वरूप भक्तगण के हृदय में संचारित करते हैं, तब वह वृत्ति कृष्ण प्रीतिरूप में वैचित्री को प्राप्त कर परमास्वादन चमत्कारकारिणी होती है। (प्रीति ६५), भक्ति-भक्तकोटि में प्रविष्ट भक्त एवं भगवान् को विलगनकारिणी शक्ति विशेष है, (भक्ति १८०), अतएव सम्बन्धितत्त्व, अभिधेयतत्त्व एवं प्रयोजनतत्त्व में श्रीजीव गोस्वामीचरण ने अद्वितीया सच्चिदानन्दात्मिका स्वरूपशक्ति के वैचित्री एवं विलास को ही माना है। श्रीजीव गोस्वामी के मत में सम्बन्धितत्त्व एक अद्वितीय है, वह उपासक की प्रतीति के भेद से ब्रह्म परमात्मा एवं भगवत्स्वरूप में आविर्भूत अद्वयज्ञान तत्त्व है, वह अद्वय होने के कारण सजातीय-विजातीय स्वगत भेद शून्य है अर्थात् परतत्त्व के देह-देही प्रकाश, विलास वैभव के मध्य में जड़ीय भेद नहीं है, कारण वह स्वरूपशक्ति के द्वारा संघटित है, प्रकाश विलास प्रभृति में केवल शक्ति प्रकटन के तारतम्य से लीला वैचित्र्य ही द्रष्टव्य है। उस अद्वयतत्त्व प्राप्ति का उपाय भी अद्वितीय स्वरूपशक्ति की वृत्ति अर्थात् भक्ति है। भक्ति विशेष ही परमात्मानुशीलन से योग होता है, भक्ति से ज्ञान को पृथक् करने के लिए (भा० १।५।३५) 'ज्ञानंयत्तदधीनं हि भक्तियोग समन्वितम्' इस सिद्धान्त के विरुद्ध में ज्ञान को स्वतन्त्र अभिधेय कहकर विचार करने पर केवल क्लेशमात्र ही लाभ होगा। (भा० १।५।१२।१०।२।३२-३३।१०।१४।३)।

परतत्त्व श्रीकृष्ण जिस प्रकार ब्रह्म परमात्मा का आश्रय है, श्रीकृष्ण भक्ति भी उस प्रकार ज्ञान कर्मयोग का आश्रय है, (भा० १।२।६-२२,२८,२९, १।५।१२, ३२-३६) श्रीजीव गोस्वामीचरण के मत में प्रयोजनतत्त्व भी अद्वितीय है, 'कैवल्यैक प्रयोजनम्' केवला प्रीति अथवा विमुक्ति ही प्रयोजक है, उसके अन्तर्गत ही योगी का कैवल्य एवं ज्ञानी की मुक्ति है। कैवल्य एवं मुक्ति के लिए स्वतन्त्र चेष्टा ही कैतव है, गौड़ीयदर्शन में शक्ति एवं शक्तिमान् को लेकर ही अखण्ड अद्वय वस्तु अथवा तत्त्व है। अतीन्द्रियतत्त्व अथवा उनकी शक्ति के अलौकिकत्व निरूपण में 'अचिन्त्य' शब्द का योग गौड़ीयदर्शन में ही हुआ है। श्रीशंकराचार्य ने अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म की 'अचिन्त्य' आख्या से श्रीविष्णुसहस्रनाम में १०२, उल्लेख किया है। प्रमाणादि साक्षित्वेन सर्वप्रमाणागोचरत्वादचिन्त्यः। अयमीदृशः 'इति विश्व प्रपंच विलक्षणत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् वा अचिन्त्यः' श्रीधरस्वामी ने श्रीविष्णुपुराण की टीका में १।३।१।२, अचिन्त्यतत्त्व को उल्लेख किया है। श्रीजीव गोस्वामीजी के मत में (भग० १६) अचिन्त्य शब्द का अर्थ शब्दमूलक 'श्रुतार्थापत्ति ज्ञान गोचर' शक्ति एवं शक्ति में केवल भेद एवं केवल अभेद उभय साधन ही दुष्कर होने के कारण एवं युगपत् भेद एवं अभेद साधन की संगति भी एकमात्र परतत्त्व की अविचिन्त्य शक्तिमत्ता एवं श्रुतार्थापत्ति प्रमाण व्यतीत सम्भव नहीं है, इसलिए श्रीजीवचरण ने अचिन्त्य शब्दगम्य भेदाभेदवाद को स्वीकार किया है।

पौराणिक एवं शैवगण के मत तथा भास्कराचार्य प्रभृति के मत में जो भेदाभेदवाद स्वीकृत है-वह तर्कमूलक, खण्डन योग्य एवं संगति विहीन है।

मायावादीगण के मत में केवल अभेदवाद में भी भेदांश व्यवहारिक अथवा प्रातीतिक मात्र है, वहाँ पर सद्सद निर्वचनीयत्व के अन्तराल में माया के अस्तित्व को स्वीकार करने पर अद्वैतवाद

की हानि होती है। ब्रह्म के उभयलिंग को स्वीकार करने पर भी अद्वैत ब्रह्म द्विभावग्रस्त हो जाता है, वह शब्द प्रमाण द्वारा समर्थनीय नहीं है, तर्क पर स्वकपोलकल्पित मात्र ही है।

दूसरी ओर गौतम, कणाद, जैमिनि, कपिल, पतंजलि के मत में भेदवाद स्वीकृत होने पर भी वह वेदान्त सम्मत नहीं है। श्रीरामानुज शक्ति शक्तिमान् में भेद को मानते हैं, सर्वकारण समूह के कारणत्व निर्वाहक किसी अद्रव्य विशेष की ही शक्ति है, यह धर्म विशेष अथवा वृत्ति विशेष है। शक्तिमद् भगवन्निष्ठ धर्म विशेष भगवच्छक्ति वाच्य है। (यतीन्द्रमतदीपिका १०वाँ) परब्रह्म की शक्ति सनातन एवं स्वाभाविक है, शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद है, किन्तु शक्ति स्वरूपानुबन्धिनी है, (श्रीभाष्य २।१।१५) प्रकारान्तर में श्रीरामानुजाचार्य को द्वैतवादी कहा जा सकता है।

श्रीमध्वाचार्य तत्त्व में अत्यन्त भेद मानते हैं। स्वतन्त्र तत्त्व ईश्वर से परतन्त्र तत्त्व समूह का नित्य भेद है। जीव ईश्वर में, जीव–जीव में, ईश्वर जड़ में, जीव जड़ में, जड़–जड़ में यह पंचभेद अथवा द्वैत नित्य एवं अनादि है। (तत्त्व विवेक)।

श्रीमध्वाचार्य तो द्वैतवादी हैं ही। किन्तु गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्त में परतत्त्व का अचिन्त्य शक्तित्व एवं शक्ति शक्तिमान् में श्रुतार्थापत्ति प्रमाणगम्य भेदाभेद सिद्धान्त ही स्वीकृत है (मुण्डकीय ३।२।८) यथानद्यः स्यन्दमानाः। (प्रश्नोप. ६।५) यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः एवं (बृ० भा० २।२।१९६) जिस प्रकार समुद्र के एकदेश से उद्भूत तरंग एकदेश में लीन होती है, उक्त तरंग जलमयत्वादि गुण से समुद्र से अभिन्न होने पर भी समुद्र का गाम्भीर्य एवं रत्नाकरत्वादि गुण के अभाव से पृथक् होता है, केवल समुद्र में लीन होकर ही पृथक् रूप में दर्शन योग्य न होने से ऐक्य प्राप्त होता है, तब उक्त तरंग समुद्रस्वरूप हो जाती है, यह कथन मात्र है, उस प्रकार अपना कारण ब्रह्म का तेजः स्थानीय अंश में मुक्ति के समय लीयमान जीवगण ब्रह्म में ऐक्य प्राप्त होते हैं, यह कथानक मात्र है, किन्तु स्वरूपतः सामर्थ्यतः

सीमाबद्ध जीव में अनन्त सुख घन ब्रह्मत्व की प्राप्ति नहीं कही जा सकती है। अतएव मुक्ति में भी ब्रह्म एवं जीव के पृथक् रूप से दर्शन के अभाव से अभिन्नता है एवं किसी अंश में परिच्छिन्नरूप में लीन होकर अवस्थान से भिन्नता भी कही जाती है, इसलिए ही श्रीभगवान् की कृपा विशेष से भक्ति सुखास्वादन के लिए सच्चिदानन्द शरीर धारण हेतु किसी मुक्त जीव पुनर्वार पृथक् सत्ता को प्राप्त करता है, पृथक् रहने से ही सम्भव होता है, इसको लक्ष्य करके ही आचार्य शंकर ने कहा है–हे प्रभो ! भेद नाश होने पर भी मैं तुम्हारा हूँ, किन्तु तुम मेरे नहीं हो। कारण तरंग समुद्र का ही है, तरंग के अधीन समुद्र नहीं है, यह भेदाभेद वाक्य भी उससे सुष्ठु उपपन्न होता है। अविद्याजनित जीवत्व का भेद विनष्ट होने पर भी किन्तु तुम्हारा ही शब्द प्रयोग पुनर्वार भेद को सिद्ध करता है, अन्यथा परमैक्यापत्ति में 'हे नाथ ! मैं तुम्हारा ही' एतादृशी उक्ति संगत नहीं हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि–परिच्छिन्न नदी का प्रवाह समूह जिस प्रकार नामरूप को छोड़कर समुद्र में मिलित होने पर भी अपरिच्छिन्न रत्नमय समुद्र की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं, वाह्य सत्ता का लोप हेतु समुद्रत्व प्राप्ति की प्रतीति होती है, तद्रूप जीव मुक्ति में भी ब्रह्म में सर्वथा ऐक्य प्राप्ति नहीं कर सकता है। वस्तुतः ब्रह्म एवं जीव स्वरूपतः एवं सामर्थ्यतः सर्वथा ही भिन्न है। मुक्त जीव ा जगत् व्यापार में कोई अधिकार नहीं है। विभु चित् ब्रह्म, अणुचित् जीव है। चैतन्यांश में उभय की अभिन्नता है, अथच स्वरूप एवं सामर्थ्य में चिरभिन्नता है। भोगमात्र साम्य लिंगाच्च ब्रह्मसूत्र ४।४।२१ के अनुसार विमुक्त जीव का ब्रह्म के साथ आनन्दोपभोग ही स्वीकार्य है। अंशी अंश के मध्य में भेदाभेद सम्बन्ध विद्यमान होने के कारण ब्रह्म एवं जीव के मध्य में भी सुतरां सर्वदा भेदाभेद सम्बन्ध ही स्थिरीकृत हुआ।

श्रुति में भेदवाचक अभेदवाचक उभयविध परस्पर विरोधी वाक्यसमूह का समन्वय के लिए उक्त सिद्धान्त ही श्रेष्ठतर है।

गौड़ीयदर्शन में भेदाभेद, व्यापकतम भूमिका के अपर में प्रतिष्ठित है, उस सर्वोच्च भूमि का में दृष्टिपात करने से स्पष्टतः ही प्रतिपन्न होता है कि कारण में अंश एवं अंशी के मध्य में भेदाभेद सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार से ही श्रुति में भी परस्पर विरोधी वाक्यसमूह विद्यमान है। उभय के हेतु ही एक एवं अभिन्न है।

पूर्व में कहा गया है कि गौड़ीय आचार्यगणों ने शक्ति एवं शक्तिमान् के एकान्त अविच्छेद्यत्व के अपर ही भेदाभेदवाद स्थापन किया गया है। 'मृगमद तार गन्ध यैछे अविच्छेद। अग्नि ज्वाला ते यैछे नाहि किछु भेद॥' (चै०चरिता०आदि ४।९८) मृगमद एवं उसकी गन्ध, अग्नि एवं उसकी दाहिकाशक्ति में जिस प्रकार भेद नहीं है।

गन्ध–मृगमद की शक्ति है। ज्वाला अग्नि की शक्ति है, शक्तिमान् के स्वरूप में शक्ति अवस्थित है, वे पृथक् वस्तु नहीं हैं, एक के साथ अपर का अविच्छेद्य सम्बन्ध है। परब्रह्म की अच्छेद्य स्वरूपानुबन्धिनी शक्ति भी स्वाभाविकी (श्वेताश्वतर ६।८) है, आगन्तुक नहीं है। कस्तुरी स्पृष्ट वस्तु की गन्ध, अग्नितप्त लोहादि की दाहिका शक्ति आगन्तुक है, स्वाभाविक नहीं है, किन्तु परब्रह्म की शक्ति स्वाभाविक है। शक्तिमान् एवं शक्ति अभिन्न है, मृगमद एवं उसकी शक्ति गन्ध, अग्नि उसकी दाहिका शक्ति अभिन्न होने पर भी सम्पूर्ण अभिन्न है या नहीं–कहा नहीं जा सकता है, कारण मृगमद अथवा अग्नि की अदर्शन से भी समय विशेष में उसकी गन्ध उसका ताप अनुभूत होता है। परब्रह्म दृश्य न होने पर भी उनकी शक्ति के आभास का अल्प विस्तार अनुभव होता है। अतएव मृगमद एवं उसकी गन्ध में, अग्नि एवं उसकी दाहिका शक्ति में, परब्रह्म एवं उनकी शक्ति में सम्पूर्ण अभेदत्व निष्पन्न नहीं होता है, कुछ भेद सूक्ष्मदृष्टि से रह ही जाता है, सम्पूर्ण भेद है, वैसा भी कहना असम्भव होगा, कारण जल का अम्लजान,

उदजान के समान कस्तुरी एवं उसकी गन्ध को सुगन्ध कस्तुरी के दो उपादान स्वीकार करने पड़ते हैं। उपादान स्वीकार लेने पर भी गन्ध के वाह्य निःसरण से कस्तुरी का बजन ही घटेगा, किन्तु वैसा नहीं होता है। सुतरां कस्तुरी एवं उसकी गन्ध को पृथक् दो वस्तु मानना भी असमीचीन होगा, उस प्रकार कस्तुरी एवं उसकी गन्ध के मध्य में केवल अभेद अथवा केवल भेद स्वीकारना दुष्कर है, अथच कुछ भेद भी है, कुछ अभेद भी है, वैसा स्वीकार करना आवश्यक है।

इस विषय में श्रीजीव गोस्वामीजी का कथन है–शक्ति को शक्तिमान् से सम्पूर्ण अभिन्न रूप से माना नहीं जा सकता है, उसमें भेद की प्रतीति होती है, उस प्रकार भिन्न भी नहीं माना जाता है, अभेद प्रतीति होती है, तज्जन्य शक्तिमान् के मध्य में युगपत् अभेद एवं भेद ही स्वीकार्य है, वह अचिन्त्य है अर्थात् श्रुतार्थापत्तिगम्य है। जो ज्ञान किसी भी युक्ति तर्क द्वारा प्रतिष्ठित नहीं होता है, अथच प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण अवश्य स्वीकार करना पड़ता है, वह ही अचिन्त्य ज्ञान है।

(श्रीविष्णुपुराण १।३।२) में उक्त है–समस्त भाववस्तु की शक्ति ही अचिन्त्य ज्ञानगोचर है। अचिन्त्य ज्ञान शब्द से श्रुतार्थापत्ति ही वाच्य है। यवक्षार तिक्त है, किन्तु क्यों तिक्त है ? इसका उत्तर नहीं है। विषपान करने से मृत्यु हो जाती है, किन्तु क्यों मृत्यु हो जाती है–इसका उत्तर नहीं है, अथच चिरन्तन सत्य है। आधुनिक विज्ञान भी यथार्थ उत्तर नहीं दे सकता है, जो चिर सत्य है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है, विज्ञान उसको अस्वीकार नहीं करता है, जिसको स्वीकार कर लेना ही पड़ता है, वह ही अचिन्त्य ज्ञान है। शक्ति एवं शक्तिमान् के मध्य में जो भेदाभेद सम्बन्ध है, वह भी अचिन्त्यगोचर है।

श्रीजीव गोस्वामीचरण का अचिन्त्य भेदाभेदवाद अति व्यापक है, प्राकृत एवं अप्राकृत उभय जगत् में ही इसकी व्याप्ति है। पूर्व में कहा गया है कि अद्वितीय अखण्ड परतत्त्व ही स्वाभाविक

अचिन्त्य शक्ति से सर्वदा ही (भगवत्स्वरूप, स्वरूपवैभव, धामादि, लीला परिकरादि) जीव एवं प्रधान (प्रकृति भेद से चतुर्धा प्रकटित होते हैं। सारार्थ यह है कि-परिदृश्यमान् मायिक ब्रह्माण्ड में यावतीय प्राकृत एवं अप्राकृत जगत् की वस्तुमात्र ही ब्रह्म के साथ अचिन्त्य भेदाभेद सम्बन्ध से ग्रथित हैं। इस सिद्धान्त में ही सकल श्रुति की समान मर्यादा प्रदर्शित हुई है। व्यवहारिक प्रतीति कहकर किसी की उपेक्षा नहीं की गयी है। जीव जगदादि सत्य वस्तु का मिथ्यात्व प्रतिपादन नहीं हुआ है। प्रकारान्तर से ब्रह्म में शक्ति मानकर भी 'कारणस्यात्मभूताः शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्।' (शा०भा० २।१) वाह्यतः अस्वीकार करके ब्रह्म को निःशक्तिक अतएव शून्यत्व कक्षा में स्थापन नहीं किया गया है। इससे ही माया का भी श्रुति, स्मृति विहित सन्तोषजनक समाधान होता है, श्रुति का, मुख्यार्थ का, त्याग से लक्षणा का आश्रय करने की आवश्यकता भी नहीं है, जीव ब्रह्म के मध्य में अचिन्त्य भेदाभेद सम्बन्ध होने के कारण भेदवाचक श्रुति वाक्य में भेदबुद्धि का प्राधान्य है एवं अभेदवाचक श्रुति वाक्य में अभेद दृष्टि का प्राधान्य सूचित है।

श्रीचैतन्यदेवजी के चरित्र एवं शिक्षा में यह वाद लीलायित एवं सुष्ठु विख्यात हुआ है। श्रीस्वरूपदामोदर कृत-'राधाकृष्णप्रणयविकृतिः' श्लोक की श्रीकृष्णदास कविराज कृत व्याख्या द्वारा वह तत्त्व व्यक्तीकृत हुआ है। श्रीराधा पूर्ण शक्ति, श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं।

दुइ वस्तु भेद नाहिं शास्त्र परमाण।
मृगमद तार गन्ध यैछे अविच्छेद।
अग्नि ज्वाला ते यैछे कभुँ नाहिं भेद।।
राधाकृष्ण यैछे सदा एकइ स्वरूप।
लीला रस आस्वादिते धरे दुइ रूप।।

तात्पर्य यह है कि पूर्णतमा शक्तिस्वरूपा श्रीराधा तथा पूर्णतम शक्तिमान् श्रीकृष्ण हैं, दोनों में एक तथा एक में दो हैं। अनादिकाल से ही उभय विग्रह स्वरूपतः अभिन्न होकर भी

लीलारस आस्वादन के निमित्त दो वपु होते हैं। दो वपु एक होने पर द्विदल युगात्म कलायवत् अभिन्न भाव से स्फूर्ति होने पर श्रीगौरस्वरूप होता है। वृहदारण्यक उपनिषत् में 'स ह एतावानास यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ वाह्यं न वेद न चान्तरम्।' उक्त संपरिष्यक्त पुरुष प्रकृति के एकीभूत वपु ही श्रीगौरांग हैं। 'नारी पुरुष कोइ लखइ ना पारये ऐछे परिरम्भण की भाँति।' यह तो भाव की लीला-'भाव आस्वादिते दोंहे हैला एक ठाँइ।' फिर भी उन दोनों की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भाव से इस आस्वादन के लिए होती है, तब वे दोनों श्रीराधाकृष्ण रूप में दो विग्रह होते हैं। 'अन्योन्ये विलसे रस आस्वादन करि।' एकात्मकत्व एवं भिन्नात्मकत्व अनादिकाल से प्राप्त है एवं चिर सत्य है। उभय लीला ही युगपत् नित्य है। (चै०चरिता० मध्य ८।१९३) 'पहिलहि राग' गीत में 'ना सो रमण, ना हाम रमणी' इस पद में अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व की परम पर्याप्तता है एवं भक्त भावुक रसिकगण के वह चिर अनुध्येय, सत्य आस्वाद्य हैं एवं श्रीकृष्ण आविर्भाव विशेष श्रीगौरांगदेव के अवतरण कारण भी उक्त वाद से सुशोभित है, विषय होकर आश्रयजातीय सुखास्वादन असम्भव, अतएव श्रीराधा के प्रणय की महिमा किस प्रकार है, मेरा माधुर्यास्वादन किसप्रकार है एवं उक्त माधुर्यानुभव से सुख किस प्रकार होता है, इन तीन वांछाओं की पूर्ति ब्रज में न हो सकी। अतः श्रीराधा भाव को ही अंगीकार कर श्रीकृष्णचैतन्यदेव का अवतार हुआ है।

परवर्त्तीकाल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में ब्रह्मसूत्र भाष्य की आवश्यकता हुई, कथानक यह है कि जयपुरस्थ गलतागादी के रामानुजीय महान्तगणों ने वहाँ के श्रीगोविन्ददेव के सेवायत बंगवासियों को असम्प्रदायी घोषित करके सेवाधिकार से उन्हें निष्कासित कर दिया था। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती के आदेश से तदीय शिष्य श्रीबलदेवविद्याभूषण एवं श्रीकृष्णदेव सार्वभौम ने जयपुर जाकर शास्त्रार्थ के द्वारा प्रतिपक्ष को पराजित करके पुनर्वार सेवाधिकार स्थापित किया था, प्रतिपक्ष के

आग्रह पर श्रीगोविन्ददेवजी के स्वप्न निर्दिष्ट भाष्य प्रणयण कर श्रीबलदेवविद्याभूषणजी ने उपस्थित किया था। ग्रन्थोपसंहार में आपने लिखा है। 'विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिंनिन्ये तेन यो मामुदारः श्रीगोविन्दस्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुराङ्गः स जीयात्। टीकाच–'गोविन्दनिरूपकत्वात् गोविन्देन प्रयोजकेन सिद्धत्वाद् वा गोविन्दभाष्यमित्युक्तमिति।' अर्थात् यह भाष्य गोविन्दतत्त्व निर्णायक अथवा श्रीगोविन्द ही इसके प्रयोजनकर्त्ता हैं, इसलिए यह श्रीगोविन्दभाष्य नाम से ख्यात है।

श्रीगोविन्दभाष्य में ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल एवं कर्म, यह पंचतत्त्व स्वीकृत है। (१) श्रीकृष्ण ही परमवस्तु हैं। हेतुत्वाद् विभुचैतन्यानन्दत्वादि गुणाश्रयात्। नित्यलक्ष्म्यादिमत्त्वाच्च कृष्णः परतमो मतः। (२) श्रीकृष्ण निखिल वेद वेद्य हैं। (३) विश्व सत्य है। (४) ब्रह्म विश्व में भेद सत्य है। (५) जीव अणु चैतन्य सत्य, नित्य एवं श्रीकृष्ण दास हैं। (६) जीव का साधनगत भेद स्वीकार्य है। (७) श्रीकृष्ण चरण प्राप्ति ही मोक्ष है। (८) पराभक्ति ही साधन है। (९) प्रत्यक्ष अनुमान शब्द प्रमाण है। यह श्रीमध्व मत की प्रतिध्वनि है। श्रीगोविन्दभाष्य में पाँच तत्त्व एवं नौ प्रमेय स्वीकृत हैं।

(ब्रह्मसूत्र १।१।३) में श्रीबलदेवविद्याभूषणजी ने लिखा है–'अथ जगज्जन्मादि हेतुः पुरुषोत्तमोऽविचिन्त्यत्वाद् वेदान्तेनैव बोध्यः, नतु तर्कैः।' इस प्रसंग में (गोविन्दभाष्य ३।२।३१) एवं तत्रत्य सूक्ष्मावृत्ति भी आलोच्य है। १।१।१६, १७, २१, १।३।३।२ प्रभृति सूत्र में भेदवाद का विचार आपने किया है, किन्तु गौड़ीयगण द्वैतवादी नहीं हैं, इसका सारार्थ श्रीचैतन्यचरितामृत में आदि सप्तम, मध्य षष्ठ एवं विंश अध्याय में भी विशेष रूप से आलोचित हुआ है।

श्रद्धालु व्यक्ति ही वेदान्त का अधिकारी है, श्रीकृष्ण ही उद्देश्य हैं, भक्ति ही साधन एवं प्रेम ही प्रयोजन तत्त्व है। सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवतादि भक्तिवाचक ग्रन्थ हैं।

सृष्टितत्त्व के विषय में भारतीयदर्शन में तीन प्रकार के मत हैं–आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद, न्याय एवं वैशेषिक आरम्भवादी हैं, इस मत में पार्थिव जलीय तैजस् वायवीय परमाणु द्व्यणुकादि के क्रम से ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् का आरम्भ अथवा सृष्टि करते हैं। उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् है, कारक व्यापार के वाद वह उद्भूत होता है। असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। अवयव से अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति होती है, जैसे सूत से वस्त्र की उत्पत्ति होती है, अवयव अवयवी भी भिन्न वस्तु हैं। इस मत में अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।

द्वितीय परिणामवाद है–इसमें दो भेद हैं–(प्रथम)–सांख्य, पातंजल पाशुपतादि। इस मत में सत्त्व, रज स्तमोगुणात्मक प्रधान अथवा प्रकृति ही महत् अहंकार इत्यादि क्रम से जगत्‌रूप में परिणत होती है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य कारण में, सूक्ष्मरूप में विद्यमान है। इस मत में अभाव से भावोत्पत्ति स्वीकृत नहीं है। प्राग्भाव ध्वंसाभाव भी स्वीकृत नहीं हैं। आविर्भाव, तिरोभाव को मानते हैं। इस मत में कारणमें कार्य अनभिव्यक्तरूप में रहता है। अभिव्यक्त होने से ही कार्य होता है। इस मत में कारण एवं कार्य अभिन्न है। (द्वितीयत:)–वैष्णवाचार्यगण इस मत के अवलम्बन से ब्रह्म परिणामवाद को अर्थात् ब्रह्म ही जगदाकार में परिणत हुए हैं, स्थापन करते हैं, विवर्त्तवादी कहते हैं–स्वप्रकाश परमानन्द ब्रह्म ही स्वमायावलम्बन से मिथ्याजगदाकार में कल्पित होते हैं। शंकर एवं उनके अनुयायीगण इस मत को मानते हैं।

वेदान्तदर्शन के प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान, तदनुकूल कर्मतत्त्व एवं सृष्टितत्त्व है। ब्रह्मसूत्र में तत्त्वज्ञान सम्बन्ध समधिक आलोचित होने पर भी सृष्टितत्त्व एवं कर्मतत्त्व की आलोचना गौण भाव से हुई है।

श्रीजीव गोस्वामीजी ने मध्वाचार्य कृत द्वैतवाद, रामानुज कृत विशिष्टाद्वैतवाद भास्कराचार्य कृत (निम्बार्क) भेदाभेद को भी स्वीकार न करके निज सिद्धान्त का दृढ़तर भित्ति में स्थापन किया है।

श्रीहरिभक्तिविलास एवं श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में इस सम्प्रदाय की वैधीभक्ति की उपासना प्रणाली सुविस्तृतरूप से वर्णित है, किन्तु ब्रजरस की उपासना ही मुख्य उपासना है। यह रम्या उपासना है और ब्रजबधूगण के द्वारा कल्पित उपासना है। यह प्रकट, अप्रकट में नित्य परकीयाभाव की उपासना है, आराध्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं, किन्तु श्रीराधा के प्राणबन्धुरूप में ही आराध्य हैं। 'रसो वै सः' 'आनन्दं' ब्रह्मेति व्यजानात्' मधु ब्रह्म, भूमा ब्रह्म, प्रभृति श्रुति प्रतिपाद्य पदार्थ परमतत्त्वरूप में स्वीकृत होने से गौड़ीयगणों ने ज्ञान साधन के ऊपर में भी प्रेमभक्ति को दार्शनिक भित्ति में प्रतिष्ठापित किया है एवं प्रेमभक्ति को ही लीलारसमय आनन्द माधुर्यमय श्रीश्रीगौरगोविन्द की उपासना का चरम उपाय निर्देश किया है। इस हेतु श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणि प्रेमदर्शन नाम से अभिहित होते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत अष्टम एवं द्वाविंश परिच्छेद में इस विषय के अनेक ज्ञातव्य विषय लिपिबद्ध हैं।

पंचदश शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीगौरांगदेव आविर्भूत हुए थे, इसके पूर्व से ही वैष्णवधर्म का प्रचार बंगदेश में था। श्रीजयदेव के श्रीगीतगोविन्द, चण्डीदास की पदावली बंगवासियों के हृदय के अनभिव्यक्त भावसमूह की आवेगमयी अभिव्यक्ति है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव के पूर्व बंग की राजधानी नवद्वीप के अर्थवैभव, विद्यावैभव एवं धर्मीय अवस्था प्रभृति के सुन्दर चित्र श्रीचैतन्यभागवत के आदिखण्ड के द्वितीय अध्याय में द्रष्टव्य है। धन, जन, विद्या से समृद्ध होने पर भी उस समय धर्म की अवस्था अति चिन्तनीय ही रही, यह विषय उक्त अध्याय में वर्णित है, किन्तु धर्म की महाग्लानि होने पर भी महाभागवतगणों का एकान्त अभाव नहीं था, 'कारण, स्वकार्य करेण सब भागवतगण। कृष्ण पूजा, गंगास्नान, कृष्णेर कथन॥' विशुद्ध वैष्णव पण्डित श्रीअद्वैताचार्य नित्य प्रेममय कलेवर श्रीनित्यानन्द, श्रीमद्गदाधर पंडित, श्रीवास, पुण्डरीकविद्यानिधि, श्रीरूप-सनातन, हरिदास,

मुरारि गुप्त, मुकुन्द प्रभृति के प्रचुर भक्तगण उस समय भी नवद्वीप एवं बंग के अन्यत्र प्रेमभक्ति के याजन, प्रचार एवं प्रसार करते रहते थे।

दीक्षा, गुरु–उपदेश, शास्त्रपाठ साधारणतः इन सभी उपायों से ही धर्म प्रचार–प्रसार होता है, किन्तु वह अति धीमी गति से सम्पादित होता है। कुछ अद्‌भुत एवं कुछ प्रीतिजनक अनुष्ठान न होने से सामाजिक चित्त उसमें सहसा आकृष्ट नहीं होता है। श्रीगौरांग प्रवर्त्तित धर्म में मनुष्य समाज के समस्त श्रेणी के जन ही समानरूप से आकृष्ट हुए हैं, इसमें सार्वभौम के समान भुवनविजयी पण्डित श्रीप्रकाशानन्द के समान काशीवासी, मायावादी संन्यासी कुलगुरु, यवन धर्मनिष्ठ, निरक्षर, दुर्विनीतपाठानसैन्य बिजली खाँ अति अकिंचन खोलाबेचा श्रीधर एवं विपक्ष नृपतिकुलकालाग्निरुद्र प्रतापरुद्र, नवद्वीप के शासनकर्त्ता–चाँद काजी एवं गौड़मण्डल के शासनकर्त्ता हुसैन शाह, नवद्वीप के महादुर्वृत्त जगाई–माधाई प्रभृति विपरीत भावापन्न सकल श्रेणी के लोक ही युगपत् श्रीगौरचरण के आनुगत्यकी मान लिए थे। तीक्ष्णबुद्धि नैयायिक रघुनाथ, सरल बुद्धि विष्णु भक्त श्रीवास, राजनीति में महापंडित श्रीसनातन, संसार ज्ञानलेश शून्य गोपालभट्ट, रघुनाथभट्ट, विपुल जमींदारी का अधीश्वर युवक रघुनाथदास, स्वरूपरामानन्द प्रभृति श्रीगौरांगदेव के गुण से अति आकृष्ट होकर सदा–सदा के लिए आत्मसमर्पण कर चुके थे। श्रीगौरांगदेव के अति अलौकिक सौन्दर्य सुतीक्ष्ण प्रतिभा, अलोक सामान्य पांडित्य प्रकर्ष, स्वभावसुलभ मधुरकथन प्रभृति सद्‌गुण कदम्ब ही सकल के चित्ताकर्षक थे। श्रीगौरांगदेव के दर्शन से ही सभी के अन्तःकरण में एक अभूतपूर्व प्रबलतर भक्तिभाव उदय होता था, जिससे सभी प्रकार के विरोध तथा समस्त प्रकार की आपत्तियाँ नष्ट हो जाती थीं। श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायाचार्य भी श्रीगौरांगदेव के गुण से अति आकृष्ट हो गये थे। श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला ७वें परिच्छेद में द्रष्टव्य है।

आविर्भाव के समय से ही श्रीगौरहरि श्रीहरिनामरूप साधन संकेत का स्वतः-परतः आचरण करके सभी के समक्ष में उच्चकण्ठ से 'श्रीहरिनाम संकीर्त्तन' का प्रचार-प्रसार किया था। वर्तमानकाल में विश्व में युगधर्मरूप में 'श्रीहरिनाम संकीर्त्तन' की जो प्रथा दिखायी देती है, इसके श्रीगौरांगदेव ही आदि प्रवर्त्तक हैं। आपको 'संकीर्त्तनैक पिता' कहा गया है। वस्तुतः श्रीगौरलीला ही 'नाम-संकीर्त्तन' का एक अभिनव विपुल इतिहास है।

सदाचार के सम्बन्ध में 'श्रीहरिभक्तिविलास' नामक एक विस्तृत स्मृति ग्रन्थ गौड़ीय की उद्भावना एवं महाकृतित्व को प्रकाश करता है। उपास्य देवता उक्त सम्प्रदाय के श्रीकृष्ण एवं श्रीगौरांगदेव हैं। श्रीराधाकृष्ण की युगलमूर्त्ति के समान श्रीगौर-गदाधर, श्रीगौर-नित्यानन्द, श्रीगौर-विष्णुप्रिया युगल श्रीविग्रह का प्रचार सर्वत्र है।

सर्वप्रथम श्रीवास के गृह में श्रीगौरचन्द्र श्रीश्यामसुन्दर के आसन में समासीन होकर पूजित हुए थे। श्रीचैतन्यचन्द्रोदय के तृतीय अंक में-अद्वैतप्रभु के सम्बन्ध में उक्त है-श्रीवास के वाक्य इस प्रकार हैं-'अस्माकमिदमेव वपुः प्रेमपात्रमत्र कः सन्देहः' इससे सुव्यक्त होता है कि-श्रीअद्वैताचार्य एवं श्रीवास श्रीगौररूप का ध्यान करते थे। श्रीवासुदेव सार्वभौम के सम्बन्ध में उक्त है-'सार्वभौम हैला प्रभुर भक्त एक तान। महाप्रभु बिने सेवा नाहिं जाने आन॥ श्रीकृष्णचैतन्य शची सुत गुण धाम।'

'एइ ध्यान, एइ जप, एइ लय नाम।' (चैतन्यचरितामृत मध्य ६।२५७-२५८), इस प्रकार श्रीहरिदास ठाकुर, श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती प्रभृति भी अनन्य भक्त थे।

'सम्प्रदाय' शब्द का श्रीगुरु-परम्परागत सदुपदेश अर्थ है। भरत के मत में-'शिष्यप्रशिष्यपरम्परावतीर्णोपदेशः सम्प्रदायः।' 'आम्नायः सम्प्रदायः' इति अमरः। आदि श्रीगुरु ब्रह्मा से श्रीगुरु-परम्परा प्राप्त ब्रह्मविद्यानाम्नी श्रुति ही आम्नाय है। यह आम्नाय वाक्य अथवा शिष्य परम्परावतीर्ण उपदेश का लाभ एकमात्र सत्सम्प्रदाय से ही होता है। (मुण्डक उप० १।१।१, १।२।१३) प्रभृति में श्रीगुरु-परम्परागत उपदेश अथवा सत्सम्प्रदाय स्वीकार

की प्रयोजनीयता लिखित है। (उद्धवगीता १४।४४।३-८) में श्रीभागवत सम्प्रदाय प्रवर्त्तकरूप में श्रीब्रह्माजी को कहा गया है। अतएव ब्रह्म सम्प्रदाय नूतन नहीं है। अवैदिक भी नहीं है।

'संशब्दोऽत्र सम्यगर्थः 'प्र' प्रकृष्टार्थ एव च। दाय सम्पर्क इत्युक्तः सम्प्रदाय विचक्षणैः इति।' गौरगण स्वरूपतत्त्वचन्द्रिका, वैदिक सम्प्रदाय विशेष ही गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय है।

जिस सम्प्रदाय के आराध्य ही स्वयं भगवान् श्रीगोविन्द हैं, तदीय आविर्भाव विशेष ही जिस सम्प्रदाय के प्राणसर्वस्व स्वसम्प्रदाय सहस्राधिदेव हैं। अनादिदेव कल्पतरु से जिसका आविर्भाव है, श्रीशुकनारदादि परमहंसगण जिस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं। ब्रह्मा, शिव, ध्रुव, प्रह्लादादि जिसके पथप्रदर्शक हैं एवं जगत्पूज्य श्रीरूप-सनातनादि गोस्वामिगण जिस सम्प्रदाय के आचार्य हैं, उस सम्प्रदाय का उत्कर्ष स्वतः सिद्ध है।

वैदिक सम्प्रदाय शब्द से किसका बोध होना आवश्यक है? उत्तर-जो लोक वेद एवं वेदमूलक पुराणादि शास्त्र का अपौरुषेयत्व मानते हैं एवं उन-उन शास्त्र वाक्य में जिनका अटल विश्वास है, उपासनादि विषय में एकमात्र वेद ही जिनका मुख्य प्रमाण है, लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण निचय का अत्यन्त अविषय परमतत्त्व ही जिनका आराध्य है, कर्म, ज्ञान एवं भक्ति यह वैदिक तत्त्वत्रय में जो लोक एकान्त परिनिष्ठित हैं। वैदिक आचार्य के चरणाश्रय को ही जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रधान उपाय कहा है-वे सबही वैदिक सम्प्रदाय हैं, तद्विपरीत होने से ही जड़ विज्ञानवादी नास्तिक एवं अवैदिक हैं।

श्रीचैतन्य मत मंजूषाकार द्वारा श्रीचैतन्य मत का संक्षिप्त संचयन यह है।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनय स्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थोमहान्।
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

-श्रीहरिदासशास्त्रि

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्॥

▫ श्रीसाधनदीपिका ▫

-नवम कक्षा-

अथ मुख्यं तत्त्वं निरूप्यते; (श्रीभागवते १।२।११)—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥१॥

अत्र तत्तत्त्वत्रयेषु भगवानेव मुख्यः। भगवान् स्वयं भगवान्, स तु श्रीकृष्णो ब्रजेन्द्रनन्दनो गोविन्द एव; तत्र प्रमाणं (ब्र०स०५।१)।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्व्वकारणकारणम्॥२॥

यत्तु ब्रह्म, तदस्यैव प्रभारूपम्; यथा (ब्र०सं० ५)—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि—
कोटिष्वशेषवसुधादि—विभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥३॥

-नवम कक्षा-

(१) अनन्तर मुख्यतत्त्व का निरूपण करते हैं, (भा० १।२।११) में तत्त्वविद्गण एक अद्वय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं और उसको ब्रह्म परमात्मा एवं भगवान् इन तीन शब्दों से कहते हैं। (२) उक्त तत्त्व तीन तत्त्वों में मुख्यतत्त्व भगवान् ही हैं, भगवान् शब्द से स्वयं भगवान् को जानना होगा, वह श्रीकृष्ण हैं, जिनको ब्रजेन्द्रनन्दन गोविन्द नाम से ही कहते हैं, उसमें प्रमाण (ब्रह्मसंहिता ५।१) सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं, वे अनादि आदि गोविन्द एवं सर्वकारण कारण हैं। (३) जो ब्रह्म है, वह भी उनका प्रभारूप ही

तत्र श्रीमद्भगवद्गीता (१४।२१) 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यादि। (४) यश्च परमात्मा, स तु अस्य भगवतोऽंशांशरूप:; यथा द्वितीये (भा० २।२।८)–

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति।।

(५) कृष्ण–ब्रह्मणोरैक्यम् (भ० र० सि० १२।२१८) 'किरणार्कोपमाजुषो:' इत्यादे:; अतस्तत्तत्त्व – त्रयेषु परम–तत्त्वस्वरूपस्य स्वयंभगवतो मुख्यत्वं दृश्यते। तस्माद् योगत्रयेषु भक्तियोग एव मुख्य:; स तु (भ० र०सि० १।१।११) 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' इत्यादौ उत्तमत्वेन गृहीत:; यथा (भा० ११।११।४८)–

(६) 'प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सम्यक् प्रायणं हि सतामहम्।।' इत्यादे:।

है, (बह्मसंहिता ५।४०) जिस ज्योतिर्मय की प्रभा ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डादि में पृथक्–पृथक् रूप में प्रतिभात होती है, उसको ब्रह्म, निष्कल अनन्त शब्द से कहते हैं, उस आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करूँ। (गीता० १४।२७) में उक्त है, मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। (४) जो परमात्मा हैं वह भी उन भगवान् के अंश के अंशरूप हैं, (भा० २।२।८) में उक्त है, हृदय में निवासशील चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी पुरुष का स्मरण कुछ व्यक्ति एकाग्र मन से करते हैं। (५) श्रीकृष्ण एवं ब्रह्म में ऐक्य है, उसको सूर्य किरण एवं सूर्य के समान जानना होगा। (भ०र०सि० १।२।२७८) अतएव तत्त्वत्रय में परमतत्त्व श्रीभगवान् ही हैं, अतएव योगत्रय में भक्तियोग ही मुख्य है, वह भक्तियोग (भ०र०सि०) 'अन्याभिलाषिता' शून्य ज्ञान कर्माद्यनावृत आनुकूल्य से कृष्णानुशीलन का ही उत्तमाभक्ति शब्द से ग्रहण हुआ है। (६) हे उन्द्रव ! सत्संग प्रभवा भक्ति को छोड़कर मुझको प्राप्त करने का अपर कोई उपाय नहीं है।

(भ०र०सि० १।२।१–५)–

(७) सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।
वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिदा॥

तत्र रागानुगाया मुख्यत्त्वम्, यथा (भ०र०सि० १।२।२८१)–

(८) रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो ब्रजन्त्यमी।
अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रिया जनाः॥

(९) (भ०र०सि० २।५।१) 'वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद्भक्तिरेषापि गच्छति' इति। यथाविध–स्वरूपानुगत्यलक्षणं श्रीमत्प्रभु (रूप) चरणैः (भ०र०सि० १।२।२१०)–

(१०) विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥

इति पूर्व्वं विचारितमस्ति। (भा० १०।१४।७२)–

(११) अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(१२) अथ रागानुगा, सा द्विधा–सम्बन्धानुगा कामानुगा च।

---

(७) भक्तिरसामृतसिन्धु–वह भक्ति साधन भाव प्रेम भेद से तीन प्रकार है, साधन भक्ति वैधी एवं रागानुगा भेद से दो प्रकार है। (८) उसमें रागानुगा भक्ति ही श्रेष्ठ है। (भ०र०सि० १।२।२८१) प्रेममयी तृष्णारूप राग के द्वारा भजन करके श्रीचरण सुधा को कुछ व्यक्ति प्राप्त करते हैं। (९) पात्र विशेष से ही भक्ति का वैशिष्ट्य होता है, (भ०र०सि० २।५।७) यथाविध स्वरूपानुगत्य का लक्षण श्रीरूप गोस्वामीचरण ने लिखा है, ब्रजवासीजन प्रभृति में जो भक्ति मूर्त्तिमती होकर विराजित है, उसका नाम ही रागात्मिका है, उसकी आनुगत्यमयी भक्ति का नाम ही रागानुगा भक्ति है, इसका विचार पूर्व में किया है, (भा० १०।१४।३२) में उक्त है, नन्द ब्रजवासियों के भाग्य अद्भुत आश्चर्यजनक हैं, पूर्णब्रह्म परमानन्द सनातन ही जिनके मित्र हैं। (१०,११,१२) अनन्तर रागानुगा को कहते हैं–रागानुगा दो प्रकार की होती हैं।

तत्र कामानुगा मुख्या; सा द्विधा सम्भोगेच्छामयी तत्तद्-भावेच्छामयी च। (भ०र०सि० १।२।२९९)–

(१३) केलितात्पर्य्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत्।
तद्भावेच्छात्मिका तासां भावमाधुर्य्यकामिता।।

तत्राधिकारी (भ०र०सि० १।२।३)–

(१४) श्रीमूर्त्तेर्माधुरीं वीक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनतानयोः।। इति।

मत्तोऽस्य सुखं भूयादिति सम्भोगेच्छामयी; मत्तोऽनयोः सुखं भूयादिति तत्तद्भावेच्छामयीति द्वयोर्भेदः।

(१५) यथा (भा० १०।४४।१४)–

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं,
लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य।।

सम्बन्धानुगा–कामानुगा, इसमें कामानुगा मुख्य है, वह दो प्रकार की हैं–सम्भोगेच्छामयी एवं तत्त्वद् भावेच्छामयी (भ०र०सि० १।२।२९९) केलिलीला में तात्पर्य रखने वाली को सम्भोगेच्छामयी कहते हैं, उन–उन भाव के प्रति लालसायुक्ता होती है, उसमें भावमाधुर्यास्वादन की कामना रहती है। (१३) उसके अधिकारी–(भ०र०सि० १।२।३)–श्रीमूर्त्ति की माधुरी को देखकर अथवा सुनकर–उस भाव प्राप्ति की आकांक्षा जिसमें जागृत होती है, वह अधिकारी होता है, हमसे उनका सुख हो, इसको सम्भोगेच्छामयी कहते हैं, हमसे श्रीराधा–कृष्ण दोनों ही सुखी बनें, इस कामना वाले को तत्तद् भावेच्छामयी कहते हैं, इससे ही दोनों का भेद जानना होगा। (१४, १५) (भा०१०।४४।१०) में–रंगमंच में श्रीकृष्ण को देखकर माथुर रमणीगण कहती हैं–हमने तो श्रीकृष्ण को अनवसर में ही देखा, गोपीगण भाग्यवती हैं, उन्होंने ऐसी कौन–सी

आदि पुराणे–

(१६) त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या यत्र वृन्दावनं पुरी।
तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिदा मम।।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ च (२।५।३८)–

(१७) 'यथोत्तरमसौ' इत्यादि; (भ०र०सि० १।२।२८६)–
'इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः' इति;

(१८) तद् यथा (भा० १०।४७।६१)–
'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।

(१९) ब्रह्मस्तुतिः (भा० १०।१४।३४)–
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद्गोकुलेषु कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्। इत्यादि।

तपस्या की जिससे लावण्यसार असमोर्द्ध अनन्यसिद्ध रूप को उन्होंने देखा। वह ईश्वर की परम सीमा है एवं नवनवायमान है, उसको भी गोपियों ने निज नेत्रों से ही देखा। (१६) आदि पुराण में उक्त है–तीन लोक में पृथ्वी धन्या हैं, जहाँ पर श्रीवृन्दावनपुरी विराजित है, उसमें भी गोपिकाजन श्रेष्ठा हैं; और उनमें से श्रीराधानाम्नी गोपिका मेरी अत्यन्त प्रिया हैं। (१७) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु (२।५।३८) में उक्त है–विशेष उल्लास एवं आस्वादन से ही रति में तारतम्य होता है। (भ०र०सि०१।२।२८६) इसलिए उस भाव की वाञ्छा भगवत्प्रिय उद्धव प्रभृति भी करते हैं। (१८) (भा० १०।४७।६१) अहो मैं इस श्रीवृन्दावन में तरु गुल्मलता औषधि बनकर जन्म ग्रहण क्यों न करूँ, जिससे उन गोपिकाओं की चरणरेणु मुझे प्राप्त होगी, जिन्होंने दुस्त्यज स्वजन आर्य पथ को त्यागकर मुकुन्द के श्रीचरणारविन्द के भजन को सार किया, जिसका अन्वेषण श्रुतिगण करती रहती हैं। (१९) ब्रह्मस्तुति (१०।१३।३४) में उक्त है, मैं

(२०) अतो ब्रजवासिजनादिषु विराजमानाया रागात्मिकाया मुख्यत्वेन रागानुगाया मुख्यत्वम्, तदनुसरणत्वात्। अस्यामेव रागानुगायां गृहस्थोदासीन–भेदेनाधिकारिणो द्विविधा दृश्यन्ते; तत्र उदासीना मुख्याः।

(२१) तद् यथा श्रीनारद–वाक्ये (भा० १।५।५)–

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य्यदेहिनां,
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं,
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।। इत्यादि।

(२२) किञ्च, भक्ताञ्च द्विविधाः–ऐश्वर्य्यानुभविनः, माधुर्य्यानुभविनश्च ऐश्वर्य्यं तावद्देवलीला–देवचेष्टा–देववपुरित्यादिकम्; माधुर्य्यं च नरलीला–नरचेष्टा–नरवपुरित्यादिकम्;–किञ्च–ऐश्वर्य्य–विना माधुर्य्यस्य नित्यता न सम्भवति, केवल–नरचेष्टा–साधर्म्म्येण मायिक त्वापातान्माधुर्य्यस्याप्यसिद्धेः। माधुर्य्यं विना भक्तप्रेमहानिः स्यात्; तत्र श्रीमद्भागवतं तथा श्रीलघुभागवतामृतंप्रमाणम्–

उसको ही सुमहान् भाग्य समझूँगा यदि इस श्रीवृन्दावन में कुछ नगण्य जन्म भी मेरा हो, इससे गोकुलवासी उन किन्हीं के चरणरेणु से अभिषिक्त होने का सौभाग्य होगा। (२०) अतएव ब्रजवासीजनादि में विराजित मुख्य रागात्मिका का अनुगत रागानुगा की ही मुख्यता है, इसमें उसका ही अनुसरण है, अनुकरण में भक्ति नहीं होती है, इस रागानुगा में गृहस्थ उदासीन भेद से दो प्रकार अधिकारी हैं, उसमें उदासीनगण श्रेष्ठ हैं। (२१) श्रीनारदजी के वाक्य (भा० ७।५।५) में इस प्रकार से हैं, प्रह्लादजी ने कहा– हे असुरवर्य ! मैं उन्हें ही साधु मानता हूँ जो कि निरन्तर उद्वेग अहंकार द्वारा अन्धकूपरूप आत्मपतनकारी गृह को त्यागकर वन में चले जाना एवं एकान्तभाव से श्रीहरिः की शरण ग्रहण कर लेना। (२२) भक्त द्विविध होते हैं–ऐश्वर्यानुभवी एवं माधुर्यानुभवी। ऐश्वर्य–देवलीला, देवचेष्टा, देववपु इत्यादि। माधुर्य – नरलीला

(२३) किम्वासनं ते गरुड़ासनाय,
किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय।
लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं,
वागीश किं ते वचनीयमास्ते ? इत्यादेः।

(२४) ऐश्वर्य्य माधुर्य्यानुभविभक्तानां द्विविधत्वेऽपि पुनश्चतुर्विधा भक्ताः-

यस्य वासः पुराणादौ ख्यातः स्थानचतुष्टये।
ब्रजे मधुपुरे द्वारवत्यां गोलोक एव च।।

श्रीलघुभागवतामृते च (१।७६७-८)-

ब्रजेशादेरंशभूता द्रोणाद्या येऽवातरन्।
हरिस्तानेव वैकुण्ठे प्राहिणोदिति साम्प्रतम्।।
प्रेष्ठेभ्योऽपि प्रियतमैर्जनैर्गोकुलवासिभिः।
वृन्दारण्ये सदैवासौ विहारं कुरुते हरिः।।

नरचेष्टा, नरवपु इत्यादि और भी ऐश्वर्य के विना माधुर्य की नित्यता सम्भव नहीं है, केवल नरचेष्टा साधर्म्य से मायिक होने पर माधुर्य की सिद्धि नहीं होगी। माधुर्य को छोड़ने से भक्त प्रेम की हानि होती है, इसमें श्रीमद्भागवत एवं लघुभागवतामृत प्रमाण हैं। (२३) आपका आसन गरुड़ है, अतः आपको मैं आसन क्या दूँ ? आपका भूषण कौस्तुभ है, आपको मैं भूषण ही क्या दूँ? लक्ष्मी आपकी परिकर है, अतः आपको देना ही क्या है ? आप तो सरस्वती पति हैं, अतः मैं आपकी क्या स्तुति करूँ। (२४) ऐश्वर्य माधुर्यानुभवि भक्तगण दो प्रकार के होने से भक्तों की संख्या चार है। (२४) पुराणादि में जिसका विवरण है, वह स्थान ब्रज, मधुपुर, द्वारका, गोलोक इन स्थानों के निवासी होने से स्थान भेद से भक्तों का भेद होता है। लघुभागवतामृत में उक्त है-(१।७।६७-८) ब्रजेश्वर प्रभृति के अंशस्वरूप द्रोण धरा प्रभृति का जो अवतार हुआ था, उन सभी को श्रीहरिः ने वैकुण्ठ में भेज दिया। प्रेष्ठ प्रियतम गोकुलवासी जनगण के सहित श्रीवृन्दावन में श्रीहरिः

बृहद्गणोद्देशदीपिकायाम् (१२५)–

'सर्वा एवाखिलं कर्म जानन्ते।' इत्यादि।

तथाहि लघुभागवतामृते (१।७७७)–

यत्तु गोलोकनाम स्यात्तत्तु गोकुलवैभवम्।। इति।।

तथापि स्तवमालायां (नन्दापहरणं) च–

'वैकुण्ठं यः सुष्ठु संदर्श्य' इत्यादि।

(२५) श्रीकृष्णसन्दर्भे (११६ अनु०) श्रीवृन्दावने गोलोक दर्शनन्तु तस्यैवापरिच्छिन्नस्य गोलोकाख्य–वृन्दावनाप्रकट प्रकाशविशेषः पर्य्यवस्यतीति माहात्म्यावलम्बनेन भजतां स्फुरतीति ज्ञेयम्। तत्तु न केवलमुपासनास्थानमेवेदम् प्राप्तिस्थानमिदमेव।

तत्रोपासकाश्चतुर्विधाः–केवलैश्वर्य्यानुभविनः, माधुर्य्य–मिश्रैश्वर्य्यानुभविनः, ऐश्वर्य्यमिश्र–माधुर्य्यानुभविनः केवलमाधुर्य्यानुभविनश्च। तत्र केवलैश्वर्य्यानुभविनां स्थानं वैकुण्ठम्, माधुर्य्यमिश्रैश्वर्य्यानुभविनां महावैकुण्ठ – परव्योम–

सर्वदा विहार करते हैं। (बृहद्गणोद्देशदीपिका १२५) में लिखित है–वे सभी श्रीकृष्ण को ही अपना मानते हैं। लघुभागवतामृत (१।७७७) में गोलोक नामक स्थान गोकुल का वैभव है। स्तवमाला में उक्त है–वैकुण्ठ को दिखाकर गोकुल ले आये। (२५) (श्रीकृष्णसन्दर्भ ११६ अनु०) में उक्त है–श्रीवृन्दावन में जो गोलोक दर्शन होता है उसका कारण यह है कि अपरिच्छिन्न श्रीवृन्दावन का अप्रकट प्रकाश विशेष ही गोलोक है, जो लोक–माहात्म्य ज्ञान से भजन करता है उसके निकट श्रीवृन्दावन में गोलोक की स्फूर्ति होती है, अतएव दृश्यमान श्रीवृन्दावन मात्र उपासना करने का स्थान ही नहीं है, किन्तु परम प्राप्य स्थान भी यह ही है। उपासकगण चार प्रकार के होते हैं–केवल ऐश्वर्यानुभवी, माधुर्यमिश्र, ऐश्वर्यानुभवी, ऐश्वर्यमिश्र, माधुर्यानुभवी, केवल माधुर्यानुभवी। केवल ऐश्वर्यानुभवी का स्थान वैकुण्ठ है। माधुर्यमिश्र ऐश्वर्यानुभवी का स्थान महावैकुण्ठ परव्योम गोलोक है। ऐश्वर्यमिश्र माधुर्यानुभवी का स्थान मथुरा, द्वारका है। केवल माधुर्यानुभवी का स्थान श्रीवृन्दावन ही है।

गोलोकम्, ऐश्वर्य्य – मिश्रमाधुर्य्यानुभविनां पुरद्वयम्, केवलमाधुर्य्यानुभविनां तु श्रीवृन्दावनम्।
(भक्तिरसामृतसिन्धु १।२।३०३)–

रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात् पुरे।।इत्यादि।

किञ्च, स्वकीया–परकीययोर्मध्ये परकीयायामेव मुख्यो रसो जायत इति पूर्व्वं विचारितोऽस्ति। अतो रतिस्त्रिधा– साधारणी, समञ्जसा, समर्था च। तत्र साधारणी सम्भोगेच्छा– निदाना कुब्जादिषु समञ्जसा तु पत्नीभावाभिमानमयी क्वचिद् भेदित सम्भोगेच्छासान्द्रा रुक्मिण्यादिषु। समर्था खलु स्वस्वरूपजाता श्रीकृष्णसुखस्वरूपा सान्द्रतमा श्रीराधिकादिषु; यथा–(उज्ज्वलनीलमणि स्थायी० ५३)

स्वस्वरूपात्तदीयाद्वा जाता यत् किंचिदन्वयात्।
समर्था सर्वविस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता।।

(भ०र०सि० १।२।३०३) में रमणेच्छा को लेकर जो जन विधिमार्ग से सेवा करते हैं उनकी प्राप्ति पुर में महिषी के परिकर रूप में होगी और भी स्वकीया–परकीया के मध्य में परकीया में ही मुख्यरस होता है, इसका विचार पूर्व में हो चुका है। अतएव रति तीन प्रकार हैं–साधारणी, समञ्जसा, समर्था, सम्भोगेच्छा से प्रेरित कुब्जादि में साधारणी, समञ्जसा, पत्नीभाव, अभिमानमयी कभी निविड़ सम्भोगेच्छायुक्त रुक्मिणी प्रभृति है। समर्था तो निज स्वरूप से ही उत्पन्न होती है, निविड़तम श्रीकृष्ण सुखस्वरूप ही होता है। यह केवल श्रीराधिकादि में होती है, (उज्ज्वलनीलमणि स्थायी० ५३) स्वस्वरूपोत्थ होने के कारण साधारणी, समञ्जसा रति से भी अनिर्वचनीय वैशिष्ट्य समर्था में है अर्थात् श्रीकृष्ण वशीकारत्वातिशय्य प्राप्ता रति के साथ सम्भोगेच्छा सर्वथा तादात्म्य रति स्वरूपता प्राप्त करती है जो ललनानिष्ठ स्वरूप से अथवा श्रीकृष्णनिष्ठ शब्दादि के जिस किसी एक के यत् सामान्य नाममात्र सम्बन्ध से ही आविर्भूत होती है, जिसकी उदय के गन्धमात्र से ही

(२६) किञ्च, मन्त्रमयी–स्वारसिक्योर्म्मध्ये स्वारसिकी श्रेष्ठा। स्वाररसिकी चात्र श्रीराधाप्राणबन्धोरित्यत्र मानस्यामपि सेवायां सद्‌भवात्। अतएव श्रीगीतायाम् (१२।१०)–

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म–परमो भव।
मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्व्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।। इति।

अभ्यासो नाम मनोयोगो, मत्कर्म श्रवणकीर्त्तनादि। श्रीहरिभक्तिविलासे (२० वि० उपसंहार)–'एवमेकान्तिनः प्रायः कीर्त्तन–स्मरणे प्रभोः। कुर्व्वन्ति परमप्रीत्या' इत्यादि। एवं भक्तिसन्दर्भे च सनत्कुमार संहितायां च–

सद्धर्म्मशासको नित्यं सदाचार–नियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते।।

टीका–विरागी विशिष्टरागवान्; तस्माद्दोषदृष्ट्या विषयपरित्यागः सुतरां लभ्यते। तथाहि (विष्णुपुराणे)–

कुल, धर्म, धैर्य, लज्जादि समस्त विघ्न–बाधायें विस्मृत होती हैं एवं जो निविड़तमा है अर्थात् जिसमें अन्य भाव का लेशमात्र भी प्रवेश नहीं हो सकता है, वह ही शास्त्र सम्मत समर्था रति है। (२६) मन्त्रमयी स्वारसिकी के मध्य में स्वारसिकी श्रेष्ठ है, स्वारसिकी श्रीराधा प्राणबन्धु की मानसीसेवा में विद्यमान है। गीता में उक्त है–अभ्यास करने में असमर्थ हो तो मेरी सेवा का कर्म करो, मेरे लिए कर्म करने पर भी सिद्धि प्राप्ति होती है। मनोयोग को अभ्यास कहा जाता है, उनका कर्म–श्रवण–कीर्त्तनादि, श्रीहरिभक्तिविलास के (२० वि०) उपसंहार में उक्त है, एकान्ति व्यक्ति के लिए प्रायःकर श्रवण–कीर्त्तन ही विधेय है, इस प्रकार भक्तिसन्दर्भ एवं सनत्कुमारसंहिता में उक्त है, सत्धर्म का शासक, सर्वदा सदाचार का रक्षक, सम्प्रदायी कृपापूर्ण विरागी गुरुजन होने के योग्य है। विरागी शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण के प्रति विशिष्ट रागवान् है, अतएव दोष को देखकर विषय का परित्याग उनमें स्वाभाविक रहता है। श्रीविष्णुपुराण में उक्त है–विषयाविष्ट चित्त

विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः।
वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात् ?

'गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन' इति च।

श्रीनारदवाक्ये (भा० १।५।५)—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य्य देहिनां, सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं, वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।।

(भा० ११।७।६) भगवदुक्तौ—

त्वन्तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्वगाम्।।

(भा० १।५।१७)—

त्यक्त्वा स्वधर्म्मं चरणाम्बुजं हरे,
र्भजन्नपक्कोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं,
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।। इति।

के लिए श्रीविष्णु में आवेश कभी भी नहीं होगा, पश्चिमदिक् में स्थित वस्तु की प्राप्ति के लिए पूर्वदिक् की ओर चलने से क्या उस वस्तु की प्राप्ति होगी।

गृहारम्भ ही दुःख का हेतु है, कभी भी सुख के लिए नहीं है, (भा० ७।५।५) में कहा गया है—उसको ही साधु कहा जाता है जो आत्मनाशकारी अन्धकूप गृह को त्यागकर वन में जाकर श्रीहरि को वरण करता है। (भा० ११।७।६) भगवत् की उक्ति में तुम तो स्वजन-बन्धु के प्रति समस्त ममता को त्यागकर मुझमें मनोनिवेश करके सम्यक् समदर्शी होकर पृथ्वी पर विचरण करो। (भा० १।५।१७) स्वधर्म को त्यागकर श्रीहरिः का भजन करते-करते अपक्व अवस्था में भी पतन हो जाय तो भी संसारी होने की सम्भावना ही नहीं है, अतः वर्णाश्रमधर्म से श्रीहरिभजन की आवश्यकता ही क्या है।

(गीता० १८।६६)–

सर्व्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।। इति।

(गीता० ९।३०)–

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।।

(गीता० ९।२२)–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। इत्यादि बहुशः।

(२७) विशेषतो रागानुगाधिकारि–लक्षणं दर्शयति–

(भ०र०सि० १।४।७)–

न पतिं कामयेत् कचिंत् ब्रह्मचर्य्यस्थिता सदा।
तामेव मूर्त्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना।।

इत्यत्र ब्रह्मचर्य्य खल्वष्टविधसम्भोगपरित्यागः; अजामिलोपाख्याने (भा०६।१।१२) श्रीश्रीधरस्वामि–चरणैरप्युक्तम्–

(गीता० १८।६६), समस्त धर्मों को त्यागकर मेरी ही शरण ग्रहण करो। (गीता० ९।३०), सुदुराचारीजन भी यदि अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं तो उन्हें भी साधु मान लेना चाहिए। कारण–उसका निश्चय उत्तम है, उसने उचित ही किया है, इस प्रकार प्रचुर प्रमाण हैं।

(२७) विशेषकर रागानुगा अधिकारी के लक्षण को कहते हैं–(भ०र०सि० १।४।७) वरानना चन्द्रकान्ति ने ब्रह्मचर्य में स्थित होकर पतिवरण नहीं किया, केवल श्रीहरिः के श्रीविग्रह का ही ध्यान करने लगीं। यहाँ पर ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ–अष्टविध सम्भोग का परित्याग, अजामिल उपाख्यान में श्रीधरस्वामिचरण ने कहा है–स्मरण, कीर्त्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्य भाषण, संकल्प, अध्यवसाय एवं क्रिया निवृत्ति, इस अष्टांग को मनीषिगण मैथुन कहते हैं इसके विपरीत ही ब्रह्मचर्य होता है। भगवत् परिकरों में जो विषय

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृतिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टागं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।इत्यादि।

ये तु भगवत् परिकराणां विषया दृश्यन्ते, ते तु सिद्धानांतेषां भवबन्धनाय न भवन्ति, 'नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्' इत्यादेः। किंच श्रीस्वामिचरणैः–'गृहस्थितस्य पुनरासक्ति–सम्भवात्' इत्यादेः।

प्रसंगात् शिष्यलक्षणम् (ह०भ०वि० प्रथमविलासधृतमंत्र–मुक्तावलीवाक्यम्)–

शिष्यः शुद्धान्वयः श्रीमान् विनीतः प्रियदर्शनः।
सत्यवाक् पुण्यचरितोऽदभ्रधीर्दम्भवर्जितः।।
कामक्रोधपरित्यागी भक्तश्च गुरुपादयोः।
देवताप्रवणः कायमनोवाग्भिर्दिवानिशम्।।
निरुजो निर्गताशेषपातकः श्रद्धयान्तितः।
देवद्विजपितॄणाञ्च नित्यमर्चापरायणः।।
युवा विनियताशेषकरणः करुणालयः।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तः शिष्यो दीक्षाधिकारवान्।। इत्यादि।

प्रतीयमान होते हैं, वे सभी उन सिद्धों के लिए भवबन्धन के कारण नहीं बनते हैं, नित्यसिद्धगण मुकुन्द के तुल्य ही होते हैं, स्वामिचरण ने कहा है–गृहस्थित की पुनरासक्ति की सम्भावना है। प्रसंगवश शिष्य लक्षण को कहते हैं–(ह०भ०वि० प्रथमविलाधृत–मंत्रमुक्तावली) के वाक्य इस प्रकार हैं–शिष्य कौन होगा ?

विशुद्ध माता–पिता से उत्पन्न, धनी, विनीत, प्रियदर्शन, सत्यनिष्ठ, पुण्यचरित, उच्चादर्श, दम्भवर्जित, काम, क्रोध परित्यागी, श्रीगुरुचरण के भक्त, काय, वाक्य, मन से देवता प्रवण, रोगहीन, अशेष पातकहीन, श्रद्धालु देवद्विज, पिता प्रभृति के प्रति श्रद्धाशील, नित्य अर्चना परायण, युवक, संयत सकलेन्द्रिय, करुणापूर्ण–इत्यादि लक्षणयुक्त शिष्य ही दीक्षा के लिए अधिकारी होता है।

(२८) नन्वनुकार्यज्ञानं विना कथमनुसरणज्ञानम् ? इत्यत आह (भ०र०सि० १।२।२७१)–

रागानुगा–विवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते ॥

टीका–अथ स्वरूपलक्षण–तटस्थलक्षणाभ्यां तामेवोपपादयति (भ०र०सि० १।२।२७२)–

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥

टीका–इष्टे स्वाभीप्सितप्रेमविषये श्रीनन्दनन्दने इति यावत्: स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता कायिकी वाचिकी मानसी चेष्टा, सा रागो भवेत्; तन्मयी तन्मात्रप्रेरिता या भक्तिः सा रागात्मिकोदितेति योजना। इष्टे प्रेममयगाढ़तृष्णेति स्वरूपलक्षणम्; इष्टे स्वारसिकी परमाविष्टतेति तटस्थलक्षणम्।

---

(२८) अनुकार्य ज्ञान के बिना अनुसरण ज्ञान कैसे होगा? इसलिए (भ०र०सि० १।२।२७३) में कहते हैं–रागानुगा विवेक के लिए प्रथम रागात्मिका का परिचय देते हैं। स्वरूप लक्षण तटस्थ लक्षशः के द्वारा उसको कहते हैं, (भ०र०सि० १।२।२७२) इष्ट में स्वाभाविक परमाविष्टता को राग कहते हैं, उससे जो सेवा होती है, उसको रागात्मिका कहते हैं, इसका अर्थ, इष्ट में स्वाभीप्सित प्रेम का विषय श्रीनन्दनन्दन में, स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता कायिकी, वाचिकी, मानसी चेष्टा ही राग है।

तन्मयी–केवल उससे ही प्रेरिता जो भक्ति है, उसे रागात्मिका कहते हैं, इष्ट में प्रेममय गाढ़ तृष्णा स्वरूप लक्षण है, इष्ट में स्वारसिकी परमाविष्टता तटस्थलक्षण है, उसके विभाग को कहते हैं–वह भक्ति कामरूपा, सम्बन्धरूपा भेद से दो प्रकार है, यद्यपि कामरूपा में भी सम्बन्ध विशेष है ही तथापि वैशिष्ट्य की अपेक्षा से ही पृथक् कहा गया है। कामरूपा को कहते हैं, (भ०र०सि० १।२।२८३) जिसमें सम्भोग तृष्णा रहती है और श्रीकृष्ण सुख के लिए ही होती है। सम्बन्धरूपा (भ०र०सि० १।२।२८८) श्रीगोविन्द

अथ तस्या 'विभागमाह' (भ०र०सि० १।२।२७३)–

'सा कामरूपा सम्बन्धरूपाचेति भवेद्द्विधा'

यद्यपि कामरूपायामपि सम्बन्धविशेषोऽस्त्येव, तथापि पृथगुपादानं वैशिष्ट्यापेक्षया।

तत्र 'कामरूपामाह' (भ०र०सि० १।२।२८३)–

सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥

अथ 'सम्बन्धरूपा' (भ०र०सि० १।२।२८८)

सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः॥

अत्र शुद्ध सम्बन्धरूपायां (भा० ७।१।३०) 'सम्बन्धाद्-वृष्णयः' इत्यत्र वृष्णीनामुपलक्षणतया ये वल्लवाः प्राप्ता स्त एवात्र मताः, न तु महिमज्ञानयुक्ता द्वारकादि नित्यसिद्धभक्ता इत्यर्थः। तद्धेतु मेवोपपादयति (भ०र०सि० १।२।२८८)–

'यदैश्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता'

(२९)अथ पूर्वोक्त–रागानुगा भक्तेर्विभागमाह (भ०र०सि० १।२।२९०)–

के प्रति माता–पिता प्रभृति अभिमान होना, वृष्णिगण एवं गोपगण में वह होता है। सम्बन्ध से वृष्णिगण एवं गोपगण होते हैं, वे सब महिम ज्ञानयुक्त नहीं होते हैं, उसमें हेतु–ईश्वर ज्ञान शून्यता के कारण उन सभी में राग की प्रधानता है। (२९) पूर्वोक्त रागानुगा भक्ति के विभाग को कहते हैं– रागात्मिका दो प्रकार होने से रागानुगा भी दो प्रकार से है, उक्त रागानुगा एवं सम्बन्धानुगा। इनके अधिकारी लक्षण– रागात्मिका भक्तिनिष्ठ ब्रजवासीजन के भाव के प्रति लोलुप व्यक्ति ही अधिकारी हैं। लुब्ध यदि होता है तभी रागानुगा भक्ति का अधिकारी होगा, लोभ के न जानने से प्रवृत्ति भी कैसे होगी?

रागात्मिकाया द्वैविध्याद् द्विधा रागानुगा च सा।
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते।।

अत्राधिकारि–लक्षणम् (भ०र०सि० १।२।२९१)–

रागात्मिकैकनिष्ठा ये ब्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्।।

ननु रागानुगायां लुब्धश्चेदधिकारवान् तर्हि लोभज्ञानं विना कथं प्रवृत्तिरित्यत आह–लोभस्वरूपम् (भ.र.सि.१।२।२९२)

तत्तद्भावादि – माधुर्य्ये श्रुते धी र्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्।।इति।

टीका–तत्तद्भावादिमाधुर्य्ये श्रुते श्रीकृष्णभक्तमुखात् श्रीभागवतादिषु श्रवणद्वारा यत्किंचिदनुभूते सति धीर्यन्–माधुर्य्यादिकमपेक्षते 'कदा मम तद्भावमाधुर्य्यं चेष्टा–माधुर्य्यञ्च भतेत्' इति तदेव लोभोत्पत्तेर्लक्षणं स्वरूपम्; अत आश्रयिष्यमाणे

अत: लोभ स्वरूप को कहते हैं, (भ०र०सि० १।२।२९२) श्रीकृष्ण के भक्त के मुख से श्रीभागवत कथा श्रवण के द्वारा कुछ अनुभव होने पर बुद्धि यदि माधुर्यादि की अपेक्षा करती है, तो कब मुझे भावमाधुर्य चेष्टामाधुर्य का अनुभव होगा, इस प्रकार की बुद्धि होना ही लोभोत्पत्ति का लक्षण है, अत: श्रीगुरु में उक्त भाव का होना परमावश्यक है। कारण (भा० ११।३।२१ में) श्रीगुरुचरण वरण करने के लिए भगवान् का आदेश है, किन्तु विद्वान्, शास्त्रज्ञ, अनुभवी एवं आचरण परायण श्रीगुरु होना परमावश्यक है।

स्वामिपाद ने कहा है–अन्यथा वह गुरु ज्ञान दान में असमर्थ होगा । अन्यथा न्यायतो 'बोधसंचाराभावात्' (भा० १०। ३३।३९) ब्रजबधुओं के साथ श्रीविष्णु के विलास का श्रवण एवं वर्णन श्रद्धापूर्वक करने से धीरव्यक्ति श्रीभगवत् चरणारविन्द में अहैतुकी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त करेगा, सद्य उसके हृदय से कामवासना भी विदूरित होगी, टीका–हृद्रोग, अपाप कर श्रीकृष्ण के प्रति कामादि भाव को भी हृदय शीघ्र छोड़ देगा।

गुरौ तद्भावमाधुर्य्य मायातम्, यतः (भा० ११।३।२१)–'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्' इत्येकादश–स्कन्ध–पद्यटीकायां श्रीश्रीधरस्वामिभिरप्युक्त 'अन्यथा (न्यायतो) बोध–संचाराभावात्।'
(भा० १०।३३।३९)–

विक्रीड़ितं ब्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः,
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।

टीका–हृद्रोगमपापकरं कामादिकमपि शीघ्रमेव त्यजति। सामान्यतो परमत्वे सिद्धे तत्रापि परमप्रेष्ठ–श्रीराधासम्बलित–लीलामय–तद्भजनं तु परमतत्त्वमेवेति स्वतः सिध्यति; किन्तु रहस्यलीला तु पौरुषविकारवदिन्द्रियैः पितृ–पुत्र–दासभावैश्च नोपास्या, स्वकीयभाव–विरोधात्; क्वचिदल्पांशेन क्वचिद् सर्वांशेनेति ज्ञेयम्। (भक्तिसन्दर्भे ३३८ अनु०)
(३०) तत्रत्यभक्तिमार्गा दर्शिताः; तथाहि–'स्वपुंस्त्वभावनायान्तु

श्रीकृष्ण भजन सामान्यतः श्रेष्ठ होने पर भी उनके परम प्रेष्ठ श्रीराधा सम्बलित लीलामय श्रीकृष्ण भजन ही परमतत्त्व ही है, यह स्वतः सिद्ध होता है, किन्तु रहस्य लीला की उपासना–पौरुष विकारयुक्त इन्द्रिय परायण व्यक्तिगण एवं पिता, पुत्र, दास भावाक्रान्त व्यक्तिगण सर्वथा न करें, भावविरुद्ध होगा। उपासना शब्द से श्रवण, चिन्तन, दर्शन प्रभृति को जानना होगा, यह विषय कभी तो अल्प विषयरूप से वर्णित होता है–आलिंगन, चुम्बनादि, भावप्रकाश प्रभृति वर्णन को अल्पांश वर्णन कहते हैं और कहीं पर सर्वांशरूप में वर्णित होता है, जैसे संगम सम्प्रयोग आदि। (श्रीजीव गोस्वामी, भक्तिसन्दर्भ में ३३८ अनु०)।

(३०) रागानुगीय भक्तिमार्ग का स्वरूप दिखाया गया है, इस देह में जब तक मैं पुरुष हूँ, इस प्रकार की ज्ञान भावना

नैव रागानुगां गता' श्रीदशमे श्रुत्यध्याये (भा० १०।८७।२३)–
'स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः' इत्यादि;
(भा० १०।९०।२६)–

'श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः';

(भ०र०सि० १।४।७)–

'न पतिं कामयेत् कञ्चिद्ब्रह्मचर्य्यस्थिता सदा';

एवं वेदस्तुतौ (भा० १०।८७।२१)–

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो–
श्चरित–महामृताब्धिपरिवर्त्तपरिश्रमणाः।
न परिलसन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते,
चरणसरोजहंसकुलसङ्ग विसृष्टगृहाः॥

टीका–यानि कुलानि शिष्योपशिष्यतया तेषां सङ्गेन विसृष्टगृहाः।

बनी रहेगी तब तक रागानुगा भक्ति नहीं होगी, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के श्रुत्यध्याय में १०।८७।२३) श्रीकृष्ण के विशाल सर्प की भाँति भुजदण्ड से विषाक्तबुद्धि में स्त्रीगण निमज्जित हो चुकी थीं। (भा० १०।९०।२६) श्रवणमात्र में ही बलपूर्वक स्त्रियों के मन आकृष्ट होते हैं। (भ०र०सि० १।४।७) सदा ब्रह्मचर्य में स्थित होकर चन्द्रकान्ति ने किसी भी पति की कामना भी नहीं की। एवं (वेदस्तुति १०।८७।२१) में वर्णित है–भक्ति को अल्पसाधन मानना उचित नहीं है, भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। हे ईश्वर ! आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध है, उसका बोध कराने के लिए आप श्रीविग्रह धारण कर लीला करते हैं, आपके चरितामृत में अवगाहन करके कुछ व्यक्ति जगत् भ्रमण क्लेश को नहीं जानते हैं और मुक्ति को भी नहीं चाहते हैं, इन्द्रादि पद की तो बात ही क्या है, इस प्रकार भक्तिरसिक अति ही विरल होते हैं, केवल अन्य कुछ भी नहीं चाहते हैं, यह नहीं किन्तु उस भक्तिसुख से सुखी होकर अदृष्ट प्राप्त गृहादिसुख को भी त्याग देते हैं, आपके चरण सरोज

(३१) अथ रागानुगाङ्गान्याह (भ०र०सि० १।२।२९४–९५)–

कृष्णं स्मरन् जनञ्चास्य प्रेष्ठं निज–समीहितम्।
तत्तत् कथारतश्चासौ कुर्य्याद्वासं ब्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्य्या ब्रजलोकानुसारतः॥

(भ०र०सि० १।२।३०९)–

कृष्णतद्भक्तकारुण्य – लाभमात्रैकहेतुका।
इयं रागानुगा कैश्चित पुष्टिमार्गतयेष्यते॥

(भ०र०सि० १।२।३०१–३०२)–

पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम्॥
पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्॥
ते सर्व्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्॥

के हंसकुल के संसर्ग से गृह को भी त्याग देते हैं। इससे श्रवण, कीर्त्तन, भक्ति का वर्णन हुआ। टीका–जो भी कुल है–शिष्य, उपशिष्य परम्परा क्रम से प्राप्त जो महद्उपदेश हैं, उसमें आसक्त होकर गृह की आसक्ति को त्याग देते हैं।

(३१) अनन्तर रागानुगा के अंग समूह का वर्णन करते हैं। (भ०र०सि० १।२।२९४–९५) श्रीकृष्ण एवं उनके प्रियजन श्रीगुरुदेव को स्मरण कर श्रीकृष्णलीला कथारत होकर सदा ब्रज में निवास करें, श्रीकृष्ण भक्तजन के भाव लिप्सुजन यथावस्थित देह से एवं अन्तश्चिन्तित देह से श्रीरूप–सनातन प्रभृति ब्रजजन के आचरण के अनुसार ही श्रीकृष्ण एवं तदीयजन की सेवा करें।
श्रीकृष्ण एवं उनके भक्त के कारुण्य से ही लब्ध इस रागानुगा को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं। (भ०र०सि० १।२।३००–३०२) पद्मपुराण में वर्णित है, रागानुगा भक्ति पुरुष देह में भी होना सम्भव है, प्राचीनकाल में दण्डकारण्य निवासी समस्त महर्षिगणों की

(भ०र०सि० १।२।३०७)–

तथापि श्रूयते पाद्मे कश्चित् कुरुपुरीस्थितः।।
नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन्।
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद्वृद्धवार्द्धकिः।।

टीका–सिद्धोऽभूदिति बालवत्सहरणलीलायां तत्पितृणामेव सिद्धिर्ज्ञेया। एवञ्च सति श्रुतिकन्याचन्द्रकान्ति–प्रभृतिनां नित्यसिद्ध–परिकरानुगत्याभावात् श्रीनन्दनन्दनस्य प्रकाशरूपस्यैव प्राप्ति र्न तु तादृश–स्वरूपस्य। अतएव प्रामाणिकैरप्युक्तम्–'धाम्नोऽभेदेऽपि परिकरभेदे प्रकाशः; यथा (भा० १०।७७।७) 'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः इति। नित्यसिद्धानुगतानां तु श्रीनन्दनन्दनस्य तादृश स्वरूपस्यैव प्राप्तिरित्यानुगत्या–पेक्षावश्यकीति भूयान् विशेषोऽस्तीतिविभावनीयम्।

श्रीरामचन्द्रजी को देखकर सुविग्रह श्रीहरि का भजन करने की अभिलाषा हुई, वे सभी गोकुल में स्त्री शरीर से उत्पन्न हुए, कामभाव से श्रीहरि का भजन कर भवार्णव से मुक्त हो गये।

(भ०र०सि० १।२।३०७)–पद्मपुराण में उक्त है–कुरुपुरी में एक बृद्धवार्द्धकि श्रीनारदजी के उपदेश से नन्दसुनु की श्रीमूर्त्ति को पुत्रभाव से भजन कर सिद्ध हो गये। टीका–बालवत्सहरण लीला में उनकी सिद्धि हुई। इस प्रकार श्रुतिकन्या चन्द्रकान्ति प्रभृति के नित्यसिद्ध परिकरानुगत्य के अभाव से श्रीनन्दनन्दन के प्रकाशरूप की ही प्राप्ति होती है। मूलगत श्रीकृष्ण स्वरूप की नहीं, धाम एक होने पर भी परिकरभेद से स्वरूप का भिन्न–भिन्न प्रकाश है, (भा० १०।३३।३) में उक्त है, गोपियों के मध्य में दो गोपी एक कृष्ण तथा दो कृष्ण एक गोपी हुए थे। जो लोक नित्यसिद्धजन के आनुगत्य को स्वीकार कर लेते हैं, उनको यथार्थ स्वरूप नन्दनन्दन की प्राप्ति होती है, अतएव श्रीकृष्ण स्वरूप प्राप्ति के लिए आनुगत्य की विशेष आवश्यकता है।

(३२)अथ चंद्रकांति प्रभृतिषु रागानुगीय–गुरुचरणावलंबनस्या–दृष्टत्वाद् रागानुगायामेतस्य कारणता न सम्भवति चेन्न–सामान्यत स्तादृश–गुरुचरणावलम्बनस्य कारणतायाः साक्षात् परम्परया स्वीकारात्। यत्र साक्षात्कारणता न सम्भवति, तत्र जन्मान्तरीण कारणकल्पनम्, फलवलात्। अतएवालङ्कारिकैर्वालकस्य कवितायां तथैव कल्प्यते। अतः स्वयमेव वक्ष्यते (भ०र०सि० १।३।५७)–

साधनेक्षां विना यस्मिन्नकस्माद् भाव ईक्ष्यते।
विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम्॥

अतएव 'गोपालोपासकाः पूर्वमप्राप्ताभीष्टसिद्धयः' इत्यादिकञ्च।
(३३) अथ भावः (भ०र०सि० १।३।१)–

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्य्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

---

(३२) चन्द्रकान्ति प्रभृति में रागानुगीय गुरु चरणावलम्बन नहीं है, अतः रागानुगा भक्ति में गुरुचरण आश्रय करना अकारण है, इस प्रकार कहना रागानुगीयमार्ग के लिए सर्वथा विपरीत होगा। गुरु चरणावलम्बन–अपरिहार्य कारण है, किन्तु साक्षात् रूप से एवं परम्परा रूप से मानना होगा। जहाँ पर साक्षात् गुरुकरण नहीं है, वहाँ पर जन्मान्तरीण गुरुकरण मानना आवश्यक है। कार्य को देखकर ही कारण का अनुमान होता है, आलंकारिकगण बालक की कविता में जन्मान्तरीण शक्ति कल्पना करते हैं। अतः स्वयं ही कहते हैं, बिना साधन से ही जब भाव का दर्शन होता है तब विघ्नस्थगित पूर्वजन्म के साधन को मानना होगा। अतएव गोपालोपासकगणों ने पूर्व में अभीष्ट सिद्धि को न प्राप्त कर उत्तर जन्म में अभीष्ट को प्राप्त किया था।

(३३) भाव–(भ०र०सि० १।३।१) शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा प्रेम सूर्यांशु के समान, रुचि के द्वारा चित्त को मसृण करने वाले को भाव कहा जाता है। तन्त्र में उक्त है–प्रेम की प्रथमावस्था भाव

यथा तन्त्रे—

प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्याभिधीयते।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्रा स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

अथ प्रेमा (भ०र०सि० १।४।१)—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

यथा पांचरात्रे—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म–प्रह्लादोद्धवनारदैः॥

(भ०र०सि० १।४।१५–१६)—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽय भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिश्च ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भ०र०सि० २।१।४–६)—

(३४) अथास्याः केशव–रतेर्लक्षिताया निगद्यते।
सामग्री–परिपोषेण परमा रसरूपता॥

है, इस समय पुलकादि स्वल्पमात्रा में सात्त्विक उद्गत होते हैं, प्रेम–(भ०र०सि० १।४।१) अन्तःकरण सम्यक् मसृण होता है, अतिशय ममत्व से युक्त होता है, भाव अति सान्द्र होकर प्रेम होता है। पंचरात्र में उक्त है–श्रीविष्णु में अनन्य स्पृहा को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव, नारदादि ने प्रेम भक्ति कहा है। (भ०र०सि० १।४।१५–१६)।

प्रथम, श्रद्धा ततः साधुसंग अनन्तर भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव प्रेम क्रम पूर्वक होता है, प्रेम आविर्भाव के लिए यह क्रम ही रागानुगीयमार्ग सम्मत है।

(३४) अनन्तर श्रीकृष्ण विषयिणी रति की रसरूपता को कहते हैं–सामग्री के द्वारा पुष्ट होकर उक्त रति रसरूपता को

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यतां हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्।
प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते।।

(भ०र०सि० २।१।१०)—

कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि ।
प्रौढ़ानन्द—चमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्।।

तथा हि श्रुतिः (तै०उ०ब्र० १वाँ अनु०)—

'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति।

उपपतौ परकीयायामेव रसोत्कर्षः; अतएव श्रीमद्—उज्ज्वलनीलमणौ (नायकभेद १९)—

'अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः'

प्राप्त करती है। विभाव अनुभाव सात्त्विक व्यभिचारि के द्वारा भक्तहृदय में श्रीकृष्ण रति आस्वादनीयता को प्राप्त करती है, यह श्रवणादि से सम्पन्न होता है, श्रीकृष्ण विषयक स्थायी भाव ही भक्तिरस होता है। पूर्वजन्म एवं इस जन्म में जिसकी सद्भक्ति वासना है, उनके हृदय में ही श्रीकृष्ण रसास्वाद होता है। (भ०र०सि० २।१।१०)।

श्रीकृष्णादि विभावादि के द्वारा अनुभव पथारूढ़ चित्त होने पर चित्त प्रौढ़ानन्द चमत्कार की परम सीमा में पहुँच जाता है। श्रुति (तै०उ०ब्र० ७वाँ अनु०) वह ही रस कहलाता है, वह रस को ही प्राप्त कर आनन्दित होता है। उपपति में एवं परकीया में रस का परम उत्कर्ष है, अतएव उज्ज्वलनीलमणि के नायक भेद प्रकरण में उक्त है–(१९) यहाँ पर ही शृंगार का परमोत्कर्ष प्रतिष्ठित है। टीका–श्रीजीव गोस्वामी की, यहाँ पर उपपति में ही, भरतमुनि ने कहा है–(नायकभेद २०।२१) जहाँ अनेक बाधायें हैं, जहाँ प्रच्छन्न कामुकता है, जहाँ पर नायक–नायिका में परम दुर्लभता

टीका–अत्रैव उपपतौ तथा च भरतेन (नायकभेद० २०–२१)–

बहु वार्य्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च।
या च मिथो दुर्लभता, सा मन्मथस्य परमा रतिः।।
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि।।

पुनस्तत्रैव (हरिप्रिया० १९)–

कन्यकाश्च परोढ़ाश्च परकीया द्विधा मताः।
ब्रजेशब्रजवासिन्य एताः प्रायेण विश्रुताः।।

तथाहि रुद्रः (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया० ३।२०–२३)–

वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पंचवाणस्यमन्ये परममायुधम्।।

विष्णुगुप्तसंहितायां च–

यत्र निषेध–विशेषः; सुदुर्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणाम्।
तत्रैव नागराणाञ्च, निर्भरमासज्जते हृदयम्।।

है, मन्मथ का एकमात्र विश्रामस्थल वह ही है। उपपति में जो लघुता कही जाती है, वह तो प्राकृत नायक में प्रयोज्य है, श्रीकृष्ण में नहीं, कारण रस निर्यास आस्वादन के लिए वह सपरिवार अवत्तीर्ण होते हैं। उज्ज्वल में हरिप्रिया १९ प्रकरण में परकीया–कन्या परोढ़ा भेद से दो प्रकार हैं। नन्दब्रज में यह सब प्रसिद्ध हैं। रुद्र ने कहा है (उ०नी०हरिप्रिया ३।२०–२३) जहाँ पर स्त्रियों की वामता दुर्लभता निवारणा भी रहती है, वह ही कन्दर्प का परम आयुध है। विष्णुगुप्त संहिता में उक्त है–जहाँ पर निषेध विशेष एवं ललना की सुदुर्लभता है, नागर के हृदय की परम आसक्ति वहाँ पर ही होती है, परकीया के विषय में अधिक प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है, जिसका वर्णन महामुनि श्रीशुक ने पारमहंस्य संहिता में स्वयं ही किया है। (भा० १०।३३।१९) जितनी गोप स्त्रियाँ रहीं, उतने ही वपु से भगवान् आत्माराम होकर भी लीला से रमण किया। टीका–श्रीजीव की, गोपों की योषित इससे

आः किम्वान्यद्यतस्तस्यामिदमेव महामुनिः।
जगौ पारमहंस्याञ्च संहितायां स्वयं शुकः॥

यथा (भा० १०।३३।१९)–

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥

टीका–

गोपानां योषित इति तासां स्पष्टमेव परकीयात्वम्।

(भा० १०।२९।८)–

ता वार्य्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृबन्धुभिः॥ इति।

(भा० १०।२९।३२)–

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग,
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्म्मविदा त्वयोक्तम्॥ इति।

परकीयात्व सुस्पष्ट हुआ। (भा० १०।२९।८) अभिसार के समय गोपीगणों को पति, पिता, भाई–बन्धुओं से बाधा प्राप्त हुई थीं, (भा० १०।२९।३३) हे भैया ! तुमने कहा कि पति, अपत्य, सुहृद् की सेवा करना स्त्रियों का स्वधर्म है, इससे ज्ञात हुआ कि तुम धर्मज्ञ हो। (भा० १०।२९।२२।२४) श्रीकृष्ण ने रात्रि में गोपांगनाओं को उनके गृह से यमुनापुलिन में लाकर कहा कि तुम सब शीघ्र चली जाओ और पति सेवा स्त्री के लिए परमधर्म है और तुम सभी सती हो, बालक गृह में रो रहे हैं, लाली भी रोती रहती है, उन सबको खिलाओ–पिलाओ और देखो ! अमाया से पति की शुश्रूषा करना स्त्री के लिए परमधर्म है। (भा० १०।२९।२६) अस्वर्ग्य अयशस्कर तुच्छ, क्लेश कर, भयंकर एवं सर्वत्र निन्दनीय है, कुल स्त्रियों के लिए औपपत्य वहाँ पर ही (भा० १३।३३।२७) यदुपति धर्मसेतु का वक्ता कर्त्ता रक्षक हैं, हे ब्रह्मन् ! परदाराभिमर्षण रूप पापाचरण आपने क्यों किया ? तथा श्रीएकादश में (भा० ११।१२।१३) श्रीकृष्ण ने कहा मुझको जार रमण, अवलागण

(भा० १०।२९।२२-२४)-

तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

'भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परोधर्म्मो ह्यमायया' इति;

(भा० १०।२९।२६)-

अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः॥

तत्रैव (भा० १०।३३।२७)-

स कथं धर्म्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्षणम्॥

तथा श्रीएकादशे (भा० ११।१२।१३)-

'मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः' इति;

पद्मपुराणे च-

'गोपनारीभिरनिशं यत्र क्रीड़ति कंसहा';

क्रमदीपिकायाञ्च-

'गो-गोप-गोपवनितानिकरैः परितम्' इति;

वृहद्गौतमीयतन्त्रे च-

'अत्र या गोपपत्न्यश्च निवसन्ति ममालये';

श्रीगोपालस्तवे-

'विचित्राम्बरभूषाभिर्गोपनारीभिरावृतम्' इति;

वृहद्वामने च-

जारधर्म्मेण सुस्नेहं सर्वतोऽधिकमुत्तमम्।
मयि संप्राप्य सर्वोऽपि कृतकृत्यो भविष्यति॥इति।

जानती थीं, पद्मपुराण में-'कंसहा'-जहाँ पर निरन्तर गोप नारियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। क्रमदीपिका में-गो गोप गोपवनिता निकर के साथ। बृहद् गौतमीयतन्त्र में-यहाँ पर जो भी गोप पत्नी रहती हैं। श्रीगोपालस्तव में-विचित्र अम्बरभूषा के द्वारा शोभित गोप नारियों से वेष्टिता। बृहद् वामनपुराण में-जार धर्म से सर्वतोऽधिक उत्तम सुस्नेह होता है, इससे ही मुझको प्राप्त कर सब कृतकृत्य होंगी।

श्रीरासपंचाध्यायी-श्रीबृहद् वैष्णवतोषण्यां श्रीसनातन गोस्वामिचरणैरुक्तम् (भा० १०।२२।२१)-

यातावला ब्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्य्यार्च्चनं सतीः।।

टीका-(भा० १०।१२।२६-२७)-'भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय (फलान्तरोत्पादनाय) नेशते; किन्तु स्वयं भोग्यतापत्त्या सद्य एव परमसुखाय समर्था भवन्तीत्यर्थः। इत्येवं पतित्वेन प्रेमविशेषासिद्धेरुपपतित्वेनैव तत् संसिद्धेरिति भावः। तदेवाह-यातेति। हे अवला इत्यातिवाल्यं सूचयति। अतोऽधुना रत्ययोग्या इति भावः। यद्वा, पूर्वोक्तन्यायेन सर्व्वतोऽधिकशक्तिमत्य इत्यर्थः। प्रकारविशेषेण मद्वशीकार-विशेषात्, यतः सिद्धाः सम्पन्नकामित्वात्तदतीतफला इत्यर्थः। इमा निकट एवैष्यच्छरत्कालीना इति तासां विदूरवर्त्तित्वेऽपि

---

(३५) श्रीरासपंचाध्यायी की श्रीवृहद् वैष्णवतोषणी में श्रीसनातन गोस्वामिचरण ने कहा-(भा० १०।२२।२७) अवलागण, तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हो चुके हैं, आगामी रात्रि में मेरे साथ रमण होगा, जिसके लिए तुम सभी ने व्रत किया। टीका-धान को भूंजकर, कूटकर बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु स्वयं आस्वादन योग्य होता है। अतएव श्रीकृष्ण को पतिरूप से वरण करने पर विशेष प्रेम नहीं होगा, मात्र उपपति भाव से ही विशेष ममत्व होगा। उसको ही कहते हैं-'यातेति'। अति बाल्य के कारण ही अवला सम्बोधन किया, अतः इस समय रति की योग्यता नहीं है अथवा अवला शब्द का अर्थ-सबसे अधिक शक्तिमती, प्रकार विशेष से मेरा वशीकरण किया है, अतएव सम्पन्न मनोरथ हैं। सन्निकटवर्त्ति शरत् रजनी में ही मनोरथ पूर्ण होगा अथवा हेमन्त ऋतु के उत्तर मास में पूर्ण मनोरथ होगा। यदि कहो कि हमने तो पति रूप में प्राप्त करने के लिए व्रत किया है, अतएव विवाह विधि

इमा इति सन्निहिततया उक्तिः सान्त्वनार्था। अन्यत् समानम्। यद्वा, हेमन्तस्योत्तर-माससम्बन्धिनीरागामिनीः क्षपाः मया सह रमणं प्राप्स्यथ इति। ननु अस्मत्सङ्कल्पितं त्वयोद्वहन-सुखं सिध्यतु, तेन रासक्रीड़ादिषु सुखञ्च सम्पद्यताम् ? तत्राह-यदिति, यदुद्दिश्य आर्य्यायाश्चिच्छक्तेः कात्यायन्या अर्च्चनं व्रतं चेरुर्भवत्यः, तदिदं मयोक्तमौपपत्येन रासक्रीड़ादिसुखमेवेत्यर्थः। विवाहेन पतित्वे रासक्रीड़ादि-सुखविशेषो न संपद्यत इति भावः। सतीः हे सत्य इति औपपत्येऽपि यूयं सर्व्वथाः साध्व्य एव, मदेकमात्रनिष्ठत्वादिति भावः। तत्त्वतोऽनौपपत्यात्, विवाहिताभ्योऽप्यधिकप्रियत्वात्। यद्वा, सतीरिति क्षपाविशेषणम्, उत्तमा रासानन्दाविर्भाविकाः शारदाः शीतोष्णादिरहिता ज्योत्स्नाश्चेत्यर्थः। यद्वा, तत् क्रीड़ामाहात्म्यमेवाह-यद्यस्मात् सत्यो लक्ष्मीधरण्यादयः। इदं रासक्रीड़ादिसुखमुद्दिश्य आर्यार्च्चनव्रतं चेरुरेव, न तु तत्सुखं प्रापुरित्यर्थः। यद्रमणमिदं व्रतम्; अन्यत् समानम्।

से ही हमें ग्रहण करो तथा धर्मपत्नी बनाओ और उससे रासक्रीड़ा सुख भी होगा। इसके उत्तर में कहते हैं-जिसके उद्देश्य से चिच्छक्तिरूपा कात्यायनी की तुम सभी ने ही अर्चना की, वह तो मेरे साथ औपपत्य से ही रासक्रीड़ा करने के लिए, उपपति से ही सुख विशेष होता है; विवाह से पति होने पर रासक्रीड़ा भी नहीं होगी और सुख विशेष भी नहीं होगा। 'सती हे सत्यः'-तुम सबके औपपत्य होने पर भी तुम सभी परम पतिव्रता हो, मेरे प्रति सबकी अविचल निष्ठा है। तत्त्व से तो औपपत्य है ही नहीं, विवाह से भी अधिक प्रियता है अथवा सती रात्रि का विशेषण है, उत्तम रासानन्द के लिए उत्तम शरद् रजनी है, शीतोष्णादि रहित है, ज्योत्स्ना भी है, इस रासक्रीड़ा सुख के लिए ही तो तुमने आर्यार्च्चन व्रताचरण किया, उसका सुख तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ, कारण यह व्रत रमण के लिए ही है।

(३६) श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणै:–अथ ब्रजे प्रकटायाञ्च श्रीकृष्णस्यौपपत्यं नित्यम्, श्रीराधिकादीनाञ्च परकीयात्वं नित्यम्; तयो: स्वरूपेण द्वैविध्यं नास्ति; किन्तु अप्राकृतद्वापरे प्राकृतद्वापरस्य मिलने स्वयंरूपे श्रीनन्दनन्दने वसुदेवनन्दनादिषु प्रकाशेषु मिलितेषु सत्सु लीलाया: प्राकट्यं भवति; यथोक्तमाकरे (लघुभागवतामृत १।७१७)–

प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा मता।
अन्यास्त्वप्रकटा भान्ति तादृश्यस्तदगोचरा:।। इति।

किंच, श्रीकृष्णस्यौपपत्याभावे रसोत्कर्षाभाव: स्यात्; यथा करे (उज्ज्वले नायकभेद० १९–२१)–

'अत्रैव परमोत्कर्ष: शृंगाररस्य प्रतिष्ठित:' इति;
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्य्यासस्वादार्थमवतारिणि।।

---

(३६) श्रीमज्जीवगोस्वामिचरण ने कहा है–ब्रज में प्रकटमय श्रीकृष्ण का औपपत्य नित्य है, श्रीराधिका प्रभृति का परकीयात्व भी नित्य है। श्रीकृष्ण, श्रीराधा के स्वरूप में दो प्रकार से नहीं हैं, किन्तु अप्राकृत द्वापर में प्राकृत द्वापर का जब मिलन होता है, तब स्वयं रूप श्रीनन्दनन्दन में वसुदेवनन्दन प्रभृति प्रकाश के मिलन से लीला का प्राकट्य होता है। लघुभागवतामृत में उक्त है (१।७१४) जो लीला प्रपंच में देखी जाती है, वह प्रकट है और जो लीला नहीं देखी जाती है, वह अप्रकट कहलाती है और भी श्रीकृष्ण के साथ उपपति सम्बन्ध न होने पर रसोत्कर्ष होगा ही नहीं, उज्ज्वलनीलमणि (नायक भेद १९–२१) में कहा है। शृंगाररस का परमोत्कर्ष उपपति में ही प्रतिष्ठित है, उपपति को लघु कहा गया है, वह कथन प्राकृत नायक पर है, श्रीकृष्ण के लिए प्रयोज्य नहीं है, कारण श्रीकृष्ण रसास्वाद को सूचित करने के लिए ही सपरिकर आविर्भूत हुए हैं। इससे शृंगार की परमोत्कर्षता के लिए औपपत्य का होना एकान्त प्रयोजनीय है। लघुत्वं इसका अर्थ इस प्रकार है–प्राकृत नायक में–

इत्यनेनौपपत्यस्य–श्रृंगार–परमोत्कर्षत्वेन–परम–प्रयोजकत्वम्।

लघुत्वमित्यस्यार्थः–प्राकृतनायके प्राकृतौपपत्य–युक्तप्राकृतोपपतौ; तत्र हेतुः–रसनिर्य्यास–स्वादार्थमवतारिणि स्वादो रुच्यर्थः; अवतारिणि औपपत्यस्याप्राकृतत्वेन नित्यत्वात् प्रकटितौपपत्ये; अथवा, अवतारिणि अवतारावलीबीजे, अवतारे लघुत्वं नास्ति; किमुतावतारिणि; यद्वा, 'प्रकाशस्तु न भेदेषु गण्यते स हि नो पृथक्' इति न्यायेन, 'यत्तु गोलोकनाम स्यात्तत्तु गोकुलवैभवम्' इति न कृष्णे, न गोलोकनाथे, अतएव सर्व्वप्रकाशमूलभूत – पूर्णतमप्रकाशे नन्दनन्दने प्रविश्यावतारिणि अवतारशीले।

तथाहि श्रीचैतन्यचरितामृते (आदि० चतुर्थ प०)–

प्राकृत उपपतियुक्त प्राकृत उपपति में। प्राकृत में कामभोग, व्यभिचार शास्त्र मर्यादालंघन है, श्रीकृष्ण में निवृत्तिमार्ग की शिक्षा है। हेतु यह है–रस निर्यास आस्वादन करने के लिए अवतार में, स्वाद शब्द का अर्थ रुचि है, अवतारिणि–औपपत्य अप्राकृत होने के कारण नित्य है, प्रकटित उपपति में अथवा 'अवतारिणि अवतारावलीबीजे' अवतार में लघुत्व हो ही नहीं सकता, श्रीकृष्ण तो अवतारी हैं अथवा प्रकाश में भेद नहीं मानते हैं, वह पृथक् नहीं है। गोलोक को तो गोकुल का वैभव माना जाता है, 'न कृष्णे, न गोलोकनाथे' गोलोकनाथ मैंने अतएव सर्वप्रकाश मूलभूत पूर्णतम प्रकाश नन्दनन्दन में प्रविष्ट होकर अवतार होने पर।। श्रीचैतन्यचरितामृत आदि के चतुर्थ में–गोपी और मेरा सम्बन्ध उपपति का निर्वाह योगमाया करेगी, मैं नहीं जानता हूँ और गोपी भी नहीं जानेंगी, परस्पर के रूपगुण से, परस्पर का मन, परस्पर में आकृष्ट होगा। प्रकट लीला के अनुसार यह वाक्य गोलोकनाथ का है। उज्ज्वलनीलमणि के नायिका भेद में उक्त है– अंगीरस में कविगण परोढ़ा को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु यह

मो विषये गोपीगणेर उपपति भावे।
योगमाया करिवेक आपन प्रभावे।।
आमिह ना जानि आर ना जाने गोपीगण।
योगमाया करिवेक सकलि घटन।।

इति च प्रकटलीलानुसारेण गोलोकनाथवाक्यमिति। तथा (उज्ज्वलनीलमणि नायिका भेद० ३)–

नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा,
तद् गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां,
कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण।।

इत्यस्यार्थः–कविभिः परोढ़ा यदङ्गिनि रसे नेष्टास्तद् गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण विना; तत्र हेतुः–स्वेन नित्यमास्वाद्यमानस्य रसनिर्य्यासस्याशंसया प्रपंचगत–भक्तकर्त्तृकास्वादनेच्छयावतारितानामनादितया परम–प्रेयसोत्वेनात्मनः पृथक्त्वेन प्रकाशितानामिति।

नियम ब्रजांगना को छोड़कर ही प्रयोज्य है, उसमें हेतु जिस रस का आस्वादन करते हैं उस रस निर्यास को प्रपंचान्तर्गत भक्तों को ज्ञापित करने के लिए अनादिकाल से नित्य प्रेयसी रूप में रहती है, उन सबको अपने से पृथक् रूप में प्रकाश किया है अर्थात् अवतरण कराया है, (भा० ११।१२।१३) में उक्त है, अवलागणों ने मुझे न जानकर जार एवं रमण जानकर ही मुझको प्राप्त किया, मैं परमब्रह्म हूँ–आवेश से मेरा संग निरन्तर हुआ, कारण यह है कि–औपपत्य में लोक विरुद्ध एवं धर्म विरुद्ध की कथा है, वह वहाँ पर नहीं है, लौकिक में लघुता है, लोक विरुद्ध तथा धर्म विरुद्ध भी है, जहाँ पर लोक विरुद्ध धर्म विरुद्ध नहीं है, वहाँ पर बहु निवारणादि ही शृंगार रसास्वादन का हेतु है और उससे शृंगार का परम उत्कर्ष होता है, लौकिक औपपत्य में परदार गमन मन से भी कभी न करे, शास्त्र विरुद्ध होने से पाप होता है, धर्म विरुद्ध होने से निन्दा

अतएव एकादशे (भा० ११।१२।१३)–

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः।
ब्रह्म मां परममापुः सङ्गात् शतसहस्रशः।।

अस्य व्याख्या–स्वदशश्लोकीभाष्ये कृतैव। तत्रेदं बीजम्–यत्रौपपत्ये लोकविरुद्धं धर्म्मविरुद्धञ्च, तत्रैव लघुत्वम्; यत्र तु तदुभयाभावस्तत्र बहुनिवारणादिहेतुभिः शृंगारस्य परमोत्कर्षता। तत्र लौकिकौपपत्ये–'परदारान्न गच्छेच्च मनसापि कदाचन' इति शास्त्रविरुद्धत्वेन पाप–सम्भवाद् धर्म्मविरुद्धमतएव निन्दासम्भवात् लज्जाकरत्वेन लोकविरुद्धत्वञ्च। अतः स्वयं श्रीकृष्णेनापि (भा० १०।२९।२६)–

अस्वर्ग्यमयशश्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियाः।।

इत्यनेन तस्यैवाऽस्वर्ग्यादिकमुक्तम्। श्रीब्रजदेवीभिरपि

होती है, लज्जाकर एवं लोक विरुद्ध भी है। अतएव लौकिक औपपत्य के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने कहा सुख यशहीन फल्गु कृच्छ्र, भयावह निन्दनीय औपपत्य को निषेध किया, ब्रजदेवियों ने भी कहा (भा० १०।४७।७) गणिका धनहीन को छोड़ देती है, जार गण रतिभुक्त स्त्री को छोड़ देते हैं, श्रीकृष्ण में शास्त्र विरोध न होने से पाप की सम्भावना भी नहीं है और धर्म विरुद्ध भी नहीं है, अतः लोक विरुद्ध भी नहीं है, किन्तु लोक में परम उपादेय होने के कारण आदर्श ही है, बहु निवारणादि होने से शृंगार का परमोत्कर्ष होता है, ब्रजांगनागण परम दुःख लोकलज्जा को भी न मानकर श्रीकृष्ण प्रीति के उद्देश्य से प्रवृत्त होती हैं, सकल शास्त्र का फल ही श्रीकृष्ण प्रीति है। (भा० १०।३३।२९) यहाँ पर परदाराभिमर्शन से धर्मलंघन तो हुआ, समर्थ व्यक्तिगण वैसा करते भी हैं, तेजीयान् के लिए दोषावह नहीं है, वह्नि में भक्ष्याभक्ष्य विधान नहीं होता है, यह सब वचन से प्रमाणित होता है कि वह कार्य धर्म विरुद्ध नहीं है, (भा० १०।३८।८) में परकीयात्व का भी वर्णन है, अनुचरगण

(भा० १०।४७।७)—'निःस्वं त्यजन्ति गणिका जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' इति तस्यैवोल्लेखः कृतः। श्रीकृष्णे तु शास्त्रविरोधाभावेन पापासम्भावान्न धर्म्मविरुद्धत्वम्; अतएवानिन्द्यत्वेन लज्जाद्य–सम्भवान्न लोकविरुद्धत्वञ्च; प्रत्युत लोके सुष्ठूपादेयत्वमेवेति बहुनिवारणादि–हेतुभिः श्रृंगारस्य परमोत्कर्षतेति तासां परमदुःसहलोकलज्जानादरेण तदेकप्रीत्या प्रवृत्ते–रवगमात्; तत् प्रीतेश्च सर्वशास्त्रफलरूपत्वात्। तत्र (भा० १०।३३।२९)—

धर्म्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।।

इत्यादि–वचन–प्रामाण्यात् न धर्म्म–विरुद्धमपि; यथा (भा० १०।३८।८)—

गोचारणायानुचरैश्चरद्वने,
यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्।

के साथ गोपिका के कुचकुंकुमांकितचरण से वन–वन में भ्रमण करते हैं, इस प्रकार अक्रूर ने श्रीकृष्ण के औपपत्य का उल्लेख किया है, आप पितृव्य थे और आपका दास भाव था, उस प्रकार कहना उचित नहीं था, किन्तु अत्यन्त उपादेयता के कारण ही आपने कहा है, यदि कहो कि प्रीति विशेष का उल्लेख ही अक्रूर ने किया है, ऐसा नहीं है, प्रीति विशेषवाचक शब्द का प्रयोग उसमें नहीं है। श्रीभागवत आदि पुराणों में तथा नाना जातीय मुनीराज सभा प्रभृति में औपपत्य प्रतिपादिका रासलीला का गान हुआ है, वह अतिशय उपादेयता का कारण ही है, केवल औपपत्य से नहीं, गोपिकाओं की प्रवृत्ति भी श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही रही, (१०।३१।१९) यत्ते सुजात में प्रकाश हुआ है। सकल शास्त्र का फल ही श्रीकृष्ण में प्रीति है, (१०।२९।३३) में गोपिकाओं ने कही, कुशल व्यक्तिगण तुम्हारे प्रति प्रीति करते हैं, कुशल शब्द का अर्थ है, शास्त्रनिपुण व्यक्तिगण। परकीया का उदाहरण (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया प्रकरण १८) में है–राग के प्रादुर्भाव से जिन्होंने साधुमार्ग

इत्यत्र यदक्रूरेण श्रीकृष्णस्यौपपत्यस्योल्लेखः कृतः, तत् खलु पितृव्यत्वेन दासत्वेन, चेत्युभयथा न युज्यते, किन्तु उपादेयत्वेनैव। न च प्रीतिविशेषोल्लेख एव कृत इति वक्तव्यम्, तद्वाचकशब्दस्यानुपादानात्। यत् खलु श्रीभागवतादि–पुराणेषु नानाजातीय–मुनिराज सभादिषु तदौपपत्यप्रतिपादिका रासलीला गीयते, तत्तु सुष्ठूपादेयत्वेनैव, नान्यथा। तासां तदेकसुखार्थं प्रवृत्तिस्तु (भा० १०।३१।१९) 'यत्ते सुजात' इत्यादि श्रीभागवतोक्तेः। तत्प्रीतेः सर्व्वशास्त्र फलरूपत्वं यथा तत्रैव (भा० १०।२९।३३)–'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः' इति, 'कुशलाः शास्त्रनिपुणाः' इति टीका च।

परकीयात्वञ्चोदाहरति चाकरे (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया० १८)

रागोल्लासविलङ्घितार्य्य–पदवीविश्रान्तयोऽप्युद्धर–
श्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्येहिताः।
आरण्या अपि माधुरी–परिमलव्याक्षिप्तलक्ष्मीश्रिय–
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखम्॥

की चरमसीमा का उल्लंघन किया है, तथापि अरुन्धती प्रमुख महासतीवृन्द अतिशय श्रद्धा के साथ जिनकी कुंजाभिसारादि चेष्टा की शतशः पूजा–प्रशंसा करती रहती हैं, वनवासिनी होने पर भी माधुर्यातिशय से जिन्होंने लक्ष्मी की श्री को भी विश्री कर दिया है। उक्त विशेषण चतुष्टय के द्वारा विरोधालंकार से गोपीगण परम पातिव्रत्य, परम सौन्दर्य–माधुर्य वैदग्धी प्रभृति गुणराजि की आश्रय हैं, अतएव जो सब त्रिभुवन विलक्षणा अर्थात् अनुपमा हैं, वह श्रीकृष्णप्रिया सखीगण तुम सभी को सुख प्रदान करें। यहाँ पर सखी शब्द से उन सभी का श्रीकृष्ण के तुल्य नित्यगुण शालित्व, नित्य श्रीकृष्ण सहचारित्व, परम सौभाग्य भाजनत्व द्योतित हुआ है। वे सब कौन हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया १९) कन्यका परोढ़ा भेद से परकीया दो प्रकार हैं। परमोत्कर्ष को कहते हैं (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया १९)। यहाँ पर

इति। कास्ता इत्यपेक्षायामाह, (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया १९)–

'कन्यकाश्च परोढ़ाश्च परकीया द्विधा मता:'

परमोत्कर्षमाह, (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया १९)–

'प्रच्छन्नकामता ह्यत्र गोकुलेन्द्रस्य सौख्यदा';

अत्र–परकीयात्वविशेषे इति। तस्मात् श्रीकृष्ण–तद्धामसमयपरिकरलीलादीनां सर्वलौकिकातीतत्वेऽपि यथा लोकवल्लीलायां सच्चिदानन्दमय–श्रीविग्रहे मूत्रपुरीषोत्सर्गादिकं स्वीक्रियते, तथा तल्लीलापरिकररूपाभिर्मन्वादिभि: पाणिग्रहणे को दोष:; सङ्गमे तु दोष एव, स च नास्ति; यथा (उज्ज्वलनीलमणि हरिप्रिया ३२)–

'न जातु ब्रजदेवीनां पतिभि: सह सङ्गम:' इति;

अतएव (भा० १०।३३।३७)–

'मन्यमाना: स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् ब्रजौकस:'

इति पार्श्वस्थान्, न तु सङ्गमोचितशय्यास्थानिति। तथापि योगमायया विवाहोचितं लौकिकवैदिकं कर्म्म कारयित्वा पाणिग्रहणं प्रत्यायितम्।

ही श्रीगोकुलेन्द्र की प्रच्छन्नकामता होती है, जो उन सबके लिए सुखकर है। अत्र–परकीया विशेष में। अत: श्रीकृष्ण उनके धाम समय परिकर लीला समूह सर्वलोकातीत होने पर भी जिस प्रकार लोकवल्लीला में सच्चिदानन्द विग्रह में भी मूत्रपुरीषोत्सर्ग देखा जाता है, उस प्रकार उनके लीला परिकर अभिमन्यु के साथ पाणिग्रहण–संस्कार से कोई दोष नहीं है, संगम में दोष होता है, किन्तु ब्रजलीला में संगम है ही नहीं, सभी गोपांगनायें रजोहीन होती हैं। अतएव कभी भी पति के साथ ब्रजदेवियों का संगम होता ही नहीं। अत: (भा० १०।३३।३७) ब्रजवासीगण निज–निज धर्मपत्नियों को निज–निज निकट में देखकर प्रसन्न होते थे, निकट में किन्तु संगमोचित शय्या पर नहीं। योगमाया ने विवाह के उचित जो भी लौकिक, वैदिक कर्म होते हैं वे सभी

किंच, गोकुलस्य प्रकटाप्रकटरूपेण प्रकाश–द्वैविध्यस्वीकारे सति लीलाया द्वैविध्यं स्यात्; तयोः स्वरूपेण द्वैविध्यस्याभावः। अतः श्रीराधिकादिभिः सार्द्धं प्रकटविहारेऽपि श्रीकृष्णस्याधोक्षजत्वात्तत् परिवार–समय–लीलादीनां तत्स्वरूपशक्तिविलासत्वेन तत्समान धर्म्मत्वाच्च तस्य तेषांच प्रपंचेन्द्रियाविषयत्वम–प्राकट्यम् ततः स्वयं प्रकाशत्वशक्त्या स्वेच्छाप्रकाशया 'सोऽभिव्यक्त्यो भवेन्नेत्रे न नेत्रविषयस्त्वतः' इति निर्द्धारणात् तस्य तेषांच प्रपंचेन्द्रियविषयत्वं प्राकट्यम्। अतएव श्रीलघुभागवतामृते (१।६६८–९)–

यदद्यापि दिदृक्षेरन्नुत्कण्ठार्त्ता निजप्रियाः।
तां तां लीलां ततः कृष्णो दर्शयेत्तान् कृपाम्बुधिः॥
कैरपि प्रेमवैवश्यभाग्भिर्भागवतोत्तमैः।
अद्यापि दृश्यते कृष्णः क्रीड़न् वृन्दावनान्तरे॥

इत्यत्रैव वृन्दावने लीलायाः प्रपंचागोचरायाः साक्षाद्दर्शनम्। अप्रकटवृन्दावनसत्तापक्षे तु 'बह्मह्रदनीताः इतिवदत्र तस्य साक्षाद्दर्शनानुपपत्तिः।

यथाविधि करवाकर ही पाणिग्रहण–संस्कार सम्पन्न किया था। (भा० १०।३३।३७) श्लोक के विवरण से वैसा ही ज्ञात हुआ और गोकुल का प्रकाश भी। प्रकट–अप्रकट रूप से दो प्रकार मानने पर लीला भी दो प्रकार की होगी, किन्तु श्रीराधा–कृष्ण के स्वरूप दो प्रकार नहीं हैं, अतएव श्रीराधिकादि के साथ प्रकट विहार के समय भी श्रीकृष्ण अधोक्षज होने के कारण, उनके परिकर–समय लीलादि भी उनकी स्वरूपशक्ति के ही विलास हैं, अतः वे सभी उनके ही तुल्य धर्मी हैं, अतः वे सभी प्रपंच इन्द्रिय का विषय नहीं होते हैं, अतएव अप्रकट कहा जाता है, स्वयं प्रकाशशक्ति के द्वारा एवं स्वेच्छा प्रकाश से ही श्रीकृष्ण नेत्रगोचर होते हैं, वे चक्षु के विषय नहीं होते हैं, इस प्रकार ही सिद्धान्त है, जब प्रपंचेन्द्रिय विषय होते हैं, तबही प्राकट्य कहलाते हैं। अतएव श्रीलघुभागवतामृत (१।६६८–९) में उक्त है – वस्तु प्राप्ति के लिए महती उत्कण्ठा

किंचाप्रकटवृन्दावनस्य सत्त्वे (उत्कलिकावल्लरी ६६)–

प्रपद्य भवदीयतां कलित – निर्म्मलप्रेमभि–
र्महद्भिरपि काम्यते किमपि यत्र तार्णं जनुः।
कृतात्र कुजनैरपि ब्रजवने स्थितिर्मे यया,
कृपां कृपणगामिनीं सदसि नौमि तामेव वाम्॥

तथा (श्रीगान्धर्व्वा संप्रार्थनाष्टके १)–'वृन्दावने विहरतोरिह केलिकुंजे' इत्याद्यनुपपत्तिः। एवञ्च सति कल्पवृक्षादिरूपाणां निम्बादिरूपेण यत् प्रतीतिः, तत्तु (नैषधे ३।९४) 'पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते' इतिवत् नयनदोषात् शंखं पीतमिव पश्यतीतिवत्, प्रकाशैकरूपायाः सूर्य्यकान्तेरुलूकेषु तमोऽभि–व्यञ्जकता इतिवच्च सापराधेष्वयोग्येषु तेषु तस्य स्वरूपाप्रकाशप्रायिकत्वाच्च। अनेन श्रीकृष्णस्यौपपत्ये श्रीराधिकादीनां परकीयात्वे प्राकृतदृष्ट्या दोषदृष्टिं कुर्व्वन्तो जना

कारण है, अतः कृपाम्बुधि प्रभु उत्कण्ठित व्यक्ति को दर्शन देते हैं, प्रेम विवश भागवतोत्तम व्यक्तिगण वर्तमान में भी श्रीवृन्दावन में ही प्रपंच की अगोचर लीला का साक्षात् दर्शन करते हैं। अप्रकट श्रीवृन्दावन की सत्ता स्वीकारने पर ब्रह्मह्रद में गोलोक दर्शन की भाँति यहाँ पर भी साक्षात् दर्शन नहीं होगा और भी अप्रकट श्रीवृन्दावन की सत्ता स्वीकार कर लेने से श्रीरूप गोस्वामी की उक्ति समीचीन नहीं होगी–(उत्कलिकावल्लरी ६६) हे नाथ ! हे श्रीकृष्ण ! हे मदीश्वरि ! हे श्रीराधिके ! तुम्हारे दास्यभाव प्राप्त कर परम भक्त उद्धव प्रभृति महात्मागण जहाँ पर तृण, गुल्मादि जन्म की वाञ्छा करते हैं, उस श्रीवृन्दावन में, मैं हीन जन्मा होने पर भी जिसके प्रभाव से यहाँ पर रह रहा हूँ, वह दीनगामिनी तुम्हारी कृपा को मैं प्रणाम करता हूँ। (श्रीगान्धर्वा प्रार्थनाष्टक १) में उक्त–हे देवि ! श्रीवृन्दावन में केलिकुंज में मदमत्तमतंग के तुल्य तुम दोनों कौतुकी होकर नित्यविहार करते रहते हो, अतएव, मेरे प्रति प्रसन्न हो और अपने वदनारविन्द का एकबार दर्शन कराओ॥ ऐसा होने पर कल्पवृक्षादिरूप वृक्ष भी निम्बरूप से

मायावादिन इव कामानुगाभक्ति निरतजनैः सर्व्वथा त्याज्याः।
(३७) केचित् पुनरेवमाहु—यः खलूपपत्यादूयुतूकर्षो वर्णितः श्रीमद्भिर्ग्रन्थकृद्भिः, स तु परेच्छयैव, न तु स्वाभिमतः ? तन्न, तेषां प्रार्थना—विरोधात्; यथा ह्युत्कलिकावल्लर्य्याम् ४५)—

आलीभिः सममभ्युपेत्य शनकैर्गान्धर्विकायां मुदा,
गोष्ठाधीशकुमार हन्त कुसुमश्रेणीं हरन्त्यां तव।
प्रेक्षिष्ये पुरतः प्रविष्य सहसा गूढ़स्मितास्यं वला—
दाच्छिन्दानमिहोत्तरीयमुरसस्त्वां भानुमत्याः कदा।।

इत्यत्र हि स्वकीयत्वेन तया तया, तस्य पुष्पहरणम्; तेन च तत्तत्सख्या। उत्तरीयाकर्षणं न सम्भवतीति; तथा कार्पण्यपंजिकायाञ्च ३५)—

प्रतीत होता है, इसका कारण—पित्त दुष्ट रसना में मिश्री तिक्त लगती है, नयन दोष से शंख भी पीत दिखायी देता है, स्वयं प्रकाशरूप सूर्य के प्रकाश को उल्लूक तम मानता है, इस प्रकार अपराधी एवं अयोग्य में स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है।। इससे श्रीकृष्ण के औपपत्य में एवं श्रीराधिकादि के परकीयात्व में प्राकृत दृष्टि से जो लोक दोषारोपण करते हैं वह मायावादी की भाँति हैं, अतः रागानुगीय भक्ति परायण जनगण उसका संग सर्वथा परित्याग करें।

(३७) कुछ जन कहते हैं, श्रीरूप गोस्वामीजी ने उपपति का उत्कर्ष उज्ज्वलनीलमणि में वर्णन किया है, वह उनका निज मत नहीं है, अन्य का है, निज मत विवाह है, ऐसा कहना अनुचित है, उनकी प्रार्थना के साथ विरोध होगा।(उत्कलिकावल्लरी ४५) में। हे गोष्ठाधीशकुमार ! ललितादि सखीगण के द्वारा वेष्टित होकर श्रीराधिका तुम्हारी पुष्पवाटिका में प्रविष्ट होकर पुष्प चयन आनन्द से करती हैं, उस समय तुम हठात् वहाँ जाकर श्रीराधिका की सहचरी भानुमती के उत्तरीय वसन को बलपूर्वक ग्रहण करके वाह्यकोप, अन्तर में आनन्दयुक्त मुखपद्म से शोभित हो जाओगे। मैं कब उस दृश्य को देखूँगा। यहाँ पर स्वकीया होने से उनके द्वारा

गवेषयन्तावन्योऽन्यं कदा वृन्दावनान्तरे।
सङ्गमय्य युवां लप्स्ये हारिणं पारितोषिकम्।।

तथा (तत्रैव ३४)–

गुर्व्वायत्ततया क्वापि दुर्ल्लभान्योऽन्यवीक्षणौ।
मिथः सन्देश–सीधुभ्यां नन्दयिष्यामि वां कदा।।

अत्रापि परस्परान्वेषणं दुर्ल्लभान्योऽन्यवीक्षणञ्च परकीयायामेव सम्भवतीति। एवं श्रीमन्महाप्रभोः परमान्तरङ्गभक्त–श्रीरघुनाथदासगोस्वामिपादैर्यथा विलाप–कुसुमाञ्जल्याम् (८८)–

भ्रात्रा गोयुतमत्र मञ्जुवदने स्नेहेन दत्तालयं,
श्रीदाम्ना कृपणां प्रतोष्य जटिलां रक्षाख्यराकाक्षणे।
नीतयाः सुखशोकरोदनभरैस्ते संद्रवत्याः परं,
वात्सल्याज्जनकौ विधास्यत इतः किं लालनां मेऽग्रतः।।

पुष्प चोरी नहीं हो सकती है, पति होने से श्रीकृष्ण से श्रीराधा की सहचरी पर आक्रमण होना भी सम्भव नहीं होगा और स्वकीया में श्रीराधा के समक्ष सहचरी के उत्तरीय का आकर्षण भी पति नहीं कर सकेगा। (कार्पण्य पंजिका ३५) में उक्त है–श्रीवृन्दावन में तुम दोनों विरह व्यग्र होकर परस्पर–परस्पर को अन्वेषण करोगे, उस समय तुम दोनों का मिलन कराकर मैं तुम्हारे निकट से हार पदक प्रभृति पारितोषिक रूप में कब प्राप्त करूँगा। (३४) में–तुम दोनों गुरुजन के समीप में अवस्थित होने पर उस समय परस्पर दर्शन दुष्प्राप्य होता है, अतएव उस समय परस्पर के सन्देश वाक्यरूप अमृत प्रदान कर कब मैं तुम दोनों को पुलकित करूँगा। यहाँ पर भी परस्पर अन्वेषण, दुर्लभ अन्योन्य वीक्षण भी परकीया में ही सम्भव है, इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु के परम अंतरंग भक्त श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी की (विलापकुसुमांजलि ८८ में) उक्ति इस प्रकार है, मनोज्ञ वदने ! तुम्हारे भाई श्रीदाम राखी पूर्णिमा में कृपण जटिला को अयुत गो–दान करके सन्तुष्ट कर तुम्हें घर को लिवा ले जाने से माता–पिता के दर्शन से सुख एवं दीर्घकाल तक

इत्यादि बहुशः।

किंच, ब्रजे श्रीकृष्णस्य नवयौवने समृद्धिमान् शृंगारो ज्ञेयः। स च महाभाव–स्वभावेन चिरप्रवासं विना निकटप्रवासेऽपि तत्स्फूर्त्त्या सम्भवति। (भा० १०।३१।१५) 'त्रुटीर्युगायते त्वामपश्यताम्' इत्यादिन्यायेन 'ब्रह्मरात्रततिवद्विरहेऽभूत' इत्यादि–न्यायेन शरज्ज्योत्स्नी–रासे (भा० १०।३३।१८) विधिरजनिरूपापि निमिषादिन्यायेन च। अतएव श्रीमद्उज्ज्वलनीलमणौ (मुख्य सम्भोग० २०३) सम्पन्नस्योदाहरणे श्रीहंसदूतस्य पद्यं दत्तम्। अतो विदग्धमाधवे (१।३९) पौगण्डत्वेन भासमानत्वं दर्शितम्; यथा–'दुग्धमुहस्स वच्छसस्स को कखु दाणिं उव्वाहाओसरो' इत्यादौ।

(३८) नवयौवनस्यैव सदास्थायित्वेन ध्येयत्वम्, यथा स्तवमालायां (उत्कलिकावल्लरी १७)–'श्यामयोर्नववन (वयः)–सुषमाभ्याम्

सासु के यहाँ रहने पर दुःख को युगपत् अनुभव करके जब तुम रोदन करोगी, उस समय स्नेह से तुम्हारे माता–पिता कीर्त्तिदा, वृषभानु मेरे सामने तुमसे कहेंगे, माँ ! मत रोओ, तुम हमारे नेत्र हो, तुम्हें न देखकर हमारे चक्षु अन्ध हो जाते हैं, इस प्रकार कहकर मस्तक गात्रादि स्पर्श करके क्या लालन विधान करेंगे ? इस प्रकार अनेक सम्वाद हैं और भी ब्रज में श्रीकृष्ण के नव यौवन में समृद्धिमान् शृंगार होता है। समृद्धिमान् सम्भोग तो महाभाव स्वभाव से चिर प्रवास को छोड़कर ही होता है, निकट प्रवास में उसकी स्फूर्त्ति से ही सम्भव होगा (भा० १०।३।१५) तुम्हें न देखकर निमेषकाल भी युग के समान होता है, इत्यादि रीति से विरह में ब्रह्मरात्रि समूह की भाँति रात्रि होती है। शरत् रास में (भा० १०।३३।३८) ब्रह्मरात्रि समूह भी निमेष के समान हुई थी, अतएव (उज्ज्वलनीलमणि में मुख्य सम्भोग २०३), सम्पन्न के उदाहरण में हंसदूत का पद्य लिखा गया है, अतएव (विदग्धमाधव १।३९) में–श्रीकृष्ण का अनुभव पौगण्ड में ही होने लगा। आर्य ! दुग्ध मुख बालक के लिए इदानीं विवाह का अवसर कैसे होगा ?

इत्यादौ। अतः श्रीकृष्ण–दुग्धमुखत्वस्य सदा स्फूर्त्त्या श्रीब्रजेश्वर्य्यादिभिस्तस्य परिणयोद्यमः क्वापि न कृतः; किमुत महाभाव प्रभेदाधिरूढ़–विशेष–मादनभावस्वभावे, स च तं विना सम्भवतीति वक्तव्यम् यथा श्रीआर्ष–वचनम्–

वन्दे श्रीराधिकादीनां भावकाष्ठामहं पराम्।
विना वियोगं संभोगं या तुर्य्यमुदपादयत्।।

अत्र भावकाष्ठाम्–मादनरूपाम्; मादनस्य लक्षणम् (उज्ज्वलनीलमणि स्थायी० २१९, २२६, २२९)–

सर्वभावोद्‌गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा।।

---

(३८) श्रीकृष्ण का नव यौवन ही सदा स्थायी रूप से ध्येय है। स्तवमाला की उत्कलिकावल्लरी १७ में–हे श्रीकृष्ण ! हे श्रीराधिके! तुम दोनों जगत् के समुदाय वस्तु के शिरोभूषण हो, तुम दोनों के मध्य में एक तो अभिनव वयस हेतु श्यामा अर्थात् उत्तमा युवती नारी लक्षण से लक्षिताः और अपरजन परम शोभा हेतु श्याम अर्थात् मरकतमणि की भाँति उज्ज्वल हैं। एक व्यक्ति–निर्मल शोभा हेतु तद्‌रूप काञ्चन के तुल्य गौरांगी, अपरजन–सुविमल यशः के कारण गौर अर्थात् शुभ्रवर्ण हैं, अतएव तुम दोनों की इस प्रकार रूपमाधुरी मेरे हृदय में सदा विराजित हो। अतः श्रीकृष्ण के दुग्ध मुखत्व की सदा स्फूर्त्ति से श्रीब्रजेश्वरी प्रभृतियों ने कभी भी श्रीकृष्ण के परिणय उत्सव के हेतु उद्यम नहीं किया। महाभाव के प्रभेद अधिरूढ़ विशेष मादन भाव स्वभाव में तो कहना ही क्या है, उसके बिना क्या समृद्धिमान् सम्भोग हो सकता है ? आर्षवचन भी इस प्रकार है–मैं श्रीराधिकादि की भावकाष्ठा की वन्दना करता हूँ। वियोग के बिना ही जिससे सम्भोग सम्पन्न होता है। भावकाष्ठा शब्द से मादनरूप भावकाष्ठा को जानना होगा, मादन का लक्षण (उ०नी० स्थायी० २१९, २२६, २२९) में है। मादन–रत्यादि महाभाव भेद से अधिरूढ़ मोहन पर्यन्त यावतीय भाव का जो प्राकट्य है उससे भी अधिक उत्कर्ष विशिष्ट, अतएव श्रेष्ठ मोदन

'न निर्वक्तुं भवेच्छक्या तेनासौ मुनिनाप्यलम्';
'स्फुरन्ति ब्रजदेवीषु परा भावभिदाश्च याः'
'तास्तर्कागोचरतया न सम्यगिह वर्णिताः'

इत्यादेश्च, चिरनिकट प्रवासे चिर प्रवास-स्फूर्त्या समृद्धिमान् सम्भोगो भवतीति किमाश्चर्य्यम्।

ननु तर्हि कथं श्रीगोस्वामिपादैः समृद्धिमान् सम्भोगो नववृन्दावने उदाहृतः ? तत्तु स्पष्टलीलायां नन्दनन्दन-वसुदेवनन्दनयोरेकत्वाभिमानात्। तद्यथा (भा० ११।१२।१३) 'मत्कामारमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः' तथा (भा० १०।४६।३) 'गच्छोद्धव ब्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमावह' इत्यादि। अतएव श्रीमत्उज्ज्वलनीलमणौ (शृङ्गारभेदान्तर्गत-संयोग वियोग० १८५-६)-

---

महाभाव से भी अत्युत्कृष्ट जो आह्लादिनी नामक महाशक्ति का स्थिरांश, जो केवल श्रीराधा में ही सदा विराजित है, उसको मादन कहते हैं। यह मादन ललितादि में भी उदित नहीं होता है। कामबीज से उपास्य श्रीकृष्ण के तुल्य इस मादन की गति भी सुदुर्बोध्य है, इसलिए श्रीभरत मुनि अथवा श्रीशुकदेवजी भी मादन के सर्वधर्म का स्पष्ट लक्षण निर्णय करने में असमर्थ रहे। भाव की रति अवस्था से आरम्भ कर महाभाव पर्यन्त क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष समूह का निरूपण लक्षण एवं उदाहरण द्वारा करके उक्त क्रम की प्रायिकता को कहते हैं। स्नेह प्रथमतः राग एवं अनुरागता को प्राप्त कर कभी तो मानत्व एवं प्रणयत्व को प्राप्त करता है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती के मत में राग प्रथमतः उत्पन्न होकर अनुराग को प्राप्त करता है, उसके पश्चात् स्नेह होता है, कभी अनन्तर मान तो कभी प्रणय उत्पन्न होता है, अतएव श्रीराधिकादि के पूर्वराग प्रसंग में भी मान एवं प्रणयादि के आविर्भाव को छोड़कर ही रागाविर्भाव का सम्वाद सुनने में आता है, ब्रजदेवीगण में श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भाव की जो भेद स्फूर्त्ति होती है,

हरेर्लीलाविशेषस्य प्रकटस्यानुसारतः।
वर्णिता विरहावस्था ब्रज–वामभ्रुवामसौ।।
वृन्दारण्ये विहरता सदा रासादिविभ्रमैः।
हरिणा ब्रजदेवीनां विरहो नास्ति कर्हिचित्।।

अतएव (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ ७।७।१२८) श्रीभागवतादि–गूढ़ार्थः श्रीगोस्वामिपादैर्दर्शितः यथा–

प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलानुसारतः।
कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु ब्रजवासिनाम्।।

तथाहि यामल वचनम्–

कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतो यस्तु गोपेन्द्रनन्दनः।
वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति।।इति;

स्पष्टलीला–श्रीनन्दनन्दन–वसुदेवनन्दनयोरेकात्म–व्यञ्जिका; अस्पष्टलीला गूढ़लीला, तयोर्भेदव्यञ्जिका। अतएव श्रीनन्दयशोदादीनां परिकरैः सह द्वारवत्यादिगमनं 'ब्रजेशादेरंशभूता ये द्रोणाद्याः' इत्यादिवत्ज्ञेयम्।

(जिस प्रकार रासलीला में पूतनादि का अनुकरण)। उसका बोध तत्काल नहीं होता है, अतः इस ग्रन्थ में उसका सम्यक् वर्णन नहीं हुआ। इस प्रकार चिर निकट प्रवास में भी चिर प्रवास स्फूर्त्ति होने के कारण समृद्धिमान् सम्भोग होगा, इसमें आश्चर्य की बात क्या है ? तब श्रीरूपगोस्वामिपाद ने समृद्धिमान् सम्भोग का उदाहरण–का प्रदर्शन, नव श्रीवृन्दावन में क्यों किया है ? उत्तर–स्पष्ट लीला में नन्दनन्दन, वसुदेवनन्दन में अभेदाभिमान के कारण वैसा हुआ, (भा० ११।१२।१४) अवलागणों ने मुझको रमण, जार मानकर ही प्राप्त किया। (भा० १०।४४।३) हे उद्धव ! ब्रज को जाओ और माता–पिता की प्रीति विधान करो। अतएव (उ०नी० शृंगार भेद के अन्तर्गत संयोग वियोग १८५–६)–विप्रलम्भ शृंगार के उपसंहार के समय श्रीकृष्ण की नित्य लीला को दिखाते हैं। इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की प्रकट लीला विशेष के अनुसरण से ब्रजसुन्दरियों

श्रीललितमाधवे श्रीराधा–प्रार्थना (१०।३६)–

या ते लीलापदपरिमलोद्गारिवन्या–परीता,
धन्या क्षौणी विलसति वृता माधुरी–माधुरीभिः।
तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभाव – मुग्धान्तराभिः,
संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासिवेणुविहारम्।।

कृष्णः–प्रिये ! तथास्तु।
राधिका–कधं विअ ?

कृष्णः स्थगितमिवापसव्यतो विलोकते।
प्रविश्य गार्ग्या सहापटीक्षेपेण एकानंशा।।

एकानंशा–सखि राधे ! मात्र संशयं कृथाः, यतो भवत्यः श्रीमति गोकुले तत्रैव वर्त्तन्ते, किन्तु मयैव कालक्षेपणार्थमन्यथा प्रपञ्चितम्; तदेतन्मनस्यनुभूयताम्, कृष्णोऽप्येष तत्र गत एव प्रतीयताम् गार्गी (स्वगतम्)–फलिदं मे तातमुहादो सुदेन।

की विरहावस्था का वर्णन हुआ है, किन्तु श्रीवृन्दावन में सदा के लिए रासादि विविध लीला विनोद परायण श्रीकृष्ण के साथ ब्रजदेवीगण का विरह कभी भी नहीं होता है। दशम के अन्त (१०।९०।४८) में वर्णित है–'जयति जन निवास' इत्यादि पद्य में भी वर्तमानकाल का प्रयोग होने पर युगपत् द्वारका, मथुरा, वृन्दावन में लीला विलास की नित्यता ही सूचित हुई है। पद्मपुराण के पातालखण्ड में मथुरा–माहात्म्य में वर्णित है–श्रीवृन्दावन में गो, गोप, गोपीगण के साथ कंसनाशन नित्य क्रीड़ा करते हैं, इसमें भी वर्तमानकाल का प्रयोग से लीला का सातत्य सप्रमाणित हुआ है।

(३९) अतएव (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ३।३।१२८) में–श्रीभागवतादि गूढ़ार्थ को श्रीरूपगोस्वामिपाद ने कहा है। स्पष्ट लीला के अनुसार विरहावस्था का वर्णन हुआ है, ब्रजदेवियों के साथ श्रीकृष्ण का विरह कभी भी नहीं है। यामल वचन भी इस प्रकार हैं–यदुसम्भूत वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अन्य हैं, गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण पृथक् हैं। नन्दनन्दन श्रीकृष्ण कभी भी श्रीवृन्दावन को

श्रीभागवते यथा श्रीनन्दनन्दन–वसुदेवनन्दनयोरेकत्वव्यञ्जिका स्पष्टा तथा श्रीललितमाधवे विन्ध्यादार–प्रसूता–कीर्त्तिदा–प्रसूतयोरेकत्वव्यञ्जिका लीला स्पष्टा। यथा गूढ़लीलायां श्रीकृष्णो वसुदेवनन्दनरूपेण गतस्तथा श्रीराधा सत्यभामारूपेण गता। यथा स्पष्टलीलायां वसुदेवनन्दने नन्दनन्दनावेशस्तथा श्रीसत्यभामायां श्रीराधावेश इति।

(४०) नन्वप्रकटलीलायां पूर्व्वरागो नास्तीति प्रकटलीला–विशेषोऽपेक्ष्य:, प्रकटलीलायां समृद्धिमान् सम्भोगो नास्तीत्य–प्रकटलीलाविशेषोऽपेक्ष्य:। अतएव गोकुलस्य प्रकटाप्रकटप्रकाशयो: स्वरूपेण द्वैविध्यं स्यात्; एवं लीलायाश्च ? तत्राह–समृद्धिमान् सम्भोगस्तत्र प्रकटलीलायां न जातश्चेत्, तदर्थमप्रकटलीलाविशेषोऽपेक्ष:; स तत्र जात एव यथा दन्तवक्र–बधान्तरम्–'रम्यकेलिसुखेनात्र मासद्वयमुवास ह' इति।

छोड़कर नहीं जाते हैं। स्पष्ट लीला– श्रीनन्दनन्दन वसुदेवनन्दन की एकात्मबोधिका लीला, अस्पष्ट लीला–गूढ़ लीला वसुदेवनन्दन, श्रीनन्दनन्दन की भेदबोधिका लीला। अतएव नन्द–यशोदा प्रभृति के परिकर के साथ द्वारकादि गमन भी ब्रजेशादि के अंशभूता द्रोणादि द्वारा है।

श्रीललितमाधव में श्रीराधा की प्रार्थना इस प्रकार है–'चंचल गोपांगनागण के साथ जो मधुर विहार है, जिससे धरणी पवित्र हुई है, उसको प्रकट करने के लिए वंशीवादन विहार को प्रकाश करो। श्रीकृष्ण बोले, प्रिये ! ऐसा ही हो–श्रीराधिका ? किस प्रकार कुछ रुककर दक्षिण की ओर देखती हैं–गार्गी के साथ एकानंशा श्रीकृष्ण की बहिन भंगीरूप से प्रवेश करती हैं। एकानंशा–सखि राधे ! यहाँ पर संशय न करो, श्रीमति तुम सभी तो गोकुल में ही हो, किन्तु मैंने ही कालक्षेपन के लिए अन्य प्रकार से किया था, उसका अनुभव मन ही मन करो, श्रीकृष्ण को भी वहाँ पर ही देखो। गार्गी बोली पिता की वाणी सत्य हुई। श्रीमद्भागवत में जिस

किञ्च, स्वकीयासु समञ्जसा रतिः, सा चानुरागान्ता; तत्र जाति भेदेन समृद्धिमान् सम्भोगो रसनिर्य्यासत्वेन न कथ्यते। परकीयासु समर्था रतिः; सा च भावान्ता। (भ०र०सि० २।५।१)– 'वैशिष्टं पात्रवैशिष्ट्यादृरतिरेषोपगच्छति' इति समर्थारति–स्थायिकः समृद्धिमान् सम्भोगो रसनिर्य्यासत्वेन कथ्यते। अतएव प्रकटलीलायां पूर्वराग–समृद्धिमन्तौ जातौ। अप्रकटलीलाविशेष–स्वीकारेण किं प्रयोजनम् ? किञ्च, जात प्राकट्याः पूर्वरागादिगता लीला अप्रकटा अधुना वर्त्तन्ते, तासां पुनः प्राकट्ये किं पुनः पूर्वरागादिरूपं निजप्रयोजनं भवति ? लीलायाः प्रकटतायां समृद्धिमत आस्वादनमस्त्येव; तदर्थ प्रकटलीलाविशेष इत्यसङ्गतिरिक्त; किन्तु रसशास्त्रे सम्भोगस्य रात्रि–प्राधान्यत्वात्, स च समृद्धिमान् रात्रावेव जायते यथा निकटदूरेत्यादि पूर्ववत्।

(४१) केचित्तु दन्तवक्रबधानन्तरं प्रौढ़यौवने * * प्रौढ़यौवनं विचार्य्यते–आनुक्रमिकी लीला नित्या; सा च (गीता० ४।९)–

प्रकार श्रीनन्दनन्दन वसुदेवनन्दन की एकत्व व्यंजिका स्पष्ट लीला है, इस प्रकार श्रीललितमाधव में विन्ध्यादार प्रसूता कीर्त्तिता प्रसूता की एकत्व व्यंजिका स्पष्ट लीला है, जिस प्रकार गूढ़ लीला में श्रीकृष्ण वसुदेवनन्दन रूप से मथुरा गये तथा श्रीराधा सत्यभामा रूप से द्वारका गयीं, यथा स्पष्ट लीला में वसुदेवनन्दन में नन्दनन्दनावेश है तथा श्रीसत्यभामा में श्रीराधा का आवेश है।

(४०) यदि कहो कि अप्रकट लीला में पूर्वराग नहीं है, अतः प्रकट लीला विशेष की अपेक्षा करनी होगी। प्रकट लीला में समृद्धिमान् सम्भोग नहीं है, इसके लिए अप्रकट लीला विशेष की अपेक्षा होती है। अतएव गोकुल के प्रकट अप्रकट प्रकाशस्वरूप में दो होते हैं, इस प्रकार लीला भी दो होंगी ? उस पर कहते हैं–समृद्धिमान् सम्भोग की यदि प्रकट प्रकाश में सम्भावना ही नहीं है, तो उसके लिए अप्रकट प्रकाश लीला विशेष की अपेक्षा

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' इत्यादेः। तस्यां श्रीनन्दनन्दनस्य वयोगणनं श्रीवैष्णवतोषण्यां निर्णीतमेव। तत्तु पञ्चविंशत्याधिक–शतवर्षपर्य्यन्तम्; तद्व्यवस्था–ब्रजे एकादशसमाः; तत्र सावित्र्य–जन्माभावेन धर्म्मशास्त्रविरोधाद् विवाहो नास्ति; रासक्रीड़ासुखसम्भोगे परकीयात्वमेवेत्यर्थः। मथुरायां चतुर्विंशतिः वर्षाः तत्रापि नास्ति विवाहः। शेषन्तु वयो द्वारकादिषु; तत्रापि प्रथमतः श्रीरुक्मिण्या विवाहः, ततः सम्भोगादनन्तरं सत्यभामादीनाम्; ततः षोडश–सहस्रकन्यानाम्; ततः पुत्रपौत्रादयो बहवो जाताः ततो दन्तवक्रबधानन्तरं लीलावसाने ब्रजागमनम्; तत्रापि केषांचिन्मते विवाहः श्रीराधादिभिः सम्मतः। तदसङ्गतम्, श्रीभागवते कुत्राप्यवर्णितत्वात्, बन्धुवर्गादेर्निषेधाभावेन रसोत्कर्षाभावाच्च। अतएव गोचारणादिजन्य–विरहाभावस्ततो रासदानमानादिलीलादेरभावेन दूती प्रेषणादेरभावः स्यात् अतएव श्रीरूपपादैर्नवयौवनस्यसदाध्येयत्वेन वर्णित त्वात् श्रीमहाप्रभोः पार्षदवृन्दैर्विवाहस्य कुत्राप्यवर्णितत्वाच्च । श्रीपद्मपुराणमते

करो। वह तो वहाँ पर हो गया है, यथा दन्तवक्र बध के पश्चात् रम्य केलि सुख से ब्रज में दो मास बिताये हैं और भी स्वकीया में समंजसा रति होती है, वह तो अनुरागान्ता हैं, वहाँ पर जाति भेद से समृद्धिमान् सम्भोग का कथन रस निर्यास आस्वादन के लिए निर्णीत नहीं है, परकीया में समर्था रति है–वह भावान्ता है। (भ०र०सि० २।५।७) पात्र विशेष से ही रति का वैशिष्ट्य होता है। इस प्रकार समर्थारति स्थायि भावापन्न समृद्धिमान् सम्भोग के लिए रस निर्यास कहा गया है। अतएव प्रकट लीला में पूर्वराग समृद्धिमान् उत्पन्न हुआ है। अप्रकट लीला विशेष स्वीकार करने का प्रयोजन ही क्या है ? और भी पूर्वरागादि लीला प्रकट में प्रकाश होती है, इस समय तो वह लीला अप्रकट होकर रहती है, उसका प्रकट होने पर पुनर्वार क्या पूर्वरागादि का प्रयोजन सिद्ध होगा ? लीला प्रकट होने पर समृद्धिमान् का आस्वादन होता ही

ललितमाधवे विवाहवर्णनं कल्पभेदेन समाधेयम्। तस्मात् सर्वेषां मते प्रकटाप्रकटलीलायां परकीयैव, नित्यत्वात्। विवाहं स्वीकृत्य तेनैव लीलाया अप्रकटत्वं मत्वा स्वकीयाया नित्यत्वं मन्यते। तदसङ्गतम्, पूर्वहेतोः, श्रीव्रजेश्वरादीनां श्रीकृष्णस्य सदादुग्धमुखत्वस्फूर्त्या सावित्रजन्याभावेन विवाहाभावात्। नवयौवन सम्बलितपूर्णतमत्वस्य श्रीरूपगोस्वाम्यादिभिः सदा ध्येयत्वाच्च, तत्तु श्रीकृष्णस्य मथुरादि–गमनाभावात्। स च 'कृष्णोऽन्यो यदुसम्भूतः' इत्यादि, मथुरादिगमने तु पूर्णतरत्वादि–पातात्। नवयौवनस्य सदा ध्येयत्वं यथा स्तवमालायाम् (उत्कलिकावल्लरी १८)–

श्यामयोर्नववय सुषमाभ्यां,
गौरयोरमल–कान्तियशोभ्याम्।
कापि वामखिलवल्गुवतंसौ,
माधुरी हृदि सदा स्फुरतान्मे।। इति;
'श्याममेव परं रूपं, वयः कैशोरकं ध्येयम्' इत्यादेश्च।

है, उसके लिए फिर से प्रकट लीला विशेष की अपेक्षा करो, इससे लीला की असंगति होगी, किन्तु रसशास्त्र में सम्भोग विधान रात्रि में है, अतएव समृद्धिमान् रात्रि में ही होगा, जिस प्रकार प्रवास के लिए निकट, दूर की व्यवस्था है।

(४१) कुछ व्यक्ति कहते हैं–दन्तवक्र बध के पश्चात् प्रौढ़ यौवन में समृद्धिमान् सम्भोग होता है। प्रौढ़ यौवन का विचार करते हैं। आनुक्रमिकी लीला नित्या है, (गीता० ४।९) में कहा है– जन्म कर्म मेरा दिव्य है। श्रीवैष्णवतोषिणी में श्रीनन्दनन्दन की वयोगणना है, १२५ वर्ष पर्यन्त श्रीकृष्ण की स्थिति हैं, उसकी व्यवस्था इस प्रकार है–ब्रज में ११ वर्ष तक, उस समय उपनयन–संस्कार द्वारा द्विजत्व न होने के कारण धर्मशास्त्र विरोध हेतु विवाह नहीं हुआ। रासक्रीड़ारूप सुख सम्भोग के लिए परकीयात्व की परमावश्यकता मथुरा में २४ वर्ष। वहाँ पर भी विवाह नहीं हुआ। अवशिष्ट वयस द्वारकादि में है, उसमें प्रथम रुक्मिणी

(४२) अस्मन्मते तु श्रीवसुदेवनन्दनरूपेण मथुरा–द्वारकादौ गत्वा दन्तवक्रबधानन्तरं पुनर्व्रजमागत्य तत्र तु स्वयं प्रकाशरूपेण श्रीव्रजेन्द्रनन्दनेन लीलायाः प्रकटनं कृतम्; तत्तु त्रिमास्याः परतस्तासां साक्षात् कृष्णेन सङ्गतिः' इति जातम्; ततः समृद्धिमान् सम्भोगश्च जातः। अस्य तु प्रकटाप्रकटे जातत्वं पूर्वमेव

विवाह, सम्भोग के पश्चात् सत्यभामादि से विवाह, उसके पश्चात् १६ हजार कन्याओं से विवाह, पश्चात् में पुत्र, पौत्र अनेकानेक हुए, इसके पश्चात् लीलावसान करके दन्तवक्र बध के पश्चात् ब्रजागमन, किसी के मत में उस समय श्रीराधा प्रभृति के साथ विवाह हुआ, यह असंगत है, श्रीमद्भागवत के किसी भी स्थान में वर्णित नहीं है॥ विवाह होने पर पत्नी मिलन में बन्धुवर्ग से बाधा भी नहीं होगी, रसोत्कर्ष की तो सम्भावना भी नहीं रहेगी, अतएव गोचारणजन्य विरह भी नहीं होगा, रास दान मानादिलीला भी नहीं होगी, दूतीप्रेषण की कोई आवश्यकता भी नहीं रहेगी, अतएव श्रीरूपगोस्वामिचरण ने नवयौवन का वर्णन सदा ध्येयत्वेन किया है। श्रीमन्महाप्रभुजी के पार्षदवृन्दों ने कहीं पर भी विवाह का वर्णन नहीं किया है, श्रीपद्मपुराण के मत को लेकर ललितमाधव में जो विवाह लिखा गया है; उसका समाधान कल्पभेद से करना चाहिए। अतएव सभी के मत में प्रकट–अप्रकट लीला में परकीया ही है, परकीया लीला नित्य है। विवाह को मानकर उस लीला को अप्रकट मानकर स्वकीया का नित्यत्व जो मानता है, वह असंगत है, इसका कारण पूर्व में कहा गया है। श्रीब्रजेश्वर ने सदा ही श्रीकृष्ण को दुग्धमुख शिशु ही माना है, सावित्री जन्म न होने से विवाह होना भी असम्भव है। श्रीरूपगोस्वामि प्रभृति ने नवयौवन सम्बलित पूर्णतम रूप को ध्येयरूप में माना है। श्रीकृष्ण का मथुरा गमन हुआ ही नहीं, यदुसम्भूत कृष्ण अन्य हैं जो मथुरा गये हैं। मथुरा गमन से श्रीकृष्ण में पूर्णतरत्वादि प्राप्ति होगी नवयौवन सदा ध्येय है, स्तवमाला में श्रीरूपगोस्वामीजी ने लिखा है, श्याम रूप ही परम रूप है और वयस कैशोर ही ध्येय है॥

लिखितम्। ततः श्रीमद्ब्रजेन्द्रनन्दने पूर्णतरादि प्रकाशे, न तु मथुरा–द्वारकादौ च; अतः प्रकटाप्रकटे परकीयायाः सद्भावेन नित्यत्वात्। तत्तु (भा० १०।९०।४८) 'जयति जननिवासः' इत्यादेर्वर्त्तमान प्रयोगा बहवः सन्ति अतः श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभोः परिवारेषु श्रीमन्नित्यानन्दाद्वैतादिभिः श्रीभागवतमतानुसारेण प्रकटाप्रकटे ब्रजलीलायां श्रीकृष्णस्यौपपत्यं नित्यत्वेन स्वीकृत्य स्वस्वपरिवारे प्रवर्त्तितं दृश्यते, तेषु च श्रीगदाधरस्वरूप–रूप–सनातन–भट्ट रघुनाथदास–कर्णपूरादिभि–स्तत्तन्मतानुसारेण तत्र तत्रैव परकीयात्वं स्वस्वग्रन्थगणे वर्णयित्वा प्रवर्त्तितं दृश्यते, लीलामात्रस्य नित्यत्वात्; तत्तु 'जयति जननिवासः' इत्यादेः। तथा श्रीरामानुजाचार्य्य–मध्वाचार्य्य–प्रभृतिभिश्च लीलामात्रस्य नित्यत्वं स्थाप्यते। अतो लीलामात्रस्य नित्यत्वेनानुक्रमिक्या लीलाया नित्यत्वे न दोषस्तस्मात् प्रकटाप्रकटे परकीयाया नित्यत्वम्।

---

(४२) हमारे मत में श्रीवसुदेवनन्दन रूप से मथुरा, द्वारका को जाकर दन्तवक्र बध के पश्चात् पुनर्वार ब्रज में आकर स्वयं प्रकाशरूप ब्रजेन्द्रनन्दन रूप में लीला को प्रकट किया। यह समस्त विवरण तीन मास के पश्चात् ही हुआ, कारण तीन मास के पश्चात् ही ब्रजांगनागण के साथ संगति हुई, उसके पश्चात् समृद्धिमान् सम्भोग हुआ, यह तो प्रकट–अप्रकट दोनों में ही होता है। पूर्व में लिखा भी गया है, उसके पश्चात् श्रीमद्ब्रजेन्द्रनन्दन में पूर्णतरादि का प्रकाश होने से, किन्तु द्वारका, मथुरादि में नहीं। अतएव प्रकट एवं अप्रकट में परकीया की स्थिति नित्य होने के कारण परकीया नित्य है, (भा० १०।९।४८) में–'जयति जननिवासः' में वर्त्तमान प्रयोग के द्वारा प्रतिपादन किया है। अतएव श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु के परिवार में श्रीमन्नित्यानन्द अद्वैत प्रभृतियों ने श्रीमद्भागवत मत के अनुसार प्रकट एवं अप्रकट में ब्रजलीला में श्रीकृष्ण का औपपत्य नित्यरूप से मानकर निज–निज परिवार में प्रवर्त्तन किया है। उनमें से श्रीगदाधर नरहरिस्वरूप रूप–सनातन

(४३) तत्तु पुनः परिपाट्या विचार्य्यते—स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दनः श्रीकृष्णचैतन्य; स च सप्तोत्तरचतुर्दशशत–शकाब्दे प्रकटितः; जगद्गुरुत्वादाचार्य्यत्वमङ्गीकृतवान्। अवतारे तु मुख्यकारणमाह—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा–
स्वाद्यो येनाद्भुत–मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा–
त्तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः।।इत्यादि।

गौणकारणन्तु भूभाररूप–महापापिनामसुर–स्वभावं दूरीकृत्य कलौ मुख्यधर्म्मनाम–संकीर्त्तनम्। तस्य प्रमाणम् (भा० १०।३३।३६) 'अनुग्रहाय भक्तानाम्' इत्यादि।

भट्ट रघुनाथदास कर्णपूरादि ने निज–निज ग्रन्थ में परकीयात्व का वर्णन किया है, लीलामात्र ही नित्य है। 'जयति जननिवासः' इसमें प्रतिपादन किया है। श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य प्रभृतियों ने लीलामात्र को नित्य माना है। अतएव लीलामात्र नित्य होने से आनुक्रमिक लीला का नित्यत्व में कोई दोष नहीं है, अतएव प्रकट एवं अप्रकट में परकीया का नित्यत्व है।।

(४३) पुनर्वार उसका विचार परिपाटी के द्वारा करते हैं। स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचैतन्य हैं। आपका प्रकटकाल १४०७ शकाब्द है। जगद्गुरु होने के कारण आपने आचार्यत्व को भी अंगीकार किया। अवतार के लिए मुख्य कारण तीन हैं। भगवान् की भगवत्ता भक्त होने से, प्रभु होने से नहीं, ब्रज में भगवान् श्रीकृष्ण सभी के प्रीति के विषय हैं, भक्तों का महत्त्व उनके हृदय में अल्प था, अनुभव नहीं था मात्र विधान पालन करना ही था, अतएव भक्त श्रीराधा किस प्रकार प्रीति करती हैं, उस प्रीति का महत्त्व कैसा है, उसको समझना परमावश्यक है, यह प्रथम कारण है। द्वितीय कारण यह है, मेरी माधुरी भी कैसी है, जिसको श्रीराधा उस असमोर्द्ध प्रीति के द्वारा आस्वादन करती हैं ? तृतीय कारण यह है, मेरी माधुरी का अनुभव कर श्रीराधा का सुख कैसा होता

अतएव श्रीनित्यानन्दाद्वैत–गदाधर–स्वरूप–रूप–सनातनादीन् निजपार्षदान् प्रकटय्य तद्द्वारेण युगधर्म्मं प्रवर्त्तयित्वा तैः सह पुनरष्टचत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तं प्रकटमुख्यकारणं मुख्यरसास्वादनं कृतवान्। आस्वादनन्तु सर्व्ववेदान्तसार–श्रीभागवतसम्मतम्, तत्तु प्रकटाप्रकटे नित्यत्वात्। तत्र च (भा० १।३३।१९)–

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रराम भागवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।।

इत्यादि बहुशः। तस्माद्व्रजेन्द्रनन्दनस्य गोपस्त्रीषू–पपतित्वम् तासां तु तस्मिन् परकीयात्वं क्रमलीलावसाने प्रकटं नित्यमेव। यतः श्रीमन्महाप्रभुः श्रीकृष्णचैतन्यः सर्व्वभक्तान् तदेवास्वादनं कारयित्वा स्वयमेवास्वादनं कृतवान्।

है, इन तीन कारणों को समझने के लिए अति उत्कट लालसा हुई और उस लालसा से प्रेरित होकर श्रीराधा भावयुक्त होकर शचीगर्भ सिन्धु में हरीन्दु श्रीकृष्णचैतन्य अवत्तीर्ण हुए। यह ही उत्तमाभक्ति भागवतधर्म है, इसमें प्रत्येक प्राणी को विशेषकर नारी प्रभृति सेवक सत्ता को स्वराट् रूप से स्वीकार लिया गया है, अर्थात् भगवान् सर्वस्व देकर अकपट रूप से भक्त के उल्लास के लिए प्रत्यक्ष प्रकट रहेंगे, भक्त भी अकपट भाव से भगवान् के लिए जीवित रहेंगे। ब्रज में इसका आस्वादन करना सम्भव नहीं था, अतएव परिशिष्ट लीला में गौरांग होकर उसका आस्वादन कर जगत् में प्रचार किया, इस प्रकार ही भागवतीय उत्तमाभक्ति परकीया भाव है।

गौण कारण द्वितीय था, आसुरिक स्वभाव सम्पन्न व्यक्ति ही पृथ्वी के लिए भार होता है, उस महापापी आसुरिक स्वभाव को विदूरित करके कलि का मुख्य धर्म 'श्रीहरिनाम संकीर्त्तन' का प्रवर्त्तन। (भा० १०।३३।३६) में उक्त है, भगवान् भक्तों को अनुग्रह करने के लिए वैसा ही आचरण करते हैं, जिसको श्रवण कर मानव धर्मलोभी बनेंगे। अतएव श्रीनित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर, स्वरूप, रूप–सनातनादि निज पार्षदों को प्रकट कर उनके द्वारा

तत्र स्वयमास्वादनं यथा श्रीचैतन्यचरितामृते (मध्य० २।११)-

चण्डीदास, विद्यापति, रायेर नाटक गीति,
कर्णामृत, श्रीगीतगोविन्द।
स्वरूप-रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने,
गाय नाचे परम-आनन्द।। इति।

एतदभावे (भ०र०सि० १।१।२)-'हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्त्तितोऽहं वराकरूपोऽपि' इति वचनात्, श्रीमहाप्रभुणा निजप्राकट्यस्य प्रयोजनस्य श्रीमद्रूपगोस्वामि कृत-श्रीमद्उज्ज्वलनीलमण्यादिभिः संपादितत्वात्। प्राकट्यमुख्य-प्रयोजनस्य हान्या श्रीमहाप्रभोः प्राकट्यमप्रयोजकम्; तस्मात् श्रीमहाप्रभोः कृतास्वादनस्य परमविज्ञसेव्यत्वम्; यथा तत्र श्रीदास-गोस्वामिकृत-स्तवावल्याम् (श्रीचैतन्याष्टके ४)-

---

युगधर्म 'श्रीहरिनाम संकीर्त्तन' का प्रचार हुआ एवं इन सभी के साथ ४८ वर्ष पर्यन्त प्रकट का मुख्य कारणरूप श्रीराधाभाव का आस्वादन किया। वह आस्वादन सर्ववेदान्तसार श्रीमद्भागवत सम्मत परकीया भाव ही है, वह प्रकट एवं अप्रकट में नित्य है। (भा० १०।३३।१९)-आत्माराम होकर भी भगवान् ने गोपयोषित के तुल्य-तुल्य स्वयं को प्रकट कर लीलापूर्वक रमण किया। इत्यादि प्रचुर प्रमाण हैं। अतएव ब्रजेन्द्रनन्दन का गोप स्त्रियों के साथ उपपतित्व है, उन सभी का परकीयात्व-क्रम लीला के अवसान में नित्य प्रकटित है, कारण श्रीमहाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य ने सकल भक्तों को उसका आस्वादन करवाकर स्वयं ने आस्वादन किया था, स्वयं आस्वादन का प्रकार श्रीचैतन्यचरितामृत में वर्णित है-'चण्डीदास, विद्यापति, रायेर नाटक गीति, कर्णामृत, श्रीगीतगोविन्द। स्वरूप-रामानन्द सने, महाप्रभु रात्रिदिने, गाय नाचे परम आनन्द॥' इसके अभाव से उसको कोई नहीं समझ पाता, (भ०र०सि० १।१।१) श्रीरूपगोस्वामिचरण ने कहा-हृदय में जिनकी प्रेरणा से मैं क्षुद होकर भी भक्तिरस का अंकन कर रहा हूँ। निज प्राकट्य के प्रयोजन को श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीमद्रूपगोस्वामि कृत

अनावेद्यां पूर्व्वैरपि मुनिगणैर्भक्तिनिपुणैः,
श्रुतेर्गूढ़ां प्रेमोज्ज्वलरसफलां भक्तिलतिकाम्।
कृपालुस्तां गौड़े प्रभुरपि कृपाभिः प्रकटयन्,
शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।। इत्यादि।

(४४) अतएव श्रीमहाप्रभोः शक्तिरूपैः श्रीरूपगोस्वामिचरणैः श्रीमद्उज्ज्वलनीलमणि–श्रीविदग्धमाधव–दानकेलिकौमुद्यादि–ग्रन्थानां समर्थारति–विलासरूपाणां सूत्ररूपे श्रीस्मरण–मङ्गले प्रतिज्ञातम्–'श्रीराधा–प्राणबन्धोः' इति। एवं लघुभागवतामृते (१।७१७)–

'प्रपञ्चगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा मता' इति।

(लघुभागवतामृत १।७३०)–

अथ प्रकटतां लब्धे ब्रजेन्द्रविहिते महे।
तत्र प्रकटयत्येव लीला बाल्यादिकाः क्रमात्।
करोति याः प्रकाशेषु कोटिशोऽप्रकटेष्वपि।।

एवं स्तवमाला–स्तवावली–गणोद्देशदीपिकादिषु प्रकटाप्रकटे वर्त्तमानाः परकीया लीलाः प्रार्थनीया वर्त्तन्ते। एवं श्रीमहाप्रभुपार्षदवर्गैः कृतेषु संस्कृत–प्राकृतमय–ग्रन्थनिचयेषु

श्रीमद्उज्ज्वलनीलमणि आदि ग्रन्थ में लिखवाया है। प्राकट्य के मुख्य प्रयोजन की हानि होने पर श्रीमन्महाप्रभुजी का प्राकट्य भी निष्प्रयोजन होगा, अतएव श्रीमन्महाप्रभुजी का आस्वादन तथा परम विज्ञजन सेव्य ही हैं, श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी ने स्तवावली के श्रीचैतन्याष्टक में लिखा है–पूर्व–पूर्व भक्ति निपुण मुनिगण जिस भक्ति को नहीं जानते थे, जो उज्ज्वल प्रेमरस फलयुक्त भक्तिलतिका श्रुति में गूढ़रूप में है, कृपालु प्रभु ने निज कृपा से गौड़देश में अवत्तीर्ण होकर उसको प्रकट किया है, वह शचीनन्दन प्रभु क्या पुनर्वार मेरे नयन समक्ष में उपस्थित होंगे।

(४४) अतएव श्रीमन्महाप्रभुजी के शक्तिस्वरूप श्रीरूप–गोस्वामिचरण ने उज्ज्वलनीलमणि, विदग्धमाधव, दानकेलिकौमुदी प्रभृति ग्रन्थों में समर्थारति की वर्णना की है एवं उसके सूत्र के

बहुविधानि प्रमाणानि वर्त्तन्ते। तत्र श्रीमहाप्रभु–परमगुरु–श्रीमाधवेन्द्रपुरीगोस्वामिपादैः श्रीश्रीभगवत् प्राप्तिकाले प्रार्थितम्–

अयि दीनदयार्द्रनाथ हे, मथुरानाथ कदावलोक्यसे।
हृदयं त्वदवलोक–कातरं, दयित भ्राम्यति किं करोम्यहम्।

इत्यादि; तत्तु पार्षदाः श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रकटाप्रकटे सभासु स्वयमास्वादितवन्तस्तेषां शिष्य–प्रशिष्यादयस्तद्ग्रन्थद्वारेणेदानीमप्यास्वादयन्ति, (भा० १०।९०।४८)–'जयति जननिवासः' इत्यादि–वर्त्तमानप्रयोगैर्लीलामात्रस्य नित्यत्वात्। तत्र प्रमाणानि यथा–श्रीरामानन्दरायगोस्वामिपादानां जगन्नाथवल्लभाख्यं नाटकम्; श्रीस्वरूपगोस्वामिपादानां करचा; श्रीगदाधरपण्डित–गोस्वामिपादानां प्रेमामृत – स्तोत्रादि; श्रीनरहरिठक्कुरपादानां

वर्णन श्रीस्मरणमंगल में किया है, श्रीराधा प्राणबन्धु की प्रेम सेवा साध्या है एवं लघुभागवतामृत (३।७१७) में उक्त है–प्रपंचगोचर होने से ही वह लीला प्रकट कही जाती है। (लघुभागवतामृत १।७३०) में उक्त है–ब्रजराज की प्रीति से श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट होने पर बाल्यादि लीला का प्रकाश क्रमशः होता है, जो भी लीला प्रकट प्रकाश में करते हैं, वही सभी लीलायें अप्रकट प्रकाश में भी करते हैं। इस प्रकार स्तवमाला, स्तवावली, गणोद्देशदीपिका प्रभृति ग्रन्थ में प्रकट–अप्रकट में वर्त्तमान परकीया लीला की ही प्रार्थना है। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुजी के पार्षदगण द्वारा रचित संस्कृत प्राकृतमय ग्रन्थ नियम में बहुविध प्रमाण समूह है। श्रीमन्महाप्रभुजी के परमगुरु श्रीमाधवेन्द्रपुरीगोस्वामिपाद ने श्रीभगवत्–प्राप्तिकाल में प्रार्थना की है–हे दीनदयार्द्रनाथ !, हे मथुरानाथ ! कब दर्शन दोगे, हृदय तुम्हारे अवलोकन के लिए कातर है। हे प्रिय ! मैं क्या करूँ। इत्यादि। पार्षदगण श्रीकृष्णचैतन्यदेव के प्रकट–अप्रकट में सभा मध्ये परकीया भाव का आस्वादन किया है, शिष्य–प्रशिष्य के द्वारा तथा ग्रन्थ रचना के द्वारा भी उसका आस्वादन कराया है, (भा० १०।९०।४१) 'जयति जननिवासः' यहाँ पर वर्त्तमान प्रयोग से लीलामात्र का ही नित्यत्व सूचित हुआ है। प्रमाण

श्रीकृष्णभजनामृतादि; श्रीवासुदेवघोषपादानां – पदावल्यादि; श्रीराघवपण्डितगोस्वामिपादानां – श्रीभक्तिरत्नप्रकाशादि; श्रीविष्णुपुरीगोस्वामिपादानां – भक्तिरत्नावल्यादि; श्रीसार्व्वभौमभट्टाचार्य्यपादानां–श्रीमन्महाप्रभोःशतनामस्तोत्रादि; श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीपादानां – श्रीवृन्दावनशतकादि; श्रीसनातनगोस्वामिपादानां – श्रीवैष्णवतोषण्यादि; श्रीरूपगोस्वामिपादानां – श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, श्रीउज्ज्वलनीलमणिः, – श्रीविदग्धमाधवादि; श्रीगोपालभट्टगोस्वामिपादानां – श्रीभागवतसन्दर्भ, श्रीकृष्णकर्णामृतटीकादि; श्रीरघुनाथभट्टगोस्वामिपादानां– तत्शिष्यद्वारेण श्रीभागवतादिभक्तिशास्त्रपठनपाठनादिकम्; श्रीरघुनाथदासगोस्वामिपादानां – मुक्ताचरितस्तवमालादि; श्रीकर्णपूरगोस्वामिपादानां – श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः

समूह – श्रीरामानन्दरायगोस्वामिकृत जगन्नाथवल्लभनाटक, श्रीस्वरूपगोस्वामिपाद की करचा। श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामिपाद कृत प्रेमामृतस्तोत्रादि। श्रीनरहरि ठक्कुरकृत श्रीकृष्णभजनामृतादि। श्रीवासुदेवघोषपाद की पदावली प्रभृति। श्रीराघवपण्डितकृत भक्तिरत्नप्रकाशादि, श्रीविष्णुपुरीगोस्वामिपादकृत भक्तिरत्नावली प्रभृति। श्रीवासुदेव सार्वभौमभट्टाचार्यपादकृत श्रीमन्महाप्रभुजी के शतनामस्तोत्रादि। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपादकृत श्रीवृन्दावन-शतकादि, श्रीसनातनगोस्वामिपादकृत श्रीवैष्णवतोषणी प्रभृति। श्रीरूपगोस्वामिपादकृत श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, श्रीउज्ज्वल-नीलमणि, श्रीविदग्धमाधवादि। श्रीगोपालभट्टगोस्वामिपादकृत भागवतसन्दर्भ, श्रीकृष्णकर्णामृत टीकादि। श्रीरघुनाथभट्ट गोस्वामिपादकृत एवं उनके शिष्यकृत श्रीभागवतादि भक्तिशास्त्र पठन-पाठनादि। श्रीरघुनाथदासगोस्वामिपादकृत मुक्ताचरित, स्तवमालादि, श्रीकर्णपूरगोस्वामिपादकृत श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः, श्रीकृष्णाह्निककौमुदी, श्रीगौरगणोद्देशदीपिका, श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटकादि । श्रीभागवताचार्यपादकृत श्रीकृष्णप्रेमतरंगिनी,

श्रीकृष्णाह्निककौमुदी–श्रीगौरगणोद्देश–श्रीचैतन्यचन्द्रोदयनाटकादि; श्रीभागवताचार्य्यपादानां – श्रीकृष्णप्रेमतरङ्गिनी; तत्र मदनन्ताचार्य्यपाद–श्रीनयनानन्दपादादीनां पदावल्यादि।

एवं च श्रीमहाप्रभोस्ताम्बुलचर्वित – जन्म–श्रीनित्यानन्दप्रभु–सेवक–श्रीनारायणीपुत्र–श्रीवृन्दावनठक्कुर–वर्णित–श्रीचैतन्यभागवतादि; तत्तु श्रीनित्यानन्दप्रभुणा साक्षात् प्रेरणया लिखितं भवति; तथाहि (श्रीचैतन्यचरितामृते आदि० ८वाँ परिच्छेद)–

'चैतन्यलीलार व्यास वृन्दावनदास' इत्यादि।

(४५) एवं श्रीमहाप्रभोर्म्मतविरोधिनः श्रीमदच्युतानन्दादि विना श्रीमदद्वैतप्रभुपुत्राः श्रीमदद्वैताचार्य्यपादैस्त्यक्ताः; तत्तु श्रीचैतन्यचरितामृतादौ प्रसिद्धम्। एवमुपमहत्सु–श्रीलोचनदासठक्कुरकृत–श्रीचैतन्यमङ्गल–दुर्लभसारादि; श्रीकृष्णदासकविराज महानुभावकृत श्रीगोविन्दलीलामृत–श्रीचैतन्यचरितामृत–श्रीकृष्णकर्णामृतटीकादि; श्रीनिवासाचार्यकृत

श्रीमदनन्ताचार्यपादकृत, श्रीनयनानन्दपादकृत पदावली प्रभृति एवं श्रीमन्महाप्रभुजी के चर्वित ताम्बूल से जन्म तथा श्रीनित्यानन्दप्रभु के सेवक श्रीनारायण के सुपुत्र श्रीवृन्दावन ठक्कुर प्रणीत श्रीचैतन्यभागवतादि उन्होंने श्रीनित्यानन्दप्रभु की साक्षात् प्रेरणा से उस ग्रन्थ को लिखा है, श्रीचैतन्यचरितामृत में उक्त है, श्रीचैतन्यलीला का व्यास श्रीवृन्दावनदास है।

(४५) श्रीअद्वैतप्रभु के सुपुत्र अच्युतानन्दादिको छोड़कर श्रीअद्वैतप्रभु के अन्य पुत्रगण–श्रीमन्महाप्रभुजी के मत के विरोधी थे। इसलिए श्रीअद्वैतप्रभु ने अपने उन पुत्रों का त्याग किया था, श्रीचैतन्यचरितामृत में प्रसिद्ध लेख है। इस प्रकार उपमहत्‌गण के मध्य में श्रीलोचनदासठक्कुरकृत श्रीचैतन्यमंगल, दुर्लभसारादि, श्रीकृष्णदास कविराज महानुभावकृत–श्रीगोविन्दलीलामृत, श्रीकृष्णकर्णामृत, श्रीचैतन्यचरितामृतादि। उनके शिष्य–श्रीमुकुन्ददासकृत–श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु की टीकादि।

चतु:श्लोकी–टीकादि; श्रीनरोत्तमठक्कुर–श्रीगोविन्द–कविराजकृत–पदावल्यादय: सर्वत्र प्रसिद्धा:। एवमुत्कलनिवासि श्रीश्यामानन्दादीनां पदावली प्रसिद्धा। किञ्च, श्रीमन्महाप्रभोर्म्मन्त्रसेवक: (साक्षात्) कोऽपि नास्ति; किन्तु ये तन्मतानुसारिणस्ते तस्य सेवका:; एवं श्रीरूपसनातनादीनाञ्च। तत्र शक्तिसञ्चारकृतसेवकत्वे प्रमाणं 'मन:शिक्षा' याम् (७।१२)– 'यदीच्छेरा वासं व्रजभुवि सरागं प्रतिजनु:' इत्यत्रैव, 'सयूथ–श्रीरूपानुग इह भवन् गोकुलवने' इत्यादि; (श्रीबृहद्भागवतामृत पूर्वखण्ड १।१।१)–'नमश्चैतन्यचन्द्राय स्वनामामृतसेविने। यद्रूपाश्रयणाद्यस्य' इत्यादि।

(४६) अथ श्रीजीवगोस्वामिपाद: श्रीमद्रूपपादस्य भ्रातुष्पुत्रस्तस्मात्तं मन्त्रसेवकं कृतवान्। तस्य तु श्रीमन्महाप्रभोर्दर्शनं नास्ति श्रीमद्रूपादीनामप्रकटे परकीयात्वं स्वकीयात्वं च मतं स्वग्रन्थे लिखितं तेन। तत्र स्वकीयात्वं श्रीमद्रघुनाथदासप्रभृतय:

श्रीनिवासाचार्यकृत–चतु:श्लोकी टीकादि, श्रीनरोत्तमठक्कुरकृत, श्रीगोविन्द कविराजकृत–पदावली प्रभृति सर्वत्र प्रसिद्ध है। इस प्रकार उत्कल निवासी श्रीश्यामानन्द प्रभृति की पदावली प्रसिद्ध है और भी श्रीमन्महाप्रभुजी के साक्षात् मन्त्रसेवक कोई भी नहीं हैं, किन्तु जो उनके मतानुसार चलते हैं, वे सभी उनके सेवक हैं, इस प्रकार श्रीरूप–सनातन प्रभृति भी हैं, उनमें शक्ति संचार कर सेवकत्व में प्रमाण मन:शिक्षा में ४,१२ है, इस व्रज वन में श्रीरूपादि हैं, श्रीबृहदभागवतामृत के पूर्वखण्ड में उक्त है–निज नामामृतसेवी श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्र को नमस्कार करता हूँ, जिनके रूप के आश्रय से वांछित फललाभ होता है।

(४६) श्रीजीवगोस्वामिपाद, श्रीमद्रूपगोस्वामिचरण के भ्रातुष्पुत्र थे, इसलिए उन्हें मन्त्रसेवक श्रीरूपगोस्वामीजी ने किया था, श्रीजीवगोस्वामीजी ने श्रीमन्महाप्रभुजी का दर्शन नहीं पाया है, श्रीमद्रूपादि के अप्रकट में उन्होंने निज ग्रन्थ में परकीयात्व स्वकीयात्व मत को लिखा है, उसमें स्वकीयात्व को

श्रीचैतन्यपार्षदाः श्रीरूपादिसङ्गिनोऽनङ्गीकृतवन्तः। श्रीजीवपादस्य तत्तु स्वेच्छालिखनं न भवति, किन्तु परेच्छालिखनम्। तत्पाण्डित्यवलात् लिखन–परिपाटीदर्शनेन पण्डितजनास्तत् स्वीकुर्व्वन्ति। ये च लब्ध–श्रीमहाप्रभुकृपा लब्ध–श्रीरूपादिकृपास्ते तु सर्वथा नाङ्गी कुर्व्वन्ति। एतन्मत–प्रवर्त्तनन्तु कालकृतमेव, 'तत्तु सर्व्वं कालकृतं मन्ये' इत्यादि, श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इत्यादि च।

(४७) अत तु केचिदेवं वदन्ति–श्रीजीवपादस्तु भ्रातुष्पुत्र एवं शिष्यश्च; तन्मतं स्वकीयात्वमेव, तस्मात् (भा० १।१।८) 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' इत्यादि–न्यायेन श्रीमद्रूपपादमतं स्वकीयात्वमेव। एवञ्चेत् श्रीमन्महाप्रभोः पार्षदेषु विरुद्धं जातम्। श्रीमन्महाप्रभुणा तु श्रीमद्रूपसनातनौ प्रति स्वकीयात्वमुपदिष्टम्, अन्येषु तु परकीयात्वमुपदिष्टमिति गुरुतरविरुद्धं स्यात्। श्रीमद्रूपगोस्वामिपादानां शक्तिसंचारोपदिष्ट–

श्रीमद्रघुनाथदासगोस्वामि प्रभृति श्रीचैतन्य पार्षदगण, जो श्रीरूपगोस्वामीजी के संगी थे, उन्होंने अस्वीकार किया। श्रीजीवगोस्वामीजी के वह लेख स्वेच्छाकृत नहीं हैं, किन्तु परेच्छाकृत है, उनके पाण्डित्य एवं लेखन परिपाटी को देखकर विज्ञजन उसे मान लेंगे, जिन्होंने श्रीमन्महाप्रभुजी की कृपा एवं श्रीरूपादि की कृपा प्राप्त की है, वे सब उस मत को नहीं मानेंगे, स्वकीया मत का प्रवर्त्तन कालकृत है, सब कुछ काल ही कराता है और मंगल में प्रचुर विघ्न भी होते हैं।

(४७) इस विषय में कुछ जन कहते हैं कि–श्रीजीवचरण, श्रीरूपगोस्वामि के भ्रातृष्पुत्र एवं शिष्य हैं। श्रीरूप का मत स्वकीया ही है, इसलिए (भा० १।१।८) में लिखा है–गूढ़ रहस्य शिष्य को कहे। इस न्याय से श्रीरूपपाद का मत स्वकीया ही है। इस प्रकार कहने से श्रीमन्महाप्रभुजी के पार्षदों में विरोध उपस्थित होगा। श्रीमन्महाप्रभुजी ने श्रीरूप–सनातन को स्वकीया उपदेश किया, अन्य समस्त को परकीया उपदेश किया, इस प्रकार गुरुतर विरोध उपस्थित होगा।। श्रीमद्रूपगोस्वामिपाद के शक्तिसंचारोपदिष्ट

श्रीमज्जीवपादादि–शिष्याणां सर्व्वेषां परकीयैव, केवलं श्रीजीवगोस्वामिपादगणमध्ये क्वचित् क्वचित् गुरुविरुद्धमाश्चर्य्यं दृश्यते। यतोऽद्यापि तेषु सन्तानेषु एवं शिष्येषु स्वस्वग्रन्थेषु प्रकटेऽप्रकटे च परकीयात्वं दृश्यते, तस्मात् श्रीमन्महाप्रभोस्तत्–पार्षदादीनाञ्च परकीयात्वमेव मतम्। श्रीमज्जीवपादेन तु यत् स्वकीयात्वं लिखितम्, तत् परेच्छयैव अतएव श्रीकृष्णसन्दर्भे स्वकीयासिद्धान्तानन्तरं तद्दोषः प्रार्थनया स्वयमेव क्षमापितः; तथाहि (तत्रैव १८१ अनुच्छेद)–

यदेतत्तु मया क्षुद्रतरेण तरलायितम्।
क्षमतां तत् क्षमाशीलः श्रीमान् गोकुलवल्लभः॥

(४८) तत्र शिष्यपरम्परा–श्रवणमाह–गोपालदासनामा कोऽपि वैश्यः श्रीजीवगोस्वामिपादानां प्रियशिष्यः। तत् प्रार्थना–परवशेन

श्रीमज्जीवपाद प्रभृति शिष्यों में सबके मत में परकीया ही है। मात्र श्रीमज्जीव गोस्वामीपाद के कुछ गणों के मध्य में किसी–किसी में गुरुद्रोह आचरण आश्चर्यरूप से प्रदर्शित होता है, कारण वर्तमान में भी उनकी परम्परा में शिष्य एवं सन्तानों में निज–निज ग्रन्थ में प्रकट एवं अप्रकट में परकीयात्व ही दृष्टिभूत होता है। अतएव श्रीमन्महाप्रभुजी एवं उनके पार्षदगणों के मत परकीया ही हैं। श्रीमज्जीव गोस्वामीपाद ने जो स्वकीयात्व लिखा है वह परेच्छा से ही है, अतएव श्रीकृष्णसन्दर्भ में स्वकीया सिद्धान्त लेखन के पश्चात् निज त्रुटि को स्वीकार कर उन्होंने स्वयं क्षमा–प्रार्थना की है। (श्रीकृष्णसन्दर्भ १८१ अनुच्छेद), अति क्षुद्र होकर जो कुछ भी मैंने रस को तरल किया है उसके लिए क्षमाशील श्रीमान् गोकुलवल्लभ मुझे क्षमा करेंगे।

(४८) श्रीजीव गोस्वामीपाद की शिष्य–परम्परा इस प्रकार है, गोपालदास नामक एक वैश्य श्रीजीव गोस्वामीचरण का प्रिय शिष्य था, उसकी प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर आपने स्वकीयात्व को लिखा है। अतएव श्रीमद्रूप–सनातनादि के ग्रन्थों में कहीं–कहीं पर कुछ–कुछ परिवर्तन भी किया है, इस प्रकार करने के पश्चात्

तेन स्वकीयात्वं सिद्धान्तितम्। अतएव श्रीमद्रूपसनातनपादादीनां ग्रन्थेषु कुत्र कुत्रापि छेदनादिकं कृतम्; कृत्वापि तत्र तत्रापि स्वदोषक्षमापणं कृतम्; यथा (श्रीकृष्णसन्दर्भे १८१ अनुच्छेद)– 'यदेतत्तु मया क्षुद्रतरेण तरलायितम्'; श्रीलघुवैष्णवतोषण्याञ्च (सर्व्वान्तिमे)–

लीलास्तवष्टिप्पनी च सेयं वैष्णवतोषणी।
या संक्षिप्ता मया क्षुद्रतरेणापि तदाज्ञया।।
अबुद्ध्या बुद्ध्या वा यदिह मयकाऽलेखि सहसा,
तथा यद्वाच्छेदि द्वयमपि सहेरन् परमपि।
अहो किंवा यद्यन्मनसि मम विस्फोरितमभु–
दमीभिस्तन्मात्रं यदि बलमलं शङ्कितकुलैः।।

हरिनामामृते तन्नाम स्पष्टमेवोट्टङ्कितम्; तद्यथा–

हरिनामामृत–संज्ञं, यदर्थमेतत् प्रकाशयामासे।
उभयत्र मम मित्रं स, भवतु गोपालदासाख्यः।।

आपने निज दोष के लिए क्षमा–प्रार्थना भी की है। (श्रीकृष्णसन्दर्भ १८१ अनुच्छेद) में, कहा है कि अति क्षुद्र होकर जो कुछ मैंने तरल किया है उसे क्षमा करें। श्रीलघुवैष्णवतोषणी के अन्तिम में लिखा है–लीलास्तव टिप्पणी एवं वैष्णवतोषणी के लेख में क्षुद्रतर होकर भी मैंने जो कुछ किया है, वह बुद्धि से हो अथवा अबुद्धि से ही हो, सहसा मैंने जो कुछ लेख निष्क्रिय किया है उसको सहन करेंगे अथवा मन में आपने प्रेरणा प्रदान कर जो कुछ भी मुझसे करवाया है, वह ही मैंने किया है।

श्रीहरिनामामृत में उनका नाम आपने स्पष्टतः ही लिखा है, श्रीहरिनामृत जिसके लिए मैंने लिखा है, वह गोपालदास उभयत्र मेरा मित्र है। श्रीगोपालचम्पूः के मंगलाचरण में लिखा है– श्रीगोपाल के गण गोपाल के प्रमोद के लिए यह श्रीगोपालचम्पूः आनन्ददायक हो, श्रीमद्उज्ज्वलनीलमणि की टीका में आपने लिखा है–कुछ तो स्वेच्छा से लिखा है और कुछ परेच्छा से, जो भी लिखा है वह परकीयावाद है, उसका सम्बन्ध परकीयावादमय

श्रीगोपालचम्पूः मंगलाचरणे च–

श्रीगोपालगणानां, गोपालानां प्रमोदाय।
भवतु समन्तादेषा, नाम्ना गोपालचम्पू र्या॥

श्रीमद्उज्ज्वलनीलमणि–टीकायाञ्च–

स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छया।
यत् पुर्वापर–सम्वन्धं तत् पूर्वमपरं परम्॥

श्रीभागवतसन्दर्भे च–

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूपसनातनौ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्त–खण्डितम्।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः॥

इत्यादिकञ्च।

श्रीकृष्णदासनामा ब्राह्मणो गौड़ीयः श्रीमज्जीवविद्याध्ययने शिष्यः न तु मन्त्रशिष्यः, तेषां शिष्याकरणात्। शिष्यकरणे प्रवृत्ति श्चेत्तर्हि श्रीनिवास–नरोत्तमादीनां शिष्यत्वं श्रीजीवेन कथमत्याजि? तस्मात् तेष्वप्रकटेषु स्वाधिकारेच्छया तन्मन्त्रशिष्यत्व–प्रकटनं कृष्ण दासेन स्वेनैव कृतम्; तेषां ग्रन्थेषु छेदनादि कुत्र कृतम्, कुत्रापि पल्लवितम्॥

लेखन के साथ होगा तथा स्वकीया का जो लेख मैंने अन्य की इच्छा के लिए लिखा है उसका सम्बन्ध स्वकीया के साथ में ही जोड़ना होगा। श्रीभागवतसन्दर्भ में आपने लिखा है– श्रीरूप–सनातन के सन्तोष के लिए दाक्षिणात्य भट्ट ने इस ग्रन्थ को लिखा था, उनका प्रथम लेख मैं पर्याय करके लिख रहा हूँ।

श्रीकृष्णदास नामक गौड़ीय ब्राह्मण, श्रीजीव गोस्वामी के विद्यार्थी थे, मित्र, शिष्य नहीं। श्रीजीवगोस्वामी ने इन्हें मन्त्र–शिष्य नहीं किया था, इनको शिष्य बनाने की रुचि होती तो श्रीनिवास नरोत्तम प्रभृति को भी शिष्य बनाते, अतएव श्रीजीव गोस्वामीजी के अप्रकटकाल में अधिकार रखने की इच्छा से स्वयं को मन्त्र–शिष्य रूप से प्रचार कर कृष्णदास ने श्रीजीव गोस्वामीजी

अतएव श्रीवैष्णवतोषण्यादिषु कुत्र कुत्रापि संशयास्पद-त्वेन न सर्व्वसन्मतम्। तस्मादेकस्याप्रामाण्येनान्यस्या-प्रामाण्यमिति न्यायात् स्वकीयात्वसिद्धान्ते सर्वेषां श्रीचैतन्यपार्षदा नामसम्मतत्वेन श्रीमत्जीवपादेन तु परापेक्षाकृतेन च परकीयात्वं सर्व्वसम्मतं मतमिति सङ्गतम्॥

इति श्रीगोविन्ददेव-सेवाधिपति श्रीहरिदासगोस्वामिचरणानुजीवि-श्रीराधाकृष्णदासोदीरिता साधनदीपिका नवमकक्षा॥

-दशमकक्षा-

(१) (श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व्व-वि० सामान्य भक्ति०)-

तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम्।
लक्षणं क्रियते भक्तेरुक्तमायाः सतां मतत्॥१॥

के ग्रन्थों में कहीं पर लेख को निरस्त किया तथा कहीं पर विस्तृत भी किया था।

अतएव वैष्णवतोषणी आदि में कहीं-कहीं पर संशयास्पद होता है, वह सर्वसम्मत नहीं है, अतएव एक के प्रमाण से दूसरे का अप्रामाण्य होता है, इससे निर्णय होता है कि स्वकीया सिद्धान्त में समस्त श्रीचैतन्य पार्षदों की असम्मति है, श्रीजीव गोस्वामीजी ने परापेक्षा से स्वकीया को लिखा है, किन्तु परकीया मत ही उनका एवं सभी परिकर के सम्मत है।

इति श्रीगोविन्ददेव सेवाधिपति श्रीहरिदासगोस्वामि चरणानुजीवि-श्रीराधाकृष्णदासलिखित साधनदीपिका की नवमकक्षा॥

-दशमकक्षा-

(१) प्रथम विभाग में भक्ति की विशेषता को दिखाने के लिए सज्जनगण सम्मत उत्तमाभक्ति का लक्षण करते हैं।

तद्यथा–

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।२।।

यथा नारदपांचरात्रे–

सर्वोपाधि–विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्म्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश – सेवनं भक्तिरुच्यते।।३।।

श्रीमद्भागवत तृतीयस्कन्धे च (३।२९।१२–१४)–

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।
सालोक्यसार्ष्टि–सारूप्य–सामीप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।४।।
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
सालोक्येत्यादिपद्यस्थ–भक्तोत्कर्ष–निरूपणम्।।
भक्तेर्विशुद्धता–व्यक्त्या लक्षणे पर्य्यवस्यति।।५।।
क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी मता।।६।।

---

(२) लक्षण इस प्रकार हैं–अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान कर्म्मादि के द्वारा अनावृत आनुकूल्य से श्रीकृष्णानुशीलन ही उत्तमाभक्ति है। (३) नारदपांचरात्र में उक्त है–सर्वोपाधि विनिर्मुक्त अर्थात् अन्याभिलाषिता शून्य–तत् परत्वेन सकलेन्द्रिय द्वारा आनुकूल्य से सेवन अनुशीलन निर्मल–ज्ञान कर्मादि से अनावृत ही उत्तमाभक्ति है। (४) (भा० ३।२९।१२–१२) अहैतुकी अव्यवहिता जो भक्ति पुरुषोत्तम के प्रति होती है, वह उत्तमाभक्ति है, इसके अधिकारी को सालोक्य समान ऐश्वर्य, समानरूप, समीप में अवस्थान, सायुज्यमुक्ति देने पर भी वे जन श्रीभगवत् सेवा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं लेते हैं। सालोक्य प्रभृति के द्वारा भक्ति का उत्कर्ष दिखाया गया है, किन्तु भक्ति लक्षणाक्रान्त भक्ति ही विशुद्ध भक्ति होती है। वह भक्तिसाधन दशा में क्लेशघ्नी शुभदा होती है, भाव अवस्था में मोक्ष लघुताकृत सुदुर्लभ प्रेमावस्था में सान्द्रानन्द विशेषात्मा एवं श्रीकृष्णाकर्षिणी

अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात्।
द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्त्तितम्॥७॥

किञ्च–

स्वल्पापि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता॥८॥

तथा च प्राचीनैरप्युक्तम्–

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥९॥

(भ०र०सि० पूर्व्व–वि० साधनभक्ति०)–

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता॥१०॥

तत्र साधनभक्तिः–

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥११॥
वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा॥

होती है। साधनभक्ति का माहात्म्य क्लेशघ्नी शुभदा पद से भावभक्ति का वैशिष्ट्य मोक्ष लघुताकृत सुदुर्लभा के द्वारा सान्द्रानन्द विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी के द्वारा प्रेमभक्ति का वैशिष्ट्य कहा गया है। साधनभक्ति के दो गुण तथा भावभक्ति के चार गुण एवं प्रेमभक्ति में छः गुण विद्यमान हैं। (५) प्राचीन संस्कार के द्वारा यदि श्रीमद्भागवत प्रभृति भक्तितत्त्व प्रतिपादक शास्त्र में उत्तमबुद्धि होती है, वह ही भक्ति का बोध कर सकती है, मात्र शुष्क तर्कयुक्ति के द्वारा भक्ति का बोध नहीं होता है, युक्तितर्क अस्थिर पदार्थ होते हैं। (६) प्राचीनजनों ने कहा है कि यत्न से भी प्रतिपादित वस्तु को प्रतिभाशील व्यक्ति खण्डन कर देते हैं। (७) भ०र०सि० पूर्व वि० साधनभक्ति–उक्त लक्षणाक्रान्त उत्तमाभक्ति, साधन, भाव, प्रेम भेद से तीन प्रकार से होती है। (८) साधनभक्ति–प्रयत्न द्वारा साध्य भावोत्पन्नकारिणी भक्ति को साधनभक्ति कहते हैं, श्रीगुरुदेव पर्यन्त से लेकर नित्य सिद्ध परिकरों में वर्तमान भावभक्ति के साधक हृदय में प्रेरणारूप में

तत्र वैधी–

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥१२॥

यथा द्वितीये (भा० २।१५)–

तस्माद्भारत सर्व्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥१३॥

तत्राधिकारी–

यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने।
नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्य्यसौ॥१४॥

यथैकादशे (भा० ११।२०।८)–

यदृच्छया मत् कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्व्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥१५॥

अथ रागानुगा–

विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥१६॥

प्राकट्य का नाम ही भाव साध्य है। यह वैधी रागानुगा भेद से दो प्रकार साधनभक्ति होती है। (९) वैधीभक्ति–जहाँ पर साधक की प्रवृत्ति शास्त्र के अनुशासन से होती है, भक्ति विषयिणी तृष्णा से नहीं, उसे वैधीभक्ति कहते हैं। (१०) यथा, द्वितीय में (भा० २।१।५) इसलिए (११) हे भारत ! सर्वात्मा भगवान् श्रीहरिः ईश्वर ही नित्य श्रवणीय, कीर्त्तनीय, ध्येय एवं पूज्यनीय होते हैं। (१२) इसके अधिकारी जो व्यक्ति महत् संसर्ग से सौभाग्य (१३–१४) प्राप्त कर श्रीहरिः की सेवा में श्रद्धालु हुए हैं, जागतिक विषयों में अतिशय आसक्ति एवं वैराग्य भी नहीं, वह व्यक्ति इस भक्ति का अधिकारी है। (१५) (भा० ११।२०।८) में उक्त है–महत् एवं ईश्वर की असीम अनुकम्पा से श्रीहरिःकथा सेवनादि में यदि प्रवृत्ति होती है, विषय में निर्विण्ण एवं अति आसक्ति भी नहीं है, यह वैधीभक्तियोग उसके लिए सुगम होता है। (१६) रागानुगा–

टीका–अभिव्यक्तं सुव्यक्तं यथा स्यात्तथा ब्रजवासिजनादिषु विराजन्तीं रागात्मिकां भक्तिमनुसृता या भक्तिः, सा रागानुगा उच्यते इति योजना। ब्रजवासिजनादिष्वित्यत्र जनपदेन मनुष्यमात्रं बोधितम्; आदि पदेन पशुपक्ष्यादयो गृह्यन्ते। अतएवोक्तम् (भा० १०।२९।४०)–

'त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं,
यत् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यविभ्रन्' इति।

विराजन्तीमिति विशेषेण राजमानाम्, न तु धामान्तर–परिवारभक्तिवदैश्वर्य्यज्ञानादिनाभिभूताम्; अनुसृतेत्यत्रानुसरणं नित्य सिद्धब्रजवासिजन–भावचेष्टानुगमनात्मकानुकरणम्; तच्च श्रीकृष्ण प्रेष्ठानुगतनिष्ठं तदेवानुगत्यमिति फलितार्थः, तच्च तदनुगतत्वे सति तादृशकायवाङ्मानसीयसेवाकर्त्तृत्वञ्चेति।
(१४) श्रीकृष्णप्रेष्ठाधीनत्वं यथैकादशे (भा० ११।३।२१)–

सुव्यक्त रूप से ब्रजवासिजनादि में जो भक्ति विराजित है, उस रागात्मिका के अनुसरण से जिससे भक्ति होती है, उसको रागानुगा कहते हैं। ब्रजवासिजनादि यहाँ पर जनपद से मनुष्य मात्र को जानना होगा, आदि पद से पशु–पक्षी प्रभृति को जानना होगा, ब्रज के स्थावर, जंगम समस्त पदार्थ की ही प्रेममयी तृष्णा श्रीकृष्ण के प्रति है। (भा० १०।२९।४०) में उक्त है–तीनों लोकों के सौभाग्य पूर्णरूप श्रीकृष्ण के रूप को देखकर ब्रज के गो, पक्षी, वृक्षलता, मृग प्रभृति के शरीर में पुलक व्याप्त हो जाता है। विराजन्ती शब्द से विशेष रूप से शोभित भक्ति को ही जानना होगा, किन्तु धामान्तर परिवार की भक्ति की भाँति ऐश्वर्यादि ज्ञान से अभिभूत नहीं है, अनुसृत्य शब्द का अर्थ अनुसरण है, नित्यसिद्ध ब्रजवासीजन की भाव चेष्टा प्रभृति के अनुसरणात्मक अनुकरण है, श्रीकृष्ण प्रेष्ठ श्रीगुरुदेव के आनुगत्य से ही भजन करना होगा, उसको आनुगत्य शब्द से कहा गया है, सारार्थ यह हुआ कि श्रीगुरुदेव के अनुगत होकर कायिक, वाचिक, मानसिक सेवा करना ही रागानुगा भक्ति है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥१७॥

टीका च 'उत्तमं श्रेयो जिज्ञासुः, शाब्दे ब्रह्मणि वेदाख्ये निष्णातम्, अन्यथा संशयनिरासकत्वायोग्यत्वाद्धेतोः; परे ब्रह्मणि अपरोक्षानुभवे च निष्णातम्, अन्यथा यतो बोधसञ्चाराभावात्; परे ब्रह्मणि निष्णातत्वे द्योतकमाह–उपशमाश्रयमिति।'
तत्रैव श्रीमद्उद्धवं प्रति श्रीभगवान् (भा० ११।१०।१२)–

आचार्य्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्या सन्धिः सुखावहा॥

टीका–आद्योऽधरः, तत्सन्धानञ्च तयोर्मध्यमं मन्थनकाष्ठम् प्रवचनमुपदेशः, विद्या शास्त्रोत्थं ज्ञानम्, तत्र सन्धौ भवोऽग्निरिव। तथा च श्रुतिः–'आचार्य्यं पूर्वरूपः अन्तेवास्युत्तररूपः' इत्यादि। अतएव 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इति, आचार्य्यवान् पुरुषो वेद' इति, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादि च।

---

(१७) श्रीकृष्ण प्रेष्ठाधीन होने के विषय में (भा० ११।३।२१) में उक्त है–उसमें श्रेय जिज्ञासु व्यक्ति श्रीगुरुचरण में प्रपन्न हो जाय। गुरु कैसा होना चाहिए–शब्द ब्रह्म परंब्रह्म में निष्णात एवं ब्रह्म उपशमाश्रय सम्पन्न ही गुरु होगा। टीका–उत्तम श्रेय, ब्रज, रागानुगीय ब्रजभक्ति जिज्ञासु व्यक्ति, गुरुकरण करे, गुरु कैसा होगा, शब्द ब्रह्म वेदादि शास्त्र में निष्णात, गुरु–परम्परा से शास्त्राध्ययन एवं परिपूर्ण ज्ञानवान् होना आवश्यक है अन्यथा संशय निरसन करने में गुरु असमर्थ होगा, 'परे ब्रह्मणि निष्णात'– शब्द का अर्थ अपरोक्षानुभव में भी निष्णात होना आवश्यक होगा अन्यथा बोध संचार करने में गुरु असमर्थ होगा, 'परे ब्रह्मणि निष्णात' के अर्थ को विशेष रूप से कहते हैं, उपशमाश्रय उपासनारत होना भी आवश्यक होगा, श्रीमद्उद्धव के प्रति भगवान् ने कहा है,

(१५) तथा श्रीकृष्णप्रेष्ठ–गुरुसंसर्गेणैव तद्भावोत्पत्तिः स्यात् नान्यथेति भावः।
अतएव श्रीभागवते (११।१७।२१)–

आचार्य्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्व्वदेवमयो गुरुः।। इति विचार्य्यत

(भ०र०सि० पूर्व्व–वि० साधनभक्ति०) 'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता' इति नित्यसिद्धस्य भावस्य साधकभक्तानां हृदि स्वयं प्रकटनं साध्यता; (भ०र०सि० १।२।२९२)– 'तद्भद्भावादिमाधुर्य्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते' इत्याश्रयिष्यमाणे गुरौ तद्भावमाधुर्य्यं सुतरां दृश्यते। एतादृशे श्रीकृष्णरूपगुरौ दृष्टे सति लोभः स्वतः एव उत्पद्यते; यथा (तत्रैव १।२।२४१)–

दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटली–मण्डिततनुः,
स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदतिपृथुं वेपथुमपि।
दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ,
न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते।।

(भा० १।१०।१२) प्रथम काष्ठ आचार्य हैं, द्वितीय शिष्य, उनका प्रवचन ही मन्थन काष्ठ है, विद्या शास्त्रोक्त ज्ञान, काष्ठ द्वय की सन्धि में जिस प्रकार अग्नि रहती है, उस प्रकार जानना होगा, श्रुति आचार्य्य पूर्वरूप हैं, शिष्य उत्तर रूप है, इत्यादि उत्तमा वस्तु भक्ति है, उसको जानने के लिए आचरणशील शिक्षित अभिज्ञ गुरु वरण करे, जिन्होंने आचार्य्य वरण किया है, वह ही तत्त्व को जान पायेगा। व्यर्थ तर्क से मति को नष्ट न करो।।१५।। उस प्रकार श्रीकृष्ण प्रेष्ठ गुरु के संसर्ग से ही रागानुगीय ब्रजभक्ति की उत्पत्ति होगी अन्यथा नहीं अतएव (भा० ११।१७।२७) में कहा है, मुझको ही आचार्य जानना, कभी भी अवमानना न करे, मरणधर्म को प्रतीत कर उनक प्रति असूया दोषारोपण न करे, गुरु सर्वमय होते हैं। इसका विचार करते हैं– (भ०र०सि० पूर्व्व–वि०

(१६) अथ श्रवणगुरु–भजनशिक्षागुर्वोः प्रायिकमेकत्वमिति; यथा तथैवाह (श्रीभक्तिसन्दर्भे २०६ अनु०); (भा० ११।३।२१)–

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः।। इति।

तत्रैव भगवान् देवः।।

(१७) शिक्षागुरोरप्यावश्यकत्वमाह–श्रीदशमे (१०।८७।३३)–

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं,
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ।।

साधनभक्ति०) 'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता' नित्य सिद्ध परिकरों का जो भाव, उसका साधक भक्तों के हृदय में स्वयं प्रकट होना ही साध्यता है। अतएव जिन्हें गुरु वरण करना है, उनमें यह अवश्य देखें कि शुद्ध ब्रज–भक्तिभाव माधुर्य है या नहीं, गुरु में रागानुगीय भक्ति होना परमावश्यक है, गुरु यदि योगी होता है, अश्रु कम्पादि का अभिनय करता है, धर्म का व्यापार करता है एवं चरित्रहीन है, तो उसे गुरु कभी भी नहीं करना चाहिए, उससे श्रीकृष्ण भक्ति प्राप्त नहीं होगी तथा उसके द्वारा सांसारिक तुच्छ वस्तुयें ही प्राप्त होंगी। इस प्रकार श्रीकृष्णरूप श्रीगुरु के आनुगत्य से स्वतः ही ब्रजभक्ति के प्रति स्पृहा उत्पन्न होती है। (भक्तिरसामृतसिन्धु १।२।२३१) में उक्त है–नयन जल से धौत पुलक समूह से कण्टकित देह, प्रतिपद में स्खलित वाक्य एवं चरण, अन्तर में आनन्दातिशय युक्त, देह में विपरीत कम्पान्वित किसी एक व्यक्ति को जब से मैंने देखा है, मैं नहीं जानता, तब से मेरा मन गृह में नहीं लगता है। यहाँ पर जब देखा इससे स्वल्प सम्बन्ध होता है, मन क्यों नहीं लगता है, इससे गृह के प्रति महत्त्वहीनता; एवं गृह में अनासक्ति पद से भावोत्पत्ति सूचित हुई है।

टीका–'ये गुरोश्चरणं समवहायानाश्रित्यातिलोलमदान्त-मदमितं मन एव तुरगं दुर्गमसाम्याद् विजितैरिन्द्रियै प्राणैश्च यन्तुं भगवदन्तर्मुखीकर्त्तुं प्रयतन्ते, ते उपायखिदस्तेषु तेषूपायेषु खिद्यन्ते; अतो व्यसनशतान्विता भवन्ति। अतएव इह संसारसमुद्रे सन्ति तिष्ठन्ति दुःखमेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः; जलधौ अकृतकर्णधरा अस्वीकृतनाविका वणिजो यथा तद्वत्।'

(१८) श्रीगुरुप्रदर्शित–भगवद्भक्तिभजन–प्रकारेण भगवद्धर्म्म-ज्ञाने सति तत्कृपया व्यसनानभिभूतौ च सत्यां शीघ्रमेव मनो निश्चलं भवतीति भावः।

अतो ब्रह्मवैवर्त्ते–

गुरुभक्त्या स मिलति स्मरणात् सेव्यते बुधैः।
मिलितोऽपि न लभ्येत जीवैरहमिका–परैः॥

---

(१६) श्रवण गुरु एवं भजन शिक्षा गुरु प्रायःकर एक ही हैं, गुरु का कार्य ही शिक्षा देना है। अशिक्षित गुरु नहीं होता है। (श्रीभक्तिसन्दर्भ २०६ अनु०) में उक्त (भा० ११।३।२२) इस प्रकार है, उक्त श्रीगुरुदेव निज हितकारी परम बान्धव परमाराध्य, श्रीहरिः के स्वरूप हैं, निरन्तर निष्कपट से उनके आनुगत्य करके भागवतधर्म की शिक्षा करे, जिसके अनुष्ठान से आत्मप्रद श्रीहरिः सन्तुष्ट होते हैं, वह ही भागवतधर्म है, श्रीगुरु में ही भगवान् देवरूप में नित्य विराजित होते हैं।

(१७) शिक्षा गुरु की भी आवश्यकता है अर्थात् शिक्षा ग्रहण आवश्यक है। (भा० १०।८७।७७) इन्द्रिय एवं प्राणवायु को संयमित करके भी जो जन श्रीगुरुचरणों को त्याग आत्मतत्त्व प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं वह नाविक विहीन समुद्र की नाव में चढ़ने की अवस्था की प्राप्ति करते हैं, जो जन श्रीगुरु चरणाश्रय न करके अति चंचल मन को प्राणवायु, इन्द्रिय संयम के द्वारा भगवद् अन्तर्मुखी मन को करने का प्रयत्न करते हैं, वह उपायहीन हो जाते हैं और अनन्त विपत्ति में पड़ जाते हैं, अतएव संसार

अतएव नारदपांचरात्रे–
तत् पूजनस्यावश्यकत्वमुक्तम्; यथा–

> **वैष्णवज्ञानवक्तारं यो विद्याद्विष्णुवद्गुरुम्।**
> **पूजयेद्वाङ्मनःकायैः स शास्त्रज्ञः स वैष्णवः।।**
> **श्लोकपादस्य वक्तापिः यः पूज्यः स सदैव हि।**
> **किं पुनर्भगवद्विष्णोः स्वरूपं वितनोति यः।। इत्यादि।**

(१९) तस्मात् श्रीगुरोरावश्यकत्वम्, तच्चरणावलम्बनं विना प्रेमोत्पत्तिर्न भवतीति निष्कर्षार्थः।
श्रीरघुनाथदासगोस्वामिपादेनोक्त–'मनःशिक्षायां' (२) यथा–

> **शचीसूनं नन्दीश्वरपति–सुतत्वे गुरुवरं,**
> **मुकुन्दप्रेष्ठत्वे स्मर' इत्यादि।**

कालिकापुराणे श्यामारहस्ये–

समुद्र में दुःख ही प्राप्त करते हैं, वणिक् जिस प्रकार समुद्र की नाव में नाविक के बिना यात्रा करने पर विघ्न में पड़ जाता है, इसी प्रकार से जानना होगा। (१८) श्रीगुरु प्रदर्शित भगवद् भक्ति भजन विधि से भगवद् धर्मज्ञान होने पर उनकी कृपा से विपत्ति से वह अभिभूत नहीं होता है और उसका मन अति सत्त्वर निश्चल होता है। ब्रह्मवैवर्त्ते में लिखा है, श्रीगुरु भक्ति से ही तत्त्व बोध होता है, अतः बुधगण वैसा ही कहते हैं। जिसकी अहमिका है, वह जीव तत्त्ववस्तु को प्राप्त करके प्रसन्नचित्त नहीं होता है। नारदपांचरात्र में कहा है कि श्रीगुरु का पूजन करना परमावश्यक है, जो जन वैष्णवधर्म उपदेष्टा श्रीगुरु को श्रीविष्णु के तुल्य देखते हैं तथा काय, वाक्य, मन के द्वारा पूजा भी करते हैं, वे शास्त्रज्ञ वैष्णव होते हैं। श्लोक, पद के वक्ता की भी सदा ही पूजा करें और जो जन भगवद् विष्णु का स्वरूप प्रदान करते हैं उनका पूजन तो सवर्था परमावश्यक है।

(१९) अतएव श्रीगुरुदेव की आवश्यकता है, उनके चरणावलम्बन के बिना प्रेमोत्पत्ति नहीं होगी, यह ही सारार्थ है,

मधुलोभाद्यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं ब्रजेत्।
ज्ञानलोभात्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्व्वन्तरं ब्रजेत्।।

स्तवावल्याञ्च (मनःशिक्षा ३।१२)–

यदीच्छेरावासं ब्रजभुवि सरागं प्रतिजनु–
र्युवद्वन्द्वं तच्चेत् परिचरितुमारादभिलषेः।
स्वरूपं श्रीरूपं सगणमिह तस्याग्रजमपि,
स्फुटं प्रेम्णा नित्यं स्मर नम तदा त्वं शृणु मनः।।
स्वयूथ – श्रीरूपानुग इह भवन् गोकुलवने,
जनो राधाकृष्णातुलभजनरत्नं स लभते।।

(विलापकुसुमाञ्जलि १४)–

यदवधि मम काचिन्मञ्जरी रूपपूर्व्वा,
ब्रजभुवि वत नेत्रद्वन्द्वदीप्तिः चकार।
तदवधि व वृन्दारण्यराज्ञि प्रकामं,
चरणकमललाक्षा – संदिदृक्षा ममाभूत्।।इति।

श्रीरघुनाथदासगोस्वामिकृत–'मनःशिक्षा' में उक्त है–श्रीमन्महाप्रभु को श्रीनन्दनन्दन रूप में एवं श्रीगुरुदेव को श्रीमुकुन्द प्रेष्ठरूप में स्मरण करे।

कालिकापुराण के श्यामारहस्य में उक्त है–मधु के लोभ से भृंग जिस प्रकार एक पुष्प से पुष्पान्तर को जाता है, उसी प्रकार ही ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिष्य भी एक गुरु से दूसरे गुरु के निकट गमन करे, स्तवावली में उक्त है (मनःशिक्षा ३।१२) ब्रज में अनुराग के साथ यदि प्रति जन्म वास करने की कामना हो और श्रीराधाकृष्ण की परिचर्या करने की यदि अभिलाषा हो, तब स्वरूप श्रीरूप–सनातन प्रभृति परिकरों के साथ प्रीति से नित्य स्मरण करो एवं नमस्कार करो। निज यूथ के साथ श्रीरूप के आनुगत्य से गोकुल वन में निवास करने से उसको श्रीराधाकृष्ण के भजनरत्न की प्राप्ति होगी। विलापकुसुमांजलि में उक्त है, जब से मैंने ब्रजभूमि में श्रीरूपमंजरी को नेत्रों से देखा है, तब से ही श्रीवृन्दावनाधिराज्ञी श्रीराधा के चरणकमल के लाक्षा दर्शन की मेरी अभिलाषा हुई।

(२०) अत एतादृशानुगत्यं विना श्रीनन्दनन्दनस्य तथाविधस्वरूप–प्राप्तिर्न भवति; तत्रापि श्रीरूपानुगत्यं विना श्रीराधाकृष्णातुल भजनरत्नं न लभत इति निष्कर्षार्थः।

प्रसङ्गात् आचार्य्यलक्षणं यथा (वायुपुराणे)–

आचिनोति हि शास्त्रार्थान् स्वाचारैः स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मात्तस्मादाचार्य्य उच्यते।।

यथा विष्णुस्मृतौ–

परिचर्य्या–यशोलाभलिप्सुः शिष्याद्गुरु र्नहि।
कृपासिन्धुः सुसंपूर्णः सर्व्वसत्त्वोपकारकः।।
निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः।
सर्वसंशय – संछेत्ताऽलालसो गुरुरादृतः।।

(गौतमीये)–

न जपो नार्चनं नैव ध्यानं नापि विधिक्रमः।
केवलं सततं कृष्णचरणाम्भोजभाविनाम्।।इति।

---

(२०) अतएव इस प्रकार आनुगत्य के बिना श्रीनन्दनन्दन के उस स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी। प्रसंग से आचार्य लक्षण को कहते हैं–वायुपुराण में उक्त है–शास्त्र समूह के यथावत् अध्ययन एवं तदनुरूप आचरण के द्वारा धर्म स्थापनकारी को आचार्य कहते हैं। श्रीविष्णुस्मृति में उक्त है–शिष्य से परिचर्या एवं यशोलाभ की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता है, जो जन कृपासिन्धु सुसम्पूर्ण, सर्वप्राणी हितकारी, सब प्रकार से निःस्पृह सिद्धः, सर्वविद्या विशारद, सर्वसंशय निरासकारी, अलोभी गुरु को आदर प्रदान करे, गौतमीय में उक्त है– जप, अर्च्चन, ध्यान, विधिक्रम की आवश्यकता उनको नहीं है, जो निरन्तर श्रीकृष्ण के चरण की चिन्ता में स्वयं को लीन कर देते हैं और भी सब नायिकाओं में मध्यानायिका श्रेष्ठतमा है। प्रायःकर सकल रसोत्कर्ष मध्या में ही है। इस प्रकार मध्य, कैशोर ही श्रेष्ठतम हैं, यह तो तृतीय कक्षा में लिखा ही है और त्वदीयता–मदीयतामय के मध्य

किञ्च—

नायिकानाञ्च सर्व्वासां मध्या श्रेष्ठतमा मता।

प्रायः—सर्व्वरसोत्कर्षो मध्यायामेव युज्यते।।इत्यादि।

एवं मध्यकैशोरः श्रेष्ठतमः एतत्तु पूर्व्वं (तृतीयकक्षायां) दर्शितमेव। किञ्च, त्वदीयता—मदीयतामध्ययोर्मध्ये मदीयता श्रेष्ठा।

इयं श्रीगौरगोविन्द—लीला—दशमकक्षिका,
सर्व्वश्रेष्ठतमा ज्ञेया गोप्या त्वनधिकारिणि।।

तथाहि—

सेयं श्रीकृष्णलीला च श्रेष्ठा सर्व्वप्रदायिका।
न दातव्या न प्रकाश्या जने त्वनधिकारिणि।।

तथाहि (पाद्मे)—

'माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' इति।

श्रीभागवते प्रथमस्कन्धे (१।१।८)—'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' इति; बृहद्गौतमीयतन्त्रे च।।

में मदीयता ही श्रेष्ठा है, यह श्रीगौरगोविन्द लीला दशमकक्षा सर्वश्रेष्ठतमा है, अनधिकारी को प्रदान न करे तथा प्रकाश भी न करे। पद्मपुराण में कथित है—मुझको गोपनीय रखो, जिससे यह सृष्टि उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहे। (भा० प्रथम स्कन्ध १।१।८) में उक्त है—श्रीगुरु के प्रति स्पृहा रखने वाले शिष्य को गोपनीय सिद्धान्त भी कहे। बृहद्गौतमीयतन्त्र में भी इसी प्रकार लेख है।

इति श्रीमद्राधागोविन्ददेव सेवाधिपति श्रीहरिदासगोस्वामि-चरणानुजीवि श्रीराधाकृष्णदासोदीरिता भक्तिसाधनदीपिका दशमकक्षा सम्पूर्णा।

।। श्रीसाधनदीपिकासमाप्ताः ।।

श्रीश्रीमद्गुरवे समर्पितमस्तु

श्रीगान्धर्वा प्रसादेन हरिदासेन धीमता,
पूरिता विमलाभाषा सज्जनानाञ्च तुष्टये।।

।। श्रीलराधागदाधराष्टकम् ।।

श्रीलवृन्दावनाधीशास्वरूपं सद्गुणाश्रयम्,
पण्डिताख्यं प्रभुवरं वन्दे राधागदाधरम् ।।१।।
श्रीगौराङ्गमहाभावकारकं प्रेमवर्द्धकम् ।
महाभावस्वरूपं तं वन्दे राधागदाधरम् ।।२।।
यदास्यपद्म संदृश्य श्रीप्रभोर्व्रजभावना ।
श्रीमद्रासरसाधारं वन्दे राधागदाधरम् ।।३।।
श्रीगौराङ्ग प्रेमसारं विद्यानिधि दयास्पदम् ।
माधवानन्दनं धीरं तं वन्दे राधिकाभिधम् ।।४।।
श्रीशचीहृदयानन्दप्राणसर्वस्वसम्पुटम् ।
श्रीलप्रेमस्वरूपाख्यं तं वन्दे राधिकाभिधम् ।।५।।
श्रीनवद्वीपलीलाब्धौ शैशवे चापलंमहत् ।
कृतं येन महासौख्यात्तं वन्दे राधिकाभिधम् ।।६।।
नीलाचलविहारिश्रीगौराङ्गेन समंकृतम् ।
प्रेमाम्बुदसुधा येन तं वन्दे राधिकाभिधम् ।।७।।
गौराङ्गेनार्पितं गोपीनाथ पादाब्ज सेवने ।
नीलशैले सदावासं तं वन्दे राधिकाभिधम् ।।८।।
श्रीराधाभिदया गदाधर इति ख्यातंमहीमण्डले ।
यत् प्रेमाब्धिकणालवेन सकलं मग्नं जगत्सर्वदा ।।
मत् सर्वस्वपदाम्बुजं प्रभुवरं तं लोकनाथस्य मे ।
कृष्णप्रेमसुधाश्रयाङ्घ्रियुगलं श्रीपण्डिताख्यंभजे ।।९।।

इति श्रीलभूगर्भगोस्वामि भ्रातुष्पुत्रश्रीलोकनाथगोस्वामि
विरचितं श्रीराधागदाधराष्टकं समाप्तम् ।।

।। श्रीश्रीकृष्णाय नमः।।
।। श्रीश्रीगदाधरगौरांगौ जयतः।।

स्वकीयात्वनिरासविचारः
तथा
परकीयात्वनिरूपणम्

इह ब्रजे केचन श्रीमन्नन्दनन्दनेन सह श्रीवृषभानुनन्दिन्या उद्वाहं वदन्तो विवदन्ते। तत्र त एवं प्रष्टव्याः, (१) किं मथुराप्रस्थानात्पूर्वमेव ? (२) उत, मथुरातो द्वारकायामुषित्वा ततः कुरुक्षेत्रमिलनसमये ? (३) आहोस्वित् तत आगत्य दन्तवक्रबधानन्तरं पद्मपुराणीयगद्यानुसारेण पुनर्ब्रजागमनोत्तरकाले ? (४) किमुत लक्ष्मीपरमव्योमनाथवन्नित्यसिद्ध एवेति, (५) तत्रापि किं पितृभ्यां श्रीकृष्णाय प्रथमत एवानन्यपर्वैव दत्ता ? उताहो आदौ अन्यस्मै दत्ता तदनन्तरं यथा कथञ्चित् तद्विवाहस्य मिथ्यात्वेन विख्यापनं श्रुत्वा पुनरनेनोद्वाहिता ?

गदाधरं नमस्कृत्य गौरचन्द्रसमन्वितम्।
परकीयेतिवादस्य व्याख्यां करोमि मोदतः।।

ब्रजलीला में श्रीमन्नन्दनन्दन के साथ श्रीवृषभानुनन्दिनी के विवाह विषय को लेकर कुछ व्यक्ति विरुद्ध मत पोषण करते हैं। अतः उनसे पूछना है कि (१) यह विवाह सम्पन्न कब हुआ ? मथुरा गमन के पूर्व ? (२) अथवा मथुरा से द्वारका में अवस्थान के पश्चात् कुरुक्षेत्र में मिलन के समय में ? (३) अथवा द्वारका से आकर दन्तवक्र बध के अनन्तर पद्मपुराण के गद्य के अनुसार

नाद्यः ब्रजराजस्य वैश्यजातित्वादुपनीतस्यैव श्रीकृष्णस्य तदौचित्यात्, प्रकृते तु मथुरायामेव कंसबधान्तरमेव श्रीमद्वसुदेवेनैव तस्य संस्कृतत्वात्। न चादौ ब्रजे संस्कृतचर एव पुनः क्षत्रियत्वे संस्कृत इति वाच्यम्, श्रीभागवतादिषु कुत्रापि तथानुल्लेखात् न्यायसिद्वत्वाच्च। तद्यथा–'गर्भाधानादष्टमे जन्मतो वा मौञ्जीबन्धः शस्यते ब्राह्मणानाम्। राजन्यानां नवमे–एकादशेऽब्दे वैश्यानां च द्वादशे वेदविद्भिरितिः। प्रस्तुते श्रीकृष्णस्यैकादशवर्षारम्भमात्रं ब्रजे स्थितिः सुप्रसिद्धा।

नापि द्वितीय, कुरुक्षेत्र मिलनानन्तरं सर्वेषांब्रजवासिनां च यथा पूर्वं सकुटुम्बानामेव स्वस्व स्थानगमनात् विशेषत स्तासां

पुनर्वार ब्रजागमन के पश्चात् ? (४) अथवा लक्ष्मीनारायण की भाँति नित्य सिद्ध दाम्पत्य ही है ? (५) किंवा प्रथम ब्रज कन्याओं को अपर को देकर तत्पश्चात् किसी कौशल से उस विवाह को मिथ्या प्रतिपादन करके पुनर्वार श्रीकृष्ण के साथ विवाह अनुष्ठान सम्पन्न हुआ ?

प्रथम प्रकार कहना असम्भव है, ब्रजराजनन्द, वैश्य जाति के थे, सुतरां वैश्य जाति श्रीकृष्ण के लिए आवश्यक है कि उपनयन–संस्कार के पश्चात् ही विवाह करे॥ वस्तुतः स्थिति यह है कि श्रीकृष्ण का उपनयन–संस्कार श्रीवसुदेवजी के द्वारा मथुरा में कंसबध के पश्चात् ही हुआ था। यदि कहो कि पूर्व ही ब्रज में उपनयन–संस्कार हुआ था, किन्तु क्षत्रियोचित–संस्कार को प्रकाशित करने के लिए पुनर्वार मथुरा में उपनयन–संस्कार हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता, कारण श्रीमद्भागवत प्रभृति ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है एवं धर्मीय विधान प्राप्त भी है। धर्मीय विधान इस प्रकार है–जन्मकाल से अथवा गर्भाधान के समय से अष्टम वर्ष में ब्राह्मण का, नवम तथा एकादश वर्ष में क्षत्रिय का, द्वादश वर्ष में वैश्य का उपनयन–संस्कार करे॥ प्रस्तुत विवरण में श्रीकृष्ण की ब्रज में स्थिति तो एकादश वर्ष के आरम्भ पर्यन्त ही सुप्रसिद्ध है।

रहो मिलन समये आहुश्चते नलिननाभपदारविन्दं योगेश्वरै र्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः संसारकूप पतितोत्तरणावलम्बं गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥१०।८२।३७। इत्यस्य तद्वचनस्य व्याख्याने श्रीकृष्णसन्दर्भ 'वैष्णवतोषण्यो, ननु स्वयमेव आगत्य मां कुतो नानुभवतस्तत्राहुः—गेहं जुषां—परगृहणीनां—अस्वतन्त्राणां इति व्याख्याततत्वात् तत् प्रसङ्गस्यापि कर्त्तमयोग्यत्वात्॥

तृतीयन्तु दुर्घट एव। पाद्मोत्तरखण्डे श्रीकृष्णागमनानन्तरं 'गोपनारीभिरनिशं क्रीड़यामास केशव' इत्यत्र गोपपत्नीभिरित्युक्तत्वात् 'बहु प्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवासहे' त्युक्त्वा समनन्तरं तस्मिन्नेव गद्ये पुत्रदारसहितानां ब्रजवासिनां श्रीकृष्णेनान्तर्द्धापितत्वस्योक्तत्वाच्च। प्रमाणान्तरस्य तु

द्वितीय प्रकार कथन भी सम्भव नहीं है, कुरुक्षेत्र मिलन के अनन्तर सकल ब्रजवासीगण पूर्व की भाँति निज-निज कुटुम्बगण के साथ ही निज-निज स्थान में लौट आये थे। विशेषकर कुरुक्षेत्र में निर्जन मिलन के समय की उक्ति इस प्रकार रही—श्रीकृष्ण सम्प्रति लौकिक है, अतएव गृह एवं लोकाचार को त्यागकर ब्रज गमन असम्भव है, तब उपाय है, ब्रजवासीगण स्वतन्त्र हैं, वे सभी आकर उनसे क्यों नहीं मिल सकते ? इसके उत्तर में गोपिकागण कहती हैं, हम सभी परगृहणी हैं, अस्वतन्त्र हैं, अतः मिलन के लिए आना असम्भव है, मात्र यही प्रार्थना है, आपके श्रीचरणों की स्मृति हमारे अन्तःकरण में सदा-सदा बनी रहे, ऐसी व्यवस्था करो। श्रीकृष्णसन्दर्भ वैष्णवतोषणी में 'गृहं जुषा' शब्द का अर्थ परगृहणी अस्वतन्त्र किया गया है, अतएव विवाह का प्रसंग कुरुक्षेत्र यात्रा में सम्भव ही नहीं है।

तृतीय प्रकार कथन भी दुर्घट है, पाद्मोत्तरखण्ड के वर्णनानुसार श्रीकृष्ण के ब्रज में आगमन के पश्चात् केशव ने दिन-रात्रि गोप-नारियों के साथ रमण किया था। यहाँ पर श्रीजीव गोस्वामीपाद ने 'गोपनारीभिः गोप पत्निभिः' लिखा है, श्रीकृष्ण

कुत्राप्यदृष्टत्वात्। न चानिश क्रीड़ा दाम्पत्यं विना न सिद्ध्यतीत्यन्यथानुपपत्त्या तदवश्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति वाच्यं। तस्य हाटकेश्वरस्येवाविरतसुरतस्यामतत्वाद् रसापहतत्वाच्च।।

ननु श्रीकृष्णसन्दर्भ–श्रीगोपालचम्पूः–लोचनरोचन्यादिषु दन्तवक्रबधात् पूर्वलीलानामवतारलीलात्वेनोक्त्वा प्रत्याख्यानात् एतदनन्तर लीलानामेव नित्यता स्थापितैव। सर्वासां ब्रजसुन्दरीणां सत्यत्वमिथ्यात्वे तत्र निर्णीय मायिकीनां स्वस्वपतिगृह–गृहणीत्वे स्थितित्व विवरणात् सत्याभिः सह श्रीकृष्णस्य पुनरुद्वाहस्याप्युक्तत्वात् केन वा को नाम नवीनः सन्देहः समुत्थापित इति सन्दिहानाः स्म वयमेव।

अत्रोच्यते। श्रीकृष्णलीलानां श्रुतिस्मृति–पुराणागमादिषु नित्यत्वेन प्रतिज्ञातानां सर्व्वपूर्व्वाचार्य्यजीवातुरूपोपासनीयत्वेन सम्मतानां यदनादरं विधाय स्वरचितलीलानामेव नित्यतां ब्रूथ,

---

ने विशेष प्रेमरस से दो मास व्यतीत किये थे। इसके पश्चात् उस गद्य में वर्णित है–पुत्र, पत्नी सहित सकल ब्रजवासियों को अन्तर्धान कराया था। विवाह का प्रमाण–कहीं पर भी नहीं मिलता है, यदि कहो कि–उक्त वचन में लिखित अनिश दिन–रात्रि अनवरत रमणक्रीड़ा दाम्पत्य के बिना सम्भव नहीं है, उसकी सिद्धि के लिए विवाह स्वीकारना आवश्यक है, ऐसा कह नहीं सकते हो। हाटकेश्वर महादेव की भाँति श्रीकृष्ण की अविरत–सुरत क्रीड़ा स्वीकृत नहीं है और यह एक वीभत्सरस होने से वह शृंगाररस का बोधक है।

श्रीकृष्णसन्दर्भ, श्रीगोपालचम्पूः, लोचनरोचनी प्रभृति टीका में दन्तवक्र बध से पूर्वलीलाओं को अवतार लीला कहकर प्रत्याख्यान करके दन्तवक्र बध के पश्चात् की लीलाओं की नित्यता स्थापित हुई है। सकल ब्रजसुन्दरीगण सत्य एवं मिथ्या रूप में बँट गयी हैं, मायिक ब्रजसुन्दरियों की स्थिति तो निज–निज पतिगृह में हुई और उनके साथ ही श्रीकृष्ण का पुनर्वार विवाह भी कहा गया है, अतएव वह कौन व्यक्ति किस प्रकार से नवीन सन्देह उपस्थापित करेगा, इसमें तो हम सब ही संदिग्ध हैं।

तत्र श्रीभगवद्सन्दर्भादिरेव युष्मन्निरसने जागरूको वर्त्तत एवालं तद्विचार विस्तारेणात्र सिन्द्धान्तसारे तु विवृतमेव।

भागवतामृतधृतगद्यानुसारिणश्चेद् भवन्तस्तर्ही तल्लिखनमुपक्रमोपसंहाराभ्यां विचार्य्यं कथं वदथ ! तत्र तेन दन्तवक्रं निहत्य यमुनामुत्तीर्य्य श्रीमन्नन्दादिगोपगणैः सह मिलित्वा गोपनारीभिर्मासद्वयं विहृत्य पुत्रदारसहिताः सर्व एव ब्रजवासिनोऽन्तर्धापिता एतावन्मात्रं निर्णीतं नान्यदधिकं किञ्चिदपि। किञ्च यद्यपि स्वस्वपत्न्यादिभिः सह ब्रजवासिनामप्रकटे वास पुराणानुयायी तेषां ग्रन्थकर्त्तृणां निर्णयः कथमन्यैरन्यथा वक्तुं शक्यं। उच्यते, चेत् केन वा तत्प्रमाणीकरणीयं अपि च यद्युद्वाह एव दुर्घटस्तदान्यैरुपात्तोऽपि पूर्व्वोद्वाहस्य मायिकत्वख्यापनानन्तरं श्रीकृष्णेन सह पुनर्विवाह शिष्टैः कथं मन्तव्यः लोके वेदे च तस्य दिधिषुवादस्यातीव जुगुप्सितत्वममूलकत्वं च स्पष्टमेव।।

उस विषय में कहते हैं, श्रीकृष्ण की लीला समूह नित्य है और यह सब श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम सम्मत है, पूर्वाचार्यगण उसी प्रकार से स्वीकार करके ही उपासना का उपदेश देते हैं, इस प्रकार सुसिद्धान्तपूर्ण वस्तु को न स्वीकार कर यदि निज रचित लीला का नित्यत्व प्रतिपादन करते हैं, तब तो उसको निरसन करने के लिए श्रीभगवद्सन्दर्भ प्रभृति ग्रन्थ जागृत हैं, अतएव यहाँ पर उसका विस्तार करना निष्प्रयोजन है, अग्रिम सिद्धान्त ग्रन्थ में उसका प्रदर्शन करेंगे।

बृहद्भागवतामृत में उद्धृत, पद्मपुराणीय गद्य के अनुसार ही आपका कथन है तो उसके लेखन का विचार उपक्रम उपसंहार के द्वारा करके ही निर्णय करें। अशिष्ट कहना उचित नहीं है, उसमें लिखित है कि–श्रीकृष्ण दन्तवक्र का बध करने के पश्चात् श्रीयमुना पार करके श्रीनन्दादि गोपगण के साथ मिले थे एवं गोपनारियों के संग दो मास विहार करके पुत्र, पत्नी प्रभृति के साथ समस्त ब्रजवासियों को अन्तर्धान कराया था, उसमें इतना ही निर्णीत है,

नापि चतुर्थः संगच्छते–प्रकटाप्रकटयोरैक्यरूपेण लोकवल्लीलाकैवल्येन च सर्वदा स्थितेः सर्वत्र निर्णयात्। ननु ब्रह्मसंहितोक्त श्रीकृष्णस्यादिपुरुषत्वं तासां च लक्ष्मीत्वमतिविस्पष्टमेव। तदनुयायिनां गोलोकोपासकानामस्माकं किमेताभिरवतारलीला विभीषिकाभिः ? न चाप्रकटलीलां विना माधुर्यास्वाद एव न संभवेदिति वाच्यं। अप्रकटस्य सर्वेषां नयनागोचरस्य गोलोकत्वे एव स्थापित त्वात्।

अत्र बदामः। यद्यपि रमादिशब्दैस्तासां आदिपुरुषत्वेन च श्रीकृष्णस्य च विख्यातस्तथापि ब्रह्मणोक्तमंत्रचिन्तामणे–रूपासनाप्रकारे तु श्रीमन्नन्दनन्दनत्वे तासां च गोपीत्वे पांचरात्र, गौतमीयतन्त्रे, क्रमदीपिकादिषु च निश्चितत्वात्तथा वक्तुमशक्यमेव नच व्यासोक्तलीलाभिर्विना पांचरात्रादिषु कोऽपि

अधिक कुछ भी नहीं है और भी समस्त ब्रजवासियों की स्थिति, अप्रकट में यदि निज–निज पुत्र, पत्नी के साथ ही विहित हो तब ग्रन्थकर्त्ता के निर्णय को अन्यथा कौन कर सकता है। यदि कहते ही हो तो किस प्रमाण से उसका प्रतिपादन करोगे ? और भी यदि विवाह ही दुर्घट हो जाय तो, अन्य से विवाहित लालन से पुनर्वार विवाह के लिए पूर्व विवाह को मिथ्या प्रमाणित करना, शिष्ट व्यक्तिगण इसे कैसे स्वीकार करेंगे! कारण समाज में तथा शास्त्रकार द्वितीय विवाह दिधिषुवाद को घृणा दृष्टि से देखते हैं एवं वह सम्पूर्ण अमूलक ही है।।

चतुर्थ प्रकार से कहना भी न्यायसंगत नहीं होगा, प्रकटाप्रकट लीलाद्वय को सर्वत्र एकरूप से ही स्थापन किया है। यदि कहो कि ब्रह्मसंहिता में श्रीकृष्ण के आदिपुरुष एवं प्रेयसीवर्ग को लक्ष्मीरूप में स्पष्टरूप से स्थापन किया गया है। अतएव उनके अनुयायी गोलोक उपासक हम सबके लिए अवतार लीला की विभीषिका से क्या प्रयोजन है ? अप्रकट लीला के बिना माधुर्यास्वाद भी सम्भव नहीं होगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है। सकल व्यक्तियों के नयनागोचर से ही गोलोक में अप्रकट लीला का स्थापन हुआ है।

मन्त्र उक्तोऽस्ति। पूतनास्तनपातारमित्यारभ्य तत्र लीलाविशिष्टस्यैव श्रीकृष्णस्य सर्वत्रोपास्यत्वेन निर्दि्दष्टत्वात्। लोकवल्लीलाकैवल्यस्यैव समीहितत्वं सर्वत्र तद्भिन्नोपासना नास्त्येव चेत्तथापि प्रौढ़ि ब्रंह्म इव कञ्चन निर्लील उपास्यतां नाम न तत्र विवादः। निर्विशेषे स्वीकृते उपासनाया असिद्धिः सर्वत्राचार्यैर्निर्णीतैव।

किञ्च प्रथमनिष्पन्नो विवाहः सर्वस्मिन्नेव ब्रजे विख्यातः विदग्धमाधवादावुक्तः कथं सोऽन्यथा कर्त्तुशक्यः। न च शारीरकादौ सर्वप्रपञ्चजातस्य मिथ्यात्वं प्रतिपाद्यत एव तद्वदस्यापि मिथ्याभूताभि गोंपीभिर्गोपैः करग्रहणस्य मिथ्यात्वं निजग्रन्थेषु निर्णीतमिति वाच्यम्। शारीरकमतानुसारिभिस्तथात्वे नित्यं रटद्भिरपि निष्पन्नो व्यवहारो ब्राह्मणादीनां यथा प्रवृत्तमन्यथा कर्त्तुमशक्यत्वात् चेत्तैरेव सिद्धः प्राकृतो व्यवहारो भ्रमत्वेनोप्युद्घुष्यमाणोऽपि असिद्धः कर्त्तुमशक्यः प्रकृते गोपसुन्दरी–

इस विषय में कहते हैं–यद्यपि रमादि शब्द से लक्ष्मी की एवं आदिपुरुष शब्द से श्रीकृष्ण की प्रसिद्धि है। तथापि श्रीब्रह्मा के कथनानुसार मन्त्रचिन्तामणि की उपासना प्रकार में श्रीनन्दनन्दन रूप में श्रीकृष्ण का एवं गोपी रूप में प्रेयसी का बोध तो होता ही है, पांचरात्र, गौतमीयतन्त्र, क्रमदीपिका ग्रन्थ समूह में भी वैसा ही निश्चित है, अतएव पूर्वोक्त प्रकार से कहना उचित नहीं होगा।

और भी व्यासोक्त लीलाओं को छोड़कर पांचरात्र प्रभृति में अपर के मन्त्र भी नहीं हैं। 'पूतनास्तनपातार' इससे आरम्भ कर विशिष्ट लीलाओं के द्वारा ही श्रीकृष्ण उपास्य होते हैं, वेदान्तसूत्र लोकवत्तु लीला कैवल्य नियम से ही उपासना निर्दिष्ट है, उससे भिन्न कोई उपासना नहीं है। तथापि प्रथा के अनुसार ब्रह्मोपासना की भाँति कोई लीला शून्य की उपासना करे तो उसमें हमारी कोई आपत्ति नहीं है। निर्विशेष में उपासना होती ही नहीं है, आचार्यगण सर्वत्र निरूपण कर चुके हैं और भी प्रथम निष्पन्न विवाह ब्रज में सर्वत्र प्रसिद्ध है, विदग्धमाधव प्रभृति ग्रन्थ में वर्णित भी

सम्बन्धितलीलालीरन्यै र्मित्थात्वे निश्चीयैकस्मिन्नेव ग्रामे प्रथमानन्तरद्वितीयोद्वाहः कथं निर्वाहणीयः तथापि यदि कथंचित्तद्वक्तव्यमेवेति निर्वंध एव यौष्माकः तर्हि प्रथमोद्वाहवादिभ्यः प्राचीनेभ्यो जारवादित्वे गालिप्रदाय स्वयं द्विर्विवाहं वदन् दिधिषुवादित्वमपि स्वस्योरीकरणीय-मवश्यमेवेत्यलं विचारविलसितेनेति। 'पुनर्भूर्दिदधिषु रूढ़ा द्विस्तस्या दिधिषु, पतिरित्यमरः'।।

किञ्च यदि कृष्णप्रेयसीनां मायिकत्व-सत्यत्वाभ्यां सर्वथा अभिन्नाकाराच्च सर्वदा स्वरूपद्वय स्वीकारः तदा ब्रजे यावन्तो ब्रजवासिनस्तेषां श्रीवृषभानुकीर्त्तिदाप्रभृतीनां तासां पितृणामप्यन्यथानुपपत्त्या स्वरूपद्वयं स्वीकर्त्तव्यमेव। नोचेत् कृष्णसन्दर्भ - गोपालचम्पूक्तः सिद्धान्तो व्याकुप्येत। तत्र तु

है उसको अन्यथा कैसे करेंगे ? यदि कहो शंकरमत में प्रपंच को मिथ्या मानते हैं, उसी प्रकार से ही मिथ्या गोपियों के साथ कर-ग्रहण हुआ है और वह भी मिथ्या ही है। निज-निज ग्रन्थ में वैसा उन्होंने लिखा भी है, ऐसा कहना उचित नहीं है। मायावादीगण सबको मिथ्या कहकर पुनः-पुनः प्रचार करने पर भी जिसका जो भी व्यवहार ब्राह्मणादि में होता है उसको अन्यथा निर्गुणवादी नहीं कर पाये हैं, भ्रमरूप से कहने पर भी वह व्यवहार नित्य आचरणीय है, इस प्रकार गोप सुन्दरीगण के विवाह को एक ग्राम में मिथ्या कहकर अपर ग्राम में उस विवाह का अनुष्ठान कैसे होगा ? इसमें तुम्हारा आग्रह ही हो तो प्रथम विवाह के पश्चात् द्वितीय विवाह होने पर पूर्व तो उपपति कहकर दुर्वचन भी कहते हो, पश्चात् दो बार विवाह होने से दिधिषु ख्याति होगी, यह तो पूर्व से भी निन्दनीय होगी। अमरकोष के मत में 'पुनर्भूर्दिदधिषु रूढ़ा द्विस्तस्या दिधिषु, पतिरित्यमरः' है।।

और भी यदि श्रीकृष्ण प्रेयसीगण के मायिकत्व एवं सत्यत्व के द्वारा सर्वथा अभिन्नाकार तो है ही अतएव स्वरूप द्वय उनके स्वीकृत हैं, तब तो जितने भी ब्रजवासीगण हैं

'मन्निर्वर्त्तिता: ता: स्वस्व पतिगृहमनुवर्त्ततां। कृष्णैक परायणास्तु स्वस्व पितृगृहं इति देव्या वचनेन समाहितत्वात्।

यदि च नाम–स्वरूपादिनैक्येन ता युगपदेव पतिगृह–पितृगृहादिषु प्रहितास्तर्हि सुतरां स्वस्वपतिगृहगृहिणानां भार्य्या: पुत्रप्रयोजना इति न्यायेन गृहादिसोष्ठवपोषाय च अपत्योत्पत्तिरवश्यं भाविनी। तस्यां वसत्यां जातकर्मारभ्य सर्वक्रियाकलापमुभयकुलवृद्धादिं विना नैव निष्पद्यते इति तेऽपि स्वयमेव स्वीकृता एव। एवं च या: स्वस्व पितृगृहं गतवत्यस्ताभि–सह श्रीकृष्णस्य विवाहोत्सवो भावीति भवदाशय: तत्र तस्य विवाहोत्सवे सर्व एव ब्रजवासिजना: श्रीमद्ब्रजराजेनावश्यमेव निमन्त्रणीया: तथा सति तत्पर्वणि स्त्रीप्रधानत्वात् जटिला–भारुण्डाद्या: पुरंध्र्य: स्वस्व बधुभी राधाचन्द्रावल्यादिभि: सहावश्यमामन्त्र्य एव।

वे श्रीवृषभानु कीर्त्तिदा प्रभृति के भी स्वरूप द्वय स्वीकार करने ही होंगे, ऐसा न होने पर वह श्रीकृष्णसन्दर्भ एवं श्रीगोपालचम्पूक्त सिद्धान्त का विरोधी होगा। वहाँ पर मेरे निदेश से वे सभी गोपांगनागण निज–निज पतिगृह को जायँ, श्रीकृष्ण परायण गोपीगण निज–निज पिता के गृह को लौट जायँ। इस देवी के वचन से समाधान किया गया है। नामरूपादि की अभिन्नता के कारण ही उन सबको एक साथ ही पतिगृह एवं पितृगृह को भेजा गया है, तब पत्नी को स्वीकार पुत्र के लिए होता है, गृहिणी सौन्दर्य प्रकाशन के लिए अपत्य उत्पादन होना आवश्यक है, ऐसा होने से उत्पन्न अपत्य के जाति, कर्मादि से लेकर सकल कर्म में उभय कुल के कुलवृद्धों की उपस्थिति आवश्यक होती है, इस प्रकार उन्होंने भी माना है। इस प्रकार जिसको पितृगृह में भेजा गया है, उन सबके साथ श्रीकृष्ण का विवाह होगा, यह ही आपका अभिप्राय है। उस विवाहोत्सव में श्रीनन्द महाराज समस्त ब्रजवासियों को निमन्त्रण देकर बुलायेंगे, स्त्रीप्रधान विवाहोत्सव होने के कारण निज–निज बधूवर्ग श्रीराधा, चन्द्रावली प्रभृति के साथ जटिला भारुण्डा प्रभृति

अत्रैवं संदेहः प्रस्तुते तस्मिन्नुत्सवे स्वस्वपार्श्ववर्त्तिन्यो राधाद्याः कृष्णेनोद्वाह्यमाना अपि ता स्तास्ताभिः श्वश्र्वादिभिः पुनर्निमन्त्रिते रभिमन्युप्रभृतिभिः श्रीवृषभाण्वादिभि स्तासां पितृभिस्ताभिश्च दृश्यन्ते न वा। दृश्यन्ते चेत् कीदृशी बोधः समपद्यत किं एतामद्बधूवर्गेभ्यो मद्दारेभ्योऽस्मद्बालिका-भ्योऽस्मभ्यो पृथगेव इति निश्चयात्मकः उत परिचेतुमशक्यतया सन्देहरूपः आहोस्वित् योगमाया वलेनैवाननुसंधानावयवः। नाद्यः तथा सति यद्यपि वयं सत्या एता मायिक्य इति पितृगृहगतवतीनां भवदभिमतः तथापि प्राचीन-संस्कारवलात् पतिभ्यो-ऽभिमन्वादिभ्यः संकोच संपत्त्या पुनर्विवाहस्याऽनभिमतत्वात्। पतिगृहस्थितानां तु तथाबोधाभावात् स्वसमानाकार-रूपगुणादिमतीनां दर्शनेन विचिकित्सापत्त्या महाजुगुप्सा। एवं श्वश्र्वादिभिः पतिभिः पितृभिश्च युगपद्दर्शनेन जुगुप्सैवमस्य तेन तु प्रकृतविवाहकर्मणि प्रवर्त्यते इति विसंष्ठुलत्वाच्च न च एता मदीयाभ्योऽभिन्ना इत्याकारक एव बोध इति प्रौढ़ीरास्माकीति भ्रमादपि वाच्यः।

का भी आगमन होगा, पूर्व-पूर्व जामातागण के साथ पूर्व-पूर्व सासु-श्वसुरों का साक्षात्कार भी होगा, उस समय कैसा दृश्य होगा ? वे जन क्या समझेंगे, यह सभी हमारे बधूवर्ग, पत्नीवर्ग, बालिकावर्ग से पृथक् है ? इस प्रकार निश्चय ? अथवा पहचानने में असमर्थ होकर संशय होगा ? अथवा योगमाया के द्वारा आच्छादित होने से कुछ अनुसन्धान भी नहीं होगा ? प्रथम प्रकार सम्भव नहीं है। कारण प्राचीन संस्कार से पूर्व पतियों को देखकर संकोच अवश्य होगा, इससे विवाह के लिए सामाजिक सम्मति प्रदान नहीं करेंगे। पतिगृह स्थिति गोपियों के लिए भी एक महाघृणा होगी, दोनों की आकृति एक होने से महाघृणा उपस्थित होगी, श्वसुर, पति, पिता को एक साथ देखकर अनुष्ठित विवाह कर्म में किसी की सम्मति नहीं होगी, अतएव अंगहीन विवाह अनुष्ठान नीरस में परिणत होगा। अतएव भ्रम से अथवा प्रथा से भी कभी दोनों को एक करके कहा नहीं जा सकता है।

तासां नाम–रूप–गुणादीनां सर्वथा अभेदेनैव प्रतीयमानात्। नापि द्वितीयः द्वयोरपि नामादिभिरीषदप्य–नन्यतया श्वश्रूप्रभृतीनां स्वयमेव स्वेषां वा अपरिचय इति वक्तुमप्ययोग्यत्वात् । नापि तृतीयः तस्याः प्रकृतलीलासंपादिकात्वप्रसिद्धेः। प्रकृतं तु वरकन्ययो दर्शन पूर्वकविशिष्टज्ञानात्तत्तन्मंगलसंपादनानन्तरं आप्तवर्गैस्ताभ्यां यौतुकादिसमर्पणं न त्वन्यत्। सर्वथा तु मिथः संदर्शनमेव लोकवेदरीत्यासु निष्पन्नं। तस्मिंश्च सति श्रीकृष्णस्येतेषां दर्शनेन लज्जा–भयोत्पत्तिः। तथा तेन सहोद्वाहे प्रवर्त्तितानां गोपीनां श्वश्रूपत्यादिदृष्ट्याभयादिना प्रकृते पुनर्विवाहेऽननुमतिः। गोवर्द्धनाभिमन्युप्रभृतीनां इन्द्रजालसदृश तद्दर्शनात् श्रीकृष्णेन सह विरोधोद्भवः पित्राद्या वृषभाण्वादयस्तु मदौरस्यो भवन्त्येता एता न भवन्तीति वा कथं वा प्रतियन्तु कथं वा पुनः पूर्वजामातृणां समक्षमेव निरपेक्षतया ताः संप्रददतु न । च सर्वं समाधात्री

उन सबके नाम, रूप, गुणादि सर्वथा अभेद रूप से ही प्रतीयमान होते हैं। द्वितीय प्रकार कथन भी सुसंगत नहीं है, दोनों के नामादि के द्वारा अल्प भी यदि अनन्य रूप से श्वसुर प्रभृति के निकट अथवा अपना भी अपरिचय होना असम्भव होगा, ऐसा कहना भी अयुक्त ही होगा। तृतीय प्रकार भी संगत नहीं है–प्राकृत लीला की सम्पादिका का विवरण है ही नहीं। प्रस्तुत में तो वर–कन्या के दर्शन के पश्चात् विशिष्ट ज्ञान होने पर मंगल कार्य समूह के सम्पादन के पश्चात् आप्तवर्ग उन दोनों को कौतुक दहेज उपायन भी देते है। इसको छोड़कर अपर कुछ भी व्यवहार नहीं है, दोनों का परस्पर दर्शन लोक वेद रीति से ही हुआ है, इसमें उन सबको देखकर श्रीकृष्ण लज्जित एवं भीत हो जायेंगे। श्रीकृष्ण के साथ पुनर्वार विवाह अनुष्ठान आरम्भ होने से गोपीगण निज–निज पति, सासु, श्वसुर प्रभृति को देखकर भय एवं लज्जा से पुनर्वार विवाह में सम्मति नहीं देंगी। गोवर्द्धन अभिमन्यु प्रभृति के निकट सब कुछ इन्द्रजाल के तुल्य दिखायी पड़ेगा और श्रीकृष्ण के साथ विरोध उपस्थित होगा। श्रीवृषभानु प्रभृति पितृवर्ग भी कहेंगे कि यह हमारी तथा सजाति कन्या है अथवा नहीं।

पौर्णमासीति विवृतमेवेति वाच्यं। श्रीशंकराचार्याद्याः सहस्रशः प्रपंचस्य मिथ्यात्वं व्याख्याय श्रूतिरपि तदुपोद्वलकत्वेन दर्शयित्वापि ब्राह्मणादि कर्त्तृकविवाहादिकर्मणां मिथ्यात्वं लोके दृढ़ीकृत्य तेषां स्त्र्यादि येभ्यः केभ्यः एव दाययितुं न समर्था बभूवु रिति पूर्वमेवोक्तत्वात्।

अत्र तु कृष्णकर्त्तृकचरित्राणां लीलात्वेन प्रसिद्धानां दिव्यत्व नित्यत्वयोः प्रतिष्ठितानां न जाने मायिकत्वकल्पनया किं साधनीयं वादिभिरित्यलमनुलापेनेति। अपि च श्रीमद्वेदव्यास एकस्यैव ऋग्वेदस्य चतुर्द्धा विभागं विधाय यथाधिकारिशाखा सहस्रं विभज्यापि स्त्रीशूद्रादीनां तत्रानधिकारात् कथं निस्तारः स्यादिति भारतमप्युपदिश्य मोक्षाधिकारिणां तत्सिद्ध्यर्थं

अथवा यह सब है, कैसे उन सबका निश्चय होगा ? किस प्रकार से प्राक्तन जामाता के समक्ष ही निरपेक्ष रूप से अपनी कन्याओं के विवाह, कन्या सम्प्रदान भी कैसे होगा ? यदि कहो–समस्त समाधान तो पौर्णमासी देवी ही करेंगी, यह तो हमने कहा ही है, इस प्रकार कह नहीं सकते, कारण–आचार्य शंकर प्रभृतियों ने अनेक प्रकार से प्रपंच को मिथ्या कहकर श्रुति का प्रमाण भी दिखलाया है, किन्तु ब्राह्मणों के विवाह को मिथ्या कहकर उनकी विवाहित पत्नियों को जिस किसी को दिलवाने की सामर्थ्य उन सभी में नहीं रही। इस तथ्य को तो पूर्व में ही कहा गया है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण के द्वारा किये हुए आचरणों को लीला कही जाती है, उन प्रसिद्ध लीलाओं में दिव्यत्व एवं नित्यत्व संस्थापित हुए हैं, तथापि मैं नहीं जानता हूँ कि वादी उसमें मायिकत्व कल्पना करके क्या साधन करेंगे ? अतः इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है और भी श्रीमद्वेदव्यासजी ने एक ही ऋग्वेद को चार भागों में बाँटकर अधिकारी के अनुसार सहस्र शाखा ग्रन्थ का प्रणयन करने के पश्चात् आपने देखा स्त्री एवं शूद्र उससे वंचित रहेंगे, अतः भारत ग्रन्थ का वर्णन उन्होंने किया, यह तो रही प्रवृत्तिमार्गीय के लिए तथा मोक्षमार्गीय के लिए, आपने ब्रह्म

ब्रह्ममीमांसामप्यध्यायचतुष्टयेन प्रदर्श्य पुनरपि द्वन्द्वधर्मेस्वभिरतान् जनान् वीक्ष्य तदुपकारार्थं यथाधिकारि विचार्य्यार्ययैव वर्त्तनीयं तत्वानार्यचर्ययेति पुराणानि प्रकाशितानि। तथापि चित्तस्याप्रसाद एव समुपसीदति मनस्तु तत्प्रसादः यदैव श्रीमन्नारदोपशात् श्रीमद्भागवतं वर्णितवान् तदैव सर्वतोभावेन मनः प्रसत्तिमुपलभ्य भगवत्स्वरूपमप्युपलेभे। अतएवार्वाचीनैर्भव्यवुभूषुभिस्तच्चित्ता-प्रसादप्रसादाभ्यां अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चत्य शास्त्रान्तरेषु तत्सम्मतेष्वेव मनोऽभिनिवेशनीयमिति प्रमाणचूडामणित्वेन श्रीमद्भागवतमेव सतां सम्मतं तत्रापि श्रीकृष्णलीलाप्रधानत्वेन दशमस्कंध एव तद्हृदयं। तत्रापि तनू प्राण इव सर्वलीलातोऽपि मुख्यतमरासलीला वर्णन पंच अध्यायाः अतस्तत्सर्वस्वरूपस्त

मीमांसा नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें चार अध्याय हैं। पुनर्वार आपने प्रवृत्ति धर्मरत लोकों की निष्ठा को देखकर उनके उपकार के लिए अधिकार के अनुसार विचार भी किया एवं मानव के लिए आर्यधर्म का अनुसरण ही हितकर होगा, इस प्रकार निश्चय करके आपने पुराणों की रचना की। तथापि उनके चित्त में शान्ति नहीं आयी, तब श्रीनारदजी के उपदेश से श्रीमद्भागवत का वर्णन आपने किया, उससे सभी प्रकार से चित्त में शान्ति आ जाने के कारण, आपने श्रीमद्भागवत के स्वरूप की उपलब्धि यथार्थ रूप से की। अतएव मंगलमय उत्तम वस्तु के परिज्ञान के लिए श्रीवेदव्यासजी के चित्त की प्रसन्नता, अप्रसन्नता से ही कृति का विचार करते हैं एवं श्रीमद्भागवतीय कथा ही चित्त की प्रसन्नता का कारण है, जहाँ भागवती कथा नहीं है, वहाँ चित्त की प्रसन्नता की कोई बात ही नहीं है, इस प्रकार निश्चय करके ही सज्जनगण श्रीमद्भागवत में मन का अभिनिवेश बढ़ाते हैं एवं श्रीमद्भागवत को ही सर्वप्रमाण चूड़ामणि रूप में स्वीकारते हैं, उसमें भी शुद्ध श्रीकृष्णलीला वर्णनात्मक दशमस्कन्ध अत्यन्त हृदयग्राही है, उसमें भी शरीर में प्राण की भाँति समस्त लीलाओं में मुख्यतम रासलीला वर्णनात्मक पाँच अध्याय हैं, अतएव वह ही विचारणीय हैं, उसमें

एव विचारणीयाः। तत्र शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्यो-ऽपास्येत्यादि। तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गतेत्यादि श्रीशुकवाक्यं।

मातरः पितरः पुत्रा इत्यादि, (१०।२९।२०।२२) तद्यात मा चिरं घोषं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीरित्यादि, (१०।२९।२३) भर्त्तु शुश्रूषणं स्त्रीणां परोधर्मो ह्यमाययेत्यादि, (भा० १०।२९।२५) पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरित्यादि, (भा० १०।२९।२६) जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रिया इति कृष्णवाक्यानि, (भा० १०।२९।३२) यत्पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरित्यादि, (भा० १०।२९।३३) कुर्व्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किमित्यादि, (भा० १०।२९।४०)कास्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीत संमोहितार्य-

---

(भा० १०।२९।६) में वर्णन है, श्रीकृष्ण की बाँसुरी जब बजी तब कोई गोपी पति की सेवा कर रही थी, तो कोई भोजन कर रही थी, किन्तु उसको छोड़कर ही अभिसार में प्रवृत्त हो गयी, (भा०१०।२९।११) में वर्णित है, कुछ गोपियों को तो उनके पतियों ने ही गृह में बन्द कर दिया था, किन्तु उन गोपियों ने परमात्मा श्रीकृष्ण को उपपति बुद्धि से चिन्ता कर गुणमय देह को शुद्ध करने में समर्थ हुई, ये सभी परमहंस श्रीशुकदेवजी की वाणी हैं।

गोपियो ! यहाँ पर अधिक देरी तक न रुको, तुम्हारे माता-पिता, पुत्रगण तुम्हें ढूँढ़ रहे होंगे, तुम सभी सती हो यहाँ से लौट जाओ और अपने-अपने पतियों की शुश्रूषा करो, पति की अमाया से शुश्रूषा करना सती का परमधर्म है, पुण्यलोक प्राप्ति के लिए यह उचित है कि पत्नी कभी भी पति का परित्याग न करे। कुलस्त्री के लिए औपपत्य निन्दनीय है, यह सभी श्रीकृष्ण वाक्य हैं। रासलीला के प्रथमाध्याय में गोपियों की उक्ति है-है भैया ! तुमने जो कहा है कि पति अपत्य सुहृदों की अनुवृत्ति करना धर्म है, किन्तु कुशल व्यक्तिगण तो तुम्हारे प्रति ही प्रीति करते हैं,क्योंकि तुम प्रिय आत्मा हो। पति, सुत अनित्य तो हैं ही तथा नित्य पीड़ा देने वाले भी हैं,

चरितान्नचलेत्त्रिलोक्यामित्यादि तासां वचनानि च प्रथमेऽध्याये (भा० १०।३१।१६) पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागता इत्यादि च तृतीयेऽध्याये। (भा० १०।३२।२१) एवं मदर्थोज्झितलोकवेद स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबला इत्यादि। (भा० १०।३२।२२) न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यंविबुधा-युषापि वः। या मा भजन् दुर्जरगेहश्रृंखलाः संवृश्च्य तद्व इत्यादि श्रीकृष्णवाक्यानि चतुर्थे अध्याये (भा० १०।३३।१९) कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती गोंपयोषितः। रराम भगवांस्ताभिरित्यादि श्रीशुकवाक्यं। (भा० ३३।२६।२८) स कथं धर्मसेतुनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता प्रतीत माचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्।

हे भैया ! ऐसी स्त्री कौन है जो तुम्हारी वंशीध्वनि से आर्यपथ भ्रष्ट नहीं होगी, क्योंकि त्रिलोक की सुभगता को तुमने धारण कर रखा है। (भा० २९।१०--) अध्याय में है, तृतीयाध्याय में वर्णित है, पति, पुत्र, बान्धवादि को त्यागकर तुम्हारे निकट आ गयी हूँ॥ उस अध्याय में श्रीकृष्ण ने भी कहा है, अवलागणो ! तुम सभी ने मेरे लिए जो कुछ भी त्याग किया है उसका मैं आभारी हूँ। मैं ब्रह्मा की आयु प्राप्त होने पर भी इसका शोध नहीं कर सकूंगा क्योंकि तुमने जो दुर्जर गृह शृंखल को तोड़ दिया है। भगवान् श्रीकृष्ण के समीप में जितनी गोपिकायें रहीं तो उन्होंने उतने ही वपु धारण कर क्रीड़ा की है। अन्तिम में राजर्षि के प्रश्नवाक्य में-आप्तकाम यदुपति ने जो निन्दनीय कार्य किया है यह तो धर्मसेतु के रक्षक, उपदेष्टा, कर्त्ता, पालक भी हैं, ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनरूप पाप कार्य आपने क्यों किया, इसका अभिप्राय क्या है, आप संशय को नष्ट करने की कृपा करें। उत्तर में श्रीशुकदेवजी ने कहा-आपकी पततदृष्टि में ईश्वर का साहस तथा उनसे धर्मलंघन हुआ है, प्रतीत होता है, किन्तु वह्नि के लिए जिस प्रकार भक्ष्याभक्ष्य का विधान नहीं होता है उसी प्रकार ही तेजीयान् व्यक्ति के लिए भी दोषावह नहीं है, गोपियों तथा उनके पतियों के अर्थात् समस्त देहधारी प्राणियों के स्वयं पति जो हैं, जो कि चराचर के हृदय में विराजित हैं, उन्होंने

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितं। किमभिप्रायं एतन्नः संशयं छिन्धि सुव्रत इत्यादि श्रीराजर्षि प्रश्ने (भा० १०।३३।२९) 'धर्म व्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसं तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।' (भा० १०।३३।३५) 'गोपीनां तत् पतीनांच सर्वेषामेव देहिनां।' 'योऽन्तश्चरतीत्यादि' (भा० १०।३३।३७) 'मन्यमाना स्वपार्षदस्थान् स्वान्–स्वान् दारान् ब्रजौकस' इति श्रीशुकवाक्यानि च पंचमेऽध्याये।

अतोऽत्रैवं विचार्य्यते। यद्वर्णनानन्तरमेव श्रीमद्वेदव्यासस्य चित्तप्रसत्तिरजनिष्ट तन्मध्यवर्तिन हृदयांतः पंचप्राणा इव या पंचाध्यायी तत्र तादृश–महाराजर्षि–श्रीमत्परीक्षित् प्रश्नानुरूपं श्रीमन्मुनीन्द्रेण भ्रमवत् स्वरूपानुभविना सर्वज्ञेन राजसंदेहनिरसन–पूर्वकेन भगवत्स्तेजीयस्त्वान्नदोष इत्युक्त्वाऽनीश्वरान्प्रति यथा

ही क्रीड़ा करने के लिए वाह्यविग्रह धारण किया है। गोपियों के पतिगणों ने श्रीकृष्ण के प्रति दोषारोपण नहीं किया है, कारण यह था कि उन सभी की पत्नियाँ उन सभी के ही निकट रही थीं। (भा० १०।३३––) अध्याय में श्रीशुकदेवजी के वाक्य उक्तरूप हैं।

अतएव यहाँ पर विचार प्रस्तुत करते हैं, जिस ग्रन्थ के वर्णन के अनन्तर श्रीमद्वेदव्यासजी के चित्त की ज्वाला शान्त हुई, उस शास्त्र के मध्यवर्त्ति अंश दशमस्कन्ध के रासपंचाध्यायी पंचप्राण की भाँति हैं, परम राजर्षि श्रीमत्परीक्षित के प्रश्नानुरूप महामुनि श्रीशुकदेवजी ने भ्रम के तुल्य प्रतीत राजा के सन्देह को निरास कर भगवान् तेजीयान् हैं, अतएव उनके लिए परदार गमन दोष नहीं हो सकता है, असमर्थ व्यक्ति यदि समर्थ व्यक्ति का आचरण करे तो जैसे विषपान से महादेवजी नीलकण्ठ हो गये, अपर व्यक्ति महादेवजी होने के लिए यदि विषपान करे तो उसकी मृत्यु हो जायेगी। अतएव भक्तवत् आचरण करे, श्रीकृष्णवत् आचरण न करे। विशेषकर भगवान् निरहंकार हैं, अतएव कुशल–अकुशल कर्माचरण से स्वयं पाप से लिप्त नहीं होते हैं, भगवान् सबके आश्रय हैं, जिनकी चरण–रज को मस्तक पर धारण कर सभी जन

रुद्रोऽब्धिजं विषमिति दृष्टांतेन भयं प्रदर्श्य पुनरपि निरहंकारि-मात्राणां कुशलाकुशलाचरणाभ्यामप्यर्थानर्थौ नस्तःकिमतु सर्व-जीवनिकायानामीशितुस्तयोरन्वयः, सम्बन्धोऽपीत्यभिधाय, यत्पादपंकज परागस्य नितरांसेवयातृप्ताभक्तियोगप्रभावेनैव खण्डिताखिलबन्धा जीवन्मुक्ताः स्वच्छन्दाचारिणो, नैव नह्यमाना स्तदाचरणैर्न बध्यमाना भवन्ति। तस्य स्वेच्छया प्रकटीकृततादृश लीलामयवपुषो बन्धासङ्कापि कुत इत्युक्त्वा गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनामन्तर्यामितया प्रवर्त्तकरूपेणस्थित एवाप्रकट-प्रकाशे गोकुलयुवराजतया तेषां पालकः सन् यो विहरति अधुनापि तथा कुर्वन्नेवास्ते स एष एव कृपया प्रकटो भूत्वात्राननुगृह्यतादृशीः क्रीडां करोति तथैव विराजते। या लीलाः श्रुत्वाऽवश्यमेव सर्व एव तदेकोपासको भवेदेवेति विहितः। तदन्यत्वेन कैश्चित्-कल्पनान्तरमापाद्य विपाद्यन्ते यद्यविद्यापदपतितास्ते निषिद्धाचारपराइत्यप्यनेनैव सूचितः सर्वान्ते तु तासामभिसारादौ

पवित्र हो जाते हैं, वे परम करुण भगवान् लोक-शिक्षा के लिए स्वयं अवतार लीला को प्रकट करते हैं, अतएव कर्मबन्ध होना उनके लिए सम्भव नहीं है और भी गोपीगण तथा उनके पतिगण एवं साधारण तन धारियों के आप ही अन्तर्यामी पति हैं, आपकी प्रेरणा से ही समस्त जन कार्य करते रहते हैं, वे परमात्मा गोकुल युवराज होकर अध्यक्ष रूप में क्रीड़ा करते हैं। पति, उपपति, पत्नी सब कुछ आप ही हैं। आप उस प्रकार लीला ही निज शक्तिरूपा प्रियावर्ग को लेकर करते हैं, जिसको श्रवण कर लौकिकजन धर्म, कर्म को त्यागकर उसी रीति से ही श्रीकृष्ण का भजन करते हैं। स्थूल दृष्टि सम्पन्न व्यक्तिगण इसमें कुछ अन्य प्रकार की कल्पना करते रहते हैं। योगमाया के द्वारा सब कुछ समाधान करके अन्य की पत्नियों को साथ में लेकर रासलीला करते हैं तथा पश्चात् में उन सभी गोपियों को भी निज पतिगृहों में वापस जाने के लिए श्रीकृष्ण ने जब कहा तो गोपियों ने मना कर दिया, पश्चात् पुनर्मिलन की प्रतिश्रुति मिलने पर गोपीगण रासलीला के पश्चात् लोक भय से वे सभी गोपियाँ रात्रि रहते-रहते

पत्यार्दानां योगमायया समाधानं व्याहृत्य यद्यपि ताः श्रीकृष्णं विहाय निजगृहमनाजिगमिषवस्तथापि ते नानुमोदिताः पुनरनया रीत्यैव मिलनस्या श्वासं प्रापिता सत्यः रात्र्यन्ते केवलं लोकभीत्यैव स्वस्व वासं शय्यानिलयं गतवत्यः एतावानेव सिद्धांतितः अभ्यासेनैषएव दृढ़ीकृतः नतु मतान्तरस्य लेशोऽप्युद्भावितः चेदितोप्यन्यथा किंचिद्भविष्यत् सर्वज्ञेन तेन कुतो नोत्थापयिष्यत। नच मतान्तरस्यात्यन्तगोप्यत्वात्तत् प्रकाशितवान् शुक इति स्वप्नेऽपि प्रलपनीयं महासभायां सर्वत्र विहितव्याहारस्यैव शास्त्रे लोकव्यवहारसिद्धत्वात्। न त्वविहितस्य प्रकृते तु पौनः पुण्येनैतस्यैव तेन विहितत्वात्। अतस्तादृशराजर्षिमहासदसि निषीदतां ब्रह्मर्षिदेवर्षिप्रभृतीनां श्रीन्नारदपर्शुरामवेदव्यासाद्यव-तराणां च समक्षं द्वयोः प्रश्नोत्तराभ्यां य एव निष्कर्षः परमोत्कर्षमवाप स एव सर्वार्वाचीनजीवानां जीवातुरिति विदुषां परामर्शः। तदन्यथाकल्पनायां श्रीमन्मुनीन्द्रस्य ब्रह्मरातस्यासर्वज्ञता। श्रीकृष्णस्य पापहारित्वेऽपि पापकारिता विदग्धमाधवादि प्रकाशकानामप्यविदग्धता इत्याद्या बहव एव दोषा आपतन्तीत्यलं तत् संलापेनेति संक्षेपः। किंचो ऽस्यामुज्ज्वलोपासनायां केचनार्वाचीनाः प्राचीनानां श्रीशुकदेववेदव्यास – पराशरादीनां

ही निज–निज गृहों में वापस आ गयीं। इस प्रकार परकीयात्व लीला ही वर्णित है, विवाहित पत्नी की लीला गोपांगना के साथ श्रीमद्भागवत में नहीं है। श्रीशुकदेवजी ने भी महासभा में पारकीय लीला की ही वर्णना की है, श्रीकृष्णलीला में यह ही विहित है। ब्रह्मर्षि, देवर्षि नारद, परशुराम, वेदव्यास प्रभृति के सम्मुख में यह परकीया लीला वर्णित हुई एवं समस्त प्राणियों के ये ही एकमात्र अवलम्बन हैं। श्रीचैतन्यदेव के अभिन्न अपर अन्य कोई भी आचार्य श्रीमद्भागवत प्रमाण के अनुसार ब्रजीय श्रीराधाकृष्ण के स्वरूप को नहीं मानते हैं, एकमात्र श्रीचैतन्यदेव एवं उनके अनुयायीगण ही श्रीमद्भागवत को स्वीकार कर श्रीमद्भागवत में वर्णित अलौकिक परकीया भाव की उपासना करते हैं एवं अपर समस्त जन विवाहित लीला ही मानते हैं। इस

विदग्धमाधवादिप्रकाशकानां च मतं विमतत्वेन मन्यमानाः केवलं स्वकल्पिताख्यायिकायां स्वकीयाख्यानं विख्याप्य निक्षिप्तानि सन्देह महोदधौ हृदयान्यपरिपक्वहृदयानां अतोऽत्रैवं विचार्य्यते। तत् किं तदाख्यातुः स्वाभिमतं उतान्यदीयहार्दतत्सौहार्द्रं ?

अथ परकीयात्वनिरूपणम्

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः॥

श्रीकृष्णंलीलापाथोधिनिमज्जितमनो–द्विपान्।
वन्दे तद्विपरीतांस्तु नैव विन्दतु मे मनः॥१॥
श्रीमज्जीवपदद्वन्द्वं वन्दे यैराशयो निजः।
लघुत्वमत्रेत्येतस्य व्याख्यान्ते ख्यापितः खलुः॥२॥

प्रकार श्रीकृष्ण के विषय में विरुद्ध धारणा होने पर श्रीकृष्ण के प्रति पापाचरण दोष होगा तथा श्रीरूपगोस्वामिपाद एवं परीक्षित, श्रीशुकदेव प्रभृति की अज्ञता भी होगी। कुछ व्यक्ति विवाहित लीला की कल्पना करके जनमानस को संदेहसागर में निमज्जित कर देते हैं। अतएव श्रीजीवगोस्वामिपाद ही इसके उद्‌भावक हैं, उनके लेख के द्वारा यह विचार करना आवश्यक है कि उनका वास्तविक निज मत क्या है ? तथा अन्य को प्रविष्ट कराने के लिए उनका लेख भी क्या है॥

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः॥

श्रीकृष्णलीलामृत समुद्र में जिनके मन हस्ती निमज्जित हैं, उनकी मैं वन्दना करता हूँ, इससे विपरीत मन वाले को मेरा मन ग्रहण न करे॥१॥

मैं श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद के श्रीचरण–कमलों की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने अपने अभिप्राय को श्रीउज्ज्वलनीलमणि के 'लघुत्वमत्रयत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत नायके, न कृष्णे रस निर्यास स्वादार्थमवतारिणि' इसकी व्याख्या में प्रकट किया है॥२॥ तथा

स यथा–स्वेच्छया लिखितं किंचित् किंचिदत्र परेच्छया।
'यत्पूर्वापरसंबद्धं तत्पूर्वमपरं परं' इति।
रागेणैवार्पितात्मानं, इत्यत्र व्याख्यया तथा।
पत्नीभावाभिमानात्मेत्यत्रापि च तथा तया।।
महाभावस्य सद्भावाभावयोर्हेतुयुक्तितः।
निश्चित्य लक्षणे तस्य विवृत्याभ्यासता मुहुः।।
रसस्य तु परीपाकः परमक्रमलीलया।
भवेद्व्यासशुकादीनामत्रैवावेशदर्शनात् ।।
विदग्धमाधवादीनां कर्त्तृणां चात्र निर्भरम्।
वर्णने चित्तसंरम्भात्तथाद्योपान्तमेव हि।।
अस्या निर्वहणादेवेत्युज्ज्वलस्य विवेचनम्।
समृद्धिमत आख्याने सप्तपत्रीलिपेः परम्।।

और भी आपने कहा है कि कुछ सन्दर्भ तो मैं निजेच्छा से भी लिख रहा हूँ और कुछ अन्य की आकांक्षा से, इसमें पूर्व लेख के साथ अर्थात् नित्य परकीया रूप सिद्धान्त के साथ जिसकी एकवाक्यता है उस लेख को तो निजेच्छा कृत समझना तथा जिस लेख में प्रकट में परकीया, अप्रकट में स्वकीया प्रतिपादन है उसको परेच्छा से लिखा हुआ समझना। कारण विवाह का अधिकार तो मर्त्यलोक में ही है। अप्रकट में एवं अपर लोक में विवाह बन्धन है ही नहीं, किन्तु विवाह को रसिकजन, विवाह शब्द से अति प्रसन्न होते हैं, जैसे कि यदि ब्रजीय श्रीराधाकृष्ण का विवाह वृद्धावस्था में ही क्यों न हो उसको भी सुनकर वे जन अति प्रसन्न होकर उनकी उपासना करेंगे।

परकीया लक्षण की व्याख्या में आपने सुस्पष्ट निज मत को स्पष्ट किया है, पत्नी भावाभिमानात्मा, इसकी व्याख्या भी आपने निज मत से ही की है, महाभाव का आधार एवं वह जहाँ पर नहीं है इसकी व्याख्या एवं पुनः–पुनः विवेचन आपने निज मत से किया है। रस परिपक्व निर्वचन भी आपने निज मत से किया है एवं परम क्रमलीला में ही रस परिपक्व का प्रदर्शन भी किया है, श्रीव्यासदेव, श्रीशुकदेव प्रभृति का आवेश भी

स्वांतस्य सर्वसंरम्भः सर्वान्ते दर्शितो यतः।
अतः परेच्छालिखने विचारः क्रियते मया।।
येन पूर्वापरालोके लोक्यते तद्विगीतता।।

अथ सोऽयं ग्रन्थकृन्महाकारुणिको रसिकमण्डलाखण्डलः श्रीकृष्णचैतन्यस्वयं भगवता हृदि प्रवर्त्तनापरवशतया स्वसुहृद्वर्ग–हृदयानन्दनाय विशेषतोऽर्वाचीनजगज्जनानामनायासेनैव वाङ्मनसयोः कृतार्थीभावभावनया च पूर्वस्मिन् ग्रन्थे संक्षेपतो वर्णितमपि श्रीकृष्णैकालंवनत्वेनैव शृंगाररसं विवृतवात्। तत्र तावन्नायक शिरोरत्नस्य यथा कथञ्चित् परिशीलयितुर्मनोनयनादेः समाकर्षकस्य श्रीकृष्णस्य मुख्यनायकत्वे धीरोदात्त–धीरललित–धीरशान्त धीरोद्धतैः सह पूर्णतम पूर्णतर–

उक्त क्रमलीला में ही है। विदग्धमाधव नाटक रचयिता श्रीरूपगोस्वामिपादजी की परम निर्भरता क्रमलीला में ही है तथा इसकी परिपाटी निर्वाह के लिए ही श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ का विवेचन हुआ है। समृद्धिमान् शृंगार का प्रदर्शन, सप्तपत्री का विवेचन एवं सर्वशेष में चित्त की विशेष लालसा भी दिखायी गयी है, उक्त प्रकरणों को देखकर ही श्रीजीवगोस्वामिचरण की उक्ति 'परेच्छया' लेखन में विचार करेंगे जिससे पूर्वापर ग्रन्थ की आलोचना होगी एवं परेच्छा प्रसूत लेखन की अयौक्तिकता स्थापित होगी।

श्रीकृष्णचैतन्यदेव की प्रेरणा से रसिकमण्डलाग्रणी महाकारुणिक श्रीरूपगोस्वामिचरण ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में मधुररस का संक्षेप में वर्णन किया, कारण वह रस–निवृत्यनुपयोगि, दुरूह एवं रहस्यपूर्ण है–इसका अधिकारी अति विरल है, किन्तु सुहृद्वर्ग को आनन्दित करने के लिए रसराज मधुर रस का वर्णन श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में विस्तृत रूप से किया है, इसमें श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं, निखिलनायक चूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र उनके चरित्रानुशीलनकारी के मनोनयन को आकर्षण करते हैं, आप मुख्य नायक हैं। धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त, धीरोद्धत के साथ पूर्णतम, पूर्णतर पूर्ण के गुणन से द्वादश भेद होता है, पति

पूर्णैस्त्रिभिर्गुणितैर्द्वादश। पत्युपपतिभ्यां गुणने चतुर्विंशतिः। पुनश्चानुकूलदक्षिणशठधृष्टै श्चतुर्भिर्गुणने षण्णवति प्रभेदाः निरूपिताः, निरूप्य च केषांचिद्वहि र्मुखानांकदाचिदत्र दोषदृष्टिरुत्पद्येतेति परमोत्कर्षो रसस्यात्रैवौपपत्य एव नतु पत्याविति भरतवचने दृढ़ीकृतः धीरोदात्तादयो द्वादशामृतसिंधाबुदाहृताः॥

'रुक्मिण युधि विजित्येत्यादिना रुक्मिण्यादीनां पतिरिति पतिरुदाहृतः। कात्यायनि महामायेत्यादिना तास्वेव कीयतीनांतु पतिभावो हरावभूदिति दुर्गाव्रतपरासु पतिभाववतीनां कासाञ्चिदपि तथात्वे गौणतया दर्शितः। अन्ये च शतधृष्टाद्या'

एवं उपपति भेद से चतुर्विंशति होते हैं। अनुकूल दक्षिण शठधृष्ट के साथ गुणन से षण्णवति ९६ भेद होते हैं, ब्रजभक्ति वहिर्मुख सर्वसाधारण की बुद्धिवेद्य नहीं है, यह अनुपम निवृत्तिमार्ग है, अतएव रस का चरमोत्कर्ष उपपति में स्थापन किया है, किन्तु पति में नहीं, उपपति लाक्षणिक है, नायिका जब नायक को अनुराग द्वारा समस्त को त्यागकर वरण करती है एवं नायक भी नायिका को उसी प्रकार अनुराग द्वारा ग्रहण करता है तो उपपति भाव होता है, प्रेममयी तृष्णा को अनुराग कहते हैं, विप्राग्नि साक्षी करके विधि–विधान द्वारा कन्या का पाणिग्रहण करने वाले को ही पति कहा जाता है।

परकीया में प्रेम का नित्य सम्बन्ध है, स्वकीया में सामाजिक अनुष्ठानिक अनित्य सम्बन्ध होता है। ब्रजीय यह अलौकिक परकीया भाव का प्रतिपादन श्रीभरतमुनि के मत से हुआ है तथा श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में उसके अनुसार नायकभेद को प्रदर्शित किया गया है, यहाँ पर रुक्मिणी के साथ पति सम्बन्ध का उदाहरण है, ब्रज में श्रीकात्यायनि व्रत परायणा का पतिभाव श्रीकृष्ण के प्रति था, किन्तु गौण पतिभाव है, विधिपूर्वक पाणिग्रहण–संस्कार की सम्भावना नहीं रही, उसके पूर्व ही मिलन हो गया है, अन्य शतधृष्ट प्रभृति में परकीया का उदाहरण प्रसिद्ध

अप्युदाहृता:। ततश्च नायिकानां कन्या-स्वकीया-परकीया भेदतस्तिसृणां मध्ये स्वकीयापरकीययो र्मध्या-मुग्धा-प्रगल्भा इतिभेदै: षट्पुनश्च धीरा अधीरा-अधीराधीराभिर्द्वादश। कन्या केवलं मुग्धाथस्वीया परोढ़ा चेति त्रिधा इति पंचदश प्रभेदा:। पुन-रभिसारिकेत्याद्यवस्थाष्टकेन विंशत्युत्तरं शतं। अग्रतउत्तममध्यमकनिण्ठा इति त्रिविधै: षष्ठ्युत्तरशतत्रयी नायिकाभेदानामिति निर्णीय स्वीयोदाहरणं मुख्यतया रुक्मिण्यादिषु गौणतया दुर्गाव्रतपरासु कासुचित्कन्यास्वपि दर्शितं। परकीयोदाहृतिर्ब्रजे श्रीराधिकादिषु धन्यादिष्वपि दर्शिता ततश्च नीरसानां निरसनाय 'बहु वार्य्यते यत: खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं

है। अत: नायिका के भेद इस प्रकार से ३६० हैं, प्रथम कन्या, स्वकीया, परकीया है, स्वकीया-परकीया में मध्यामुग्धा प्रगल्भा भेद से ६, धीरा-अधीरा-अधोरा-धीरा के द्वारा १२, कन्या मात्र मुग्धा, स्वीया परोढ़ा भेद को लेकर १५ भेद हैं। अभिसारिका प्रभृति आठ अवस्था को लेकर १२० हैं, उत्तम, मध्यम, कनिष्ठा भेद से ३६० हैं, मुख्य स्वीया का उदाहरण पाणिग्रहण विधि प्राप्ता रुक्मिणी है, गौण स्वीया दुर्गाव्रत परायणा कन्यका है, ब्रज में परकीया का उदाहरण श्रीराधा धन्या प्रभृति में प्रदर्शित किया है।

नीरस व्यक्तियों के निरसन हेतु श्रीभरतमुनि की सम्मति परकीया में दिखाते हैं, जहाँ पर बहुबाधा मिलन के लिए होती है, प्रच्छन्न कामुकता भी है, परस्पर मिलन की अति दुर्लभता भी होती है, वहाँ पर ही कन्दर्प की चरम प्रीति होती है, रुद्र की सम्मति भी उसमें है, वामता, दुर्लभता प्रभृति की सामाजिक बाधा, कन्दर्प का परम आयुध है, निषेध विशेष, सुदुर्लभता भी नायिका के सम्बन्ध में होती है, वहाँ पर ही नागर विशेष आकृष्ट होता है, स्वकीया तो स्वरोदी हुई दासी होती है, वह अनन्य शरण होकर क्रीतदासी पद्धति को निभाती है, वह वस्तु वितिमय से क्रय की जाती है, उसमें प्रेम अनुराग नहीं होता है, मात्र द्रव्य विनिमयता का ही प्राधान्य स्वकीया में है, परकीया में मात्र ममता का

च। याच मिथोदुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिरिति भरतमुनि सम्मत्या 'वामता दुर्ल्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा तदेव पंचवाणस्य मन्ये परममायुधमिति' रुद्रसम्मत्या, यत्र 'निषेध विशेषः सुदुर्ल्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणां। तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयमिति' संहितासम्मत्या 'अनन्यशरणा स्वीया पणहार्य्या पणांगणा। अस्यास्तु केवलप्रेम तेनैषा रागिणी मतेति' शृंगारतिलोकसम्मत्या च परोढ़ोपत्योरेव सकल सहृदयसाक्षिको रसनिर्य्यासास्वादो दृश्यते ततश्च तयोरेव नायकोत्तमत्वमेव निर्द्धारितं। तत्राप्यर्वाचीनसाहित्यदर्पणकारादिभिर्यदत्र दोषा आसज्यते तत्र कारणमधर्म स्पर्श एव तत्परिहारार्थमाह लघुत्वमिति अत्रोपपतौ केश्चिद् यल्लघुत्वमुक्तं एतत्प्राकृतनायक एव, तत्रैवौपपत्यस्य वैधर्मात्। तस्य च दुरदृष्टजनकत्वात्तस्य च

प्राधान्य है, अतएव यहाँ पर अनुराग का ही प्राधान्य है, अत: शृंगारतिलक्कार के मत में परोढ़ा एवं उपपति में ही आस्वादनाधिक्य है, अतएव सहृदय व्यक्तिगण परोढ़ोपपति में ही उत्तम पात्रत्व का निर्धारण करते हैं।

साहित्यदर्पणकार प्रभृति अर्वाचीन कविगण उसमें दोष प्रदर्शन करते हैं, कहते हैं–शास्त्र मर्यादालंघन से पाप होता है, इस कथन का समाधान करने के लिए कहते हैं, उपपति में परोढ़ा तथा परोढ़ा में लघुत्व प्रदर्शन उचित है, किन्तु यह प्राकृत नायक के सम्बन्ध में है, औपपत्य वहाँ पर ही दूषणीय है, उसके अनुशीलन से पाप एवं नरक गमन अनादर्शवाद भी होगा, इससे सामाजिक सहृदय व्यक्तिगण विमुख रहेंगे।

किन्तु श्रीकृष्ण के लिए एवं ब्रजांगनाओं के लिए दूषण नहीं है, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं तथा गोपीगण उनकी स्वरूपशक्ति हैं। प्रीति का सम्पर्क प्रदर्शित करने के लिए निज स्वरूपशक्ति को प्रिया बनाकर स्वयं उपपति एवं पति बनकर नाटक क्रीड़ा करते है, उद्देश्य रहता है लोक–श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण सम्पर्कित विश्व के साथ गोपिका की भाँति प्रेम का व्यवहार करे। श्रीकृष्ण को धर्माधर्म,

नरकपातित्वात्पर्य्यवसाने दुःखमात्रोपादानत्वेन लघुत्वम्। तथा तच्चेष्टितस्य काव्यनाट्यगतत्वेनोपादेयतया स्वादेन 'यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् इतिन्यायाच्चर्वणदशायां सभ्यानामपि तादृूप्यापत्तेश्च विधर्मस्पर्शात्। न तु कृष्णे धर्माधर्म नियन्तृचूड़ामणीन्द्रे धर्मान्धर्मादि समस्तवस्तु सृष्टिस्थितिसंहारकारकभ्रूविजृंभमात्रस्यादिपुरुषस्याप्यंशिनि स्वयं भगवति श्रीलीलापुरुषोत्तमे नरवपुषि। तथैव तदीय शक्तिसमुदायमुख्यतमायां ह्लादिनीमहाशक्तौ श्रीगोपिकारूपायां च न संभवेदेव। तदा तच्चरितास्वादकानामपि 'विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिति' 'तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लव' इति 'तदेवसत्यं तदुहैव मंगलमित्यादिभिः' सर्वोत्तमत्वमहाफलश्रवणाच्च। प्रत्युततत्रैव नायकोत्तमत्वं प्रसंजितमिति। अतएव ग्रन्थकृतैव नाटकचन्द्रिकायां 'यत्परोढ़ोपपत्योस्तु गौणत्वं कथितं बुधैः। तत्तु गोपीश्च कृष्णं च विनेति प्रतिपद्यताम्' अलंकारकौस्तुभकृद्भिरपि अप्राकृते परोढ़ारमणी रतिरेव सर्वोत्तम तया भूयसी श्रूयते।

अदृष्ट कर्म, समाज-बन्धन स्पर्श नहीं करता है, वह स्वराट् हैं, उनके भय से सभी भीत होते हैं, वह परम करुण लीला पुरुषोत्तम निज शक्ति के साथ व्यवहार करते हैं।

उनकी जितनी शक्ति है, उनमें मुख्यतमाशक्ति ह्लादिनी है, उनको महाशक्ति कही जाती है। श्रीराधिका तथा गोपिकागण महाशक्ति स्वरूपिणी हैं, उनमें परोढ़ा एवं औपपत्य दोषावह नहीं है, यह सब सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ ही होता है। शक्तितत्त्व के परमाश्रय शक्तिमत् तत्त्व श्रीकृष्ण हैं तथा समस्त शक्ति का उत्स भी श्रीकृष्ण ही हैं एवं उनके चरित्र आस्वादनकारी व्यक्तिगण भी पाप लिप्त नहीं होंगे, किन्तु सर्वोत्तम फल से विभूषित होंगे। वास्तविक पक्ष में नायकोत्तमत्व का लक्षण श्रीकृष्ण में पर्यवसित हुआ है। अतएव श्रीरूपगोस्वामिपाद ने नाटकचन्द्रिका ग्रन्थ में लिखा है कि-बुधगण परोढ़ीपपतित्व को गौण कहते हैं, वह कथन प्राकृत नायक-नायिका के पक्ष में है, किन्तु गोपी एवं श्रीकृष्ण के

न तस्यामनौचित्यप्रवर्तितत्वं अलौकिकं तु सिद्धे भूषणमिति न्यायात्। तर्कागोचरत्वाच्च। तस्मान्न कृष्णेऽयं दोषः किमर्थं नोक्तं रसनिर्य्यासास्वादनार्थं तेषां सभ्यतया तद्विषयक एव स्वकर्त्तृको रसनिर्य्यासास्वादस्तदर्थं। यदि कृष्णेऽपि तै र्लघुत्व मुक्तं स्यात्तर्हि तेषां रसनिर्य्यासास्वादो निर्विषय एव स्यादितिभावः।

यद्वा कथंमूते रसनिर्य्यासास्वादार्थं ह्ययं च लोकगत–स्वभक्तजनान् रसनिर्य्यासमास्वादयितुमवतारिणि 'स्वदेश्चौरादिकाद्धेतुसणंताद्व्चभः' तस्य तु स्वकर्त्तृको रसनिर्य्यासास्वादः प्रकटलीलायामअप्रकटलीलायां च सदैव वर्त्तत एव। ता एव जन्मादिलीलाः प्रपंचजनेषु कृपया दर्शिताश्चेत् प्रकटास्ता एव चक्षुर्भिस्तिरोधापिताश्चेदप्रकटा उच्यते न तु प्रकटाप्रकटयो लीलयोः स्वरूपतः किंचिद्वैलक्षण्यमस्तीति।

लिए प्रयोज्य नहीं है, अलंकारकौस्तुभकार श्रीकर्णपूर गोस्वामीजी ने कहा है कि–अप्राकृत में परोढ़ा रमणी की रति ही सर्वोत्तम है, उसमें अनौचित्य दोष हो नहीं सकता है। अलौकिकता ही वस्तु सिद्धि के लिए भूषण है, अलौकिक वस्तु प्राकृत तर्क का विषय नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण में दोष की सम्भावना ही नहीं है। कारण स्वयं रसनिर्यास का आस्वादन कर भक्तजनों को आस्वादन कराने के लिए स्वयं निज जन के साथ अवत्तीर्ण होते हैं। रसास्वादन के कर्त्ता स्वयं हैं एवं परिकर सामग्री भी स्वयं ही हैं, यदि पण्डितगण श्रीकृष्ण में लघुत्व का आरोप करेंगे तो रसास्वादन का स्थल ही नहीं रहेगा॥

अथवा रसनिर्यास आस्वादन हेतु प्रपंचान्तर्गत भक्तजनों को आस्वादन कराने के लिए (स्वदधातु चौरादिक) रूप में प्रकट अप्रकट उभय लीला में ही समान रूप से है और यह नित्य है, उस जन्मादि लीला को यदि लोकों को दिखाते हैं तो प्रकट होता है एवं नहीं दिखाते हैं तो अप्रकट होता है। प्रकट एवं अप्रकट लीला में स्वरूपगत कुछ विलक्षणता नहीं है। श्रीलघुभागवतामृत

यदुक्त श्रीलघुभागवतामृते–'अनादिमेव जन्मादिलीलामेष तथाद्भुतां। हेतुना केनचित् कृष्णः प्रादुष्कुर्य्यात्कदाचन' इति। तथा च श्रीवैष्णवतोषण्यामपि दन्तवक्रबधानन्तरं 'रामेण सार्द्ध मथुरां प्रणीते' इति 'तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेनेत्यादिना' 'यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये' इत्यन्तेन व्याख्यानेन। तद्यथा अत्र विगाढ़भावेन तीव्राधयः सत्यो मनोऽन्यं सख्यादिकमपि न सुखाय ददृशुः ततश्चाधुना तु सुखाय पश्यंतीति वियोगो नास्तीत्यर्थः। हे उद्धव ! भवद्द्वारा तासु सन्देशानुसारेण श्रीवृन्दावनस्यैवाप्रकट–प्रकाशविशेषप्रवेशात्तासां नित्यं मत्प्राप्तेरितिभावः ननु पूर्वोक्तानुसारेण गोलोकाख्ये श्रीवृन्दावनस्य प्रकाशविशेष तस्मिन्नस्ति प्रकटलीला सदृश्येवाप्रकटलीला। तर्हि कथमुभयोरेकत्र समावेशः उच्यते प्रकटलीलायाः अप्रकटप्रकाशस्य चाभेदेनैवाप्रकट–

में श्रीसनातनगोस्वामिपाद ने कहा है, जन्मादि लीला समूह अनादि एवं नित्य हैं, कभी उसको लोक नयनगोचर कराते हैं, वैष्णवतोषणी में 'रामेण सार्ध मथुरां प्रणीते। तास्ताक्षपाः प्रेष्ठतमेन नीताः, यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये' इसकी व्याख्या में उक्त है, वह इस प्रकार है–विशेष गूढ़भाव से विरह होने पर तीव्र मानसी व्यथा होती है, तब मुझको छोड़कर सख्यादि सुख प्राप्त नहीं हुआ। सम्प्रति वियोग नहीं है, अतः दुःख भी नहीं है। हे उद्धव ! तुमसे सन्देश भेजने के पश्चात् श्रीवृन्दावन के अप्रकट प्रकाश में उन सभी को आवेश हो गया तथा उन्हें मेरी प्राप्ति नित्य रूप से हुई।

पूर्व कथन के अनुसार श्रीवृन्दावन का प्रकाश विशेष ही गोलोक में प्रकट लीला के तुल्य अप्रकट लीला है। तब प्रकट–अप्रकट लीला का एकत्र समावेश कैसे होगा ? प्रकट लीला एवं अप्रकट प्रकाश को अभेद रूप से स्वीकार कर समाधान होता है, इसके पश्चात् के पद्य से विवरण सुस्पष्ट होता है।

'ता नाविद् मय्यनुरक्त बद्धधियः, स्वमात्मान मदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितीये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे।।'

इसका अर्थ इस प्रकार है–विरह से अतिशय उत्कण्ठा होने से दुर्धर

लीलाप्रकाशौ प्रतिपन्नाविति दृश्यते तदनन्तरपद्येन 'ता नाविदन् मय्यनुरक्तविद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्। यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे।' अस्यार्थः तास्तथाभूता विरहोत्कण्ठातिशयेनाभिव्यक्तदुर्द्धरमहाभावाः सत्यः। अथ कदाचित् तद्दर्शनार्थं गते मयि लब्धे योऽनुषंगो महामोदनाख्य–व्यक्तिकारी पुनः–पुनः संयोगस्तेन बद्धा धीर्यासां तासां तथा भूताः सत्यः, स्वं ममतास्पदं आत्मानमहंकारास्पदं च अदः प्रकटलीलानुगतत्वेनाभिमतं यथा स्यात्तथानाविदन् किन्तु द्वयोरैक्येनैवाविदुरित्यर्थः। प्रकटप्रकाशस्य तल्लीलायाश्चाभेदेनैवा–प्रकटनद्धयमजानन्निति विवक्षितम्। ततश्च नाम–रूपं च तस्मिन्स्तन्नामरूपात्मनि प्रकटप्रकाशविशेषप्रविष्टा इव न तु प्रविष्टा वस्त्वभेदादित्यर्थः। तत्र प्रकटाप्रकटलीलागतयोर्नाम–रूपयोरभेदे दृष्टान्तः–यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये इत्यादि श्रीकृष्णसन्दर्भे अष्टपंचादशधिकशततमे वाक्ये–अयं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं वहिरित्यादि द्वाभ्यां। यथाऽहंकारो भूतादिः सर्वेषां भूतानां खादीनामाद्यन्तादिरूपः।

महाभाव का प्रकाश गोपियों में हुआ था, जब कदाचित् उन सबके दर्शन के लिए मैं जाता तो मेरे साथ भेंट भी होती तथा महामोदनाख्य महाभाव प्रकटकारी पुनः–पुनः संयोग भी होता, तब प्रकट–अप्रकट दोनों भेदों को विस्मित कर वे सभी तन्मय भी हो जातीं। संयोग विरहगत लीला द्वय का अनुसन्धान उन सबमें था ही नहीं, यह ही कहने का अभिप्राय है, उसके पश्चात् नाम एवं रूपात्मक प्रकट प्रकाश में प्रविष्ट होने की भाँति प्रतीति हुई (प्रकट एवं अप्रकट लीला, परिकर स्थल प्रभृति अभिन्न वस्तु होने के कारण प्रवेश की सम्भावना ही नहीं है, प्रकट एवं अप्रकटगत नाम–रूप जो अभिन्न हैं उसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, जिस प्रकार मुनिगण समाधि अवस्था में वाह्य के पदार्थों को विस्मित कर ध्येय में बुद्धि को लीन करते हैं, जिस प्रकार समस्त नदियाँ निज नाम रूप को छोड़कर समुद्र में लय हो जाती हैं, यह सब

अहंकारान्तर्गतान्येव खादीनीत्यर्थः। यथा च खादिनी भूतानि भौतिकानां शराबसैन्धवादीनामाद्यन्तादिरूपाणि, खादीनामन्तर्गतान्येव तानीत्यर्थः। एवं एतानि प्रकटलीलागतेषु परमार्थसत्यवस्तुषु वर्त्तन्ते युष्माकं प्रकटलीलाभिमान्य-हंतास्पदमात्मानं अप्रकटलीलाभिमान्यहंतास्पेदेनात्मना ततो व्याप्तः। एवमिदंताहंतास्पदं यदुभयं तच्च पुनः परे प्रकटं अदृश्यमानेऽपि तस्यां वृन्दाटव्यां विहरमाणेऽक्षरे नित्यमेव युष्मत्संगिनि मयि आश्रयरूपे आ भाति विराजमानं पश्यतेति। तस्मात् प्रकाशभेदादेव तद्वस्त्वादि भेदव्यपदेशोविरह-संयोगव्यवस्था चेति इदमत्रापि व्यक्तमितिदिक्। तस्मादस्माद् वृन्दावनादप्रकटप्रकाशस्य सर्वात्मत्वैकरूप्ये सत्येव तेषां ब्रजवासिनां तत्र वासः संभवेदिति यथारीत्या प्रकटे श्रीकृष्णस्य तत् पित्रादीनामन्येषां सपरिवाराणां गोपादीनां च यत्प्रकारकस्थानं तथैवाप्रकटप्रकाशेऽपीति प्रकरणार्थः सिद्धः।

श्रीकृष्णसन्दर्भ में वर्णित है, जैसे प्रकृति, महान् अहंकार, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत इसमें अहंकार भूतादि हैं एवं उसके आदि अन्त में भी रहते हैं और अहंकार के अन्तर्गत ही आकाशादि हैं, जिस प्रकार आकाशादि घटादि रूप में प्रकट होकर भी पंचभूतात्मक ही है, इस प्रकार प्रकट लीलागत वस्तु, नाम, रूप, लीला, परिकरस्थल प्रभृति नित्य हैं, प्रकट लीलागत अभिमान एवं अप्रकट लीलागत अभिमान भी अभेद होकर रहते हैं, इस प्रकार इदंतास्पद एवं अहंतास्पद दोनों स्वरूप अदृश्य रूप से श्रीवृन्दावन में मेरे साथ अभिन्न भाव से रहते हैं, कारण मैं ही आश्रय हूँ और मेरे साथ में तुम सबके नित्य संयोग हैं। अतएव प्रकाश भेद को मानकर ही वस्तु आदि का भेद कथन तथा विरह संयोग व्यवस्था भी है। अतएव दृश्यमान् श्रीवृन्दावन के साथ अप्रकट प्रकाशगत श्रीवृन्दावन का एक रूप होने से ही ब्रजवासियों का वहाँ पर रहना सम्भव होगा, इससे यथारीति श्रीकृष्ण के माता-पिता तथा सपरिवार एवं गोपगण सब ही प्रकट में जिस प्रकार जहाँ पर रहते हैं, अप्रकट में भी ठीक उसी प्रकार से ही रहते हैं, प्रकरण का अर्थ इस प्रकार ही है।

लघुत्वमत्रेत्यत्र केचनैवं व्याचक्षते। तद् यथा तत्राशंक्य समादधाति लघुत्वमिति–पद्येन अत्र चाशंकानुवादो लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तमिति। अयमर्थः ननु 'शृंगोहि मन्मथोद्भेद–स्तदागमनहेतुकः उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते।' इत्यनर्वाचीननिरुक्तानुत्तमप्रकृतिप्राये इत्युक्तेरुज्ज्वलशुचिपर्य्यायेरसेऽस्मिन्नधर्म्ममयमौपपत्यमङ्गीत्वाय नोचितं। जारः पापपतिः समाविति त्रिकाण्डशेषादि दर्शनेन नाम्नोऽपि तस्य निन्दागर्भमेव लभ्यते। नाट्यालंकार शास्त्रयोस्तु तस्य न्यक्कार एव श्रूयते यदुक्तं तन्मतं संगृह्य साहित्यदर्पणे–उपनायकसंस्थायामित्याद्येन शृंगारे–ऽनौचित्यमित्यंतेन च। यत्तु कुत्राप्यौपपत्यवर्णनं दृश्यते तत्खलु नेष्टा यदङ्गिनिरसे इति दर्शयिष्यमाणवृद्धमतप्रामाण्येनांगिनि रसे तु न स्यात् किंतु अंगे रसे सोपहासमेवेति गम्यते। तत्पक्षं पुष्णता श्रीभगवता च 'अस्वर्ग्य मयशस्यं च फल्गुकृच्छ्रं भयावहं।

नायक लक्षण में उपपति को 'लघु' शब्द से कुछ पण्डितगण कहते हैं, उसमें सन्देह को लेकर समाधान करते हैं। पद्य में आशंका का अनुवाद है, लघु शब्द से जो कहा गया है, इसका अर्थ इस प्रकार है, शृंग उत्तम मन्मथ सूचक है, इसमें उत्तम प्रकृति का नायक होना आवश्यक है, तब ही रस होता है, उत्तम प्रकृति में जो रस होता है, उसे शृंगार कहते हैं, अतएव अनुत्तम प्रकृति में शृंगार शुचि उज्ज्वल रस में उपपतित्व को अंगीरूप से स्थापन करना अनुचित है, कोष में जार को पापपति कहा गया है, नाम से ही उपपति शब्द घृणित होता है, नाट्यालंकार शास्त्र में उसकी निन्दा की गयी है, अतएव साहित्यदर्पणकार ने तो शब्द से ही उपपति का विरोध किया है। कहीं–कहीं पर उपपति का वर्णन आता है, अंगीरस में प्रयुक्त नहीं होता है, किन्तु अंगरस में उपहास के लिए प्रयोग होता है, श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है–सुख, कीर्त्तिनाशक, तुच्छ, क्लेशकर, भयद औपपत्य है, कुलस्त्रियों के लिए सर्वत्र औपपत्य निन्दनीय है, ब्रजदेवियों ने भी कहा है–गणिका निःस्व व्यक्ति को छोड़ देती है, जार तो सम्भोग के पश्चात्

'जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्योपपत्यं कुलस्त्रीया' इत्यनेन जुगुप्सितपर्य्यन्तदोषा उक्ताः श्रीब्रजदेवीभिरिपि 'निःस्वं त्यजन्ति गणिका जारा भुक्ता रतां स्त्रिय', इत्यनेन तथैवानुमतं श्रीपरीक्षितापीत्येवमेवाक्षिप्तम्। 'आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितमिति तदेवमत्र लघुत्वं जुगुप्सितत्वमिति यावद्व्याख्येयं। अतो मुनिनापि रत्नावलीनाटिकावद् यजातिचरितवच्च दाम्पत्य एव सपत्न्यादिकृतवार्य्यमाणत्वादिना दाम्पत्य एव रतिः प्रशस्ता स्यादित्येवमतं। नचौपपत्ये प्रशस्ता स्यादिति। तर्हि कथं तद्वाक्येनौपपत्यरतिः प्रशस्यते तत्र समाधानं तत्तु प्राकृतनायके कृष्णादवरन्नायके इत्यर्थः कृष्णे त्वलघुत्वे हेतोः रसनिर्य्यासेति। रसनिर्य्यासो रससारः मधुररसविशेष इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति अत्रावतारसमय एव औपपत्यरतिः प्रत्यायिता तदेतद्दर्शके प्राचां मतेऽप्याशंसया रसविधेरवतारितानामिति तस्यैव तासामपि तदर्थं रसास्वादार्थमेवावतार इति निर्देक्ष्यते। तस्य तासां

स्त्री को छोड़ देता है। परीक्षित ने भी आपेक्ष कर कहा कि यदुपति ने आप्तकाम होकर घृणित कार्य किया है, अतः लघुत्व एवं जुगुप्सितत्व समान रूप से उपपति में है। अतएव रत्नावली नाटिका के समान एवं ययाति चरित की भाँति दाम्पत्य में सपत्नी आदि से बाधा होती है, अतएव दाम्पत्य में ही रस है, औपपत्य में रस नहीं होता है, तब क्यों उपपति में रस का उत्कर्ष स्थापन करते हैं ? उसका समाधान–दोष प्राकृत नायक में है, श्रीकृष्ण से भिन्न सभी नायकों में उपपति दोषावह होगा, श्रीकृष्ण में लघुत्व, जुगुप्सितत्व दोष नहीं होगा, कारण इस परिपाटी का अध्ययन कराने के लिए ही श्रीकृष्ण ने निज प्रियावर्ग को प्रपंच में प्रकट किया है, इस पर कोई भी दोष नहीं है, उत्तम शृंगाररस अनुराग से ही होता है, किसी के माध्यम से नहीं।

श्रीमद्उद्धव के वाक्य से एवं ब्रह्मसंहिता के वाक्य से श्रीकृष्ण के साथ नित्य सम्बन्ध की प्रतीति होती है, इससे परकीयात्व नहीं हो सकता है। अवतारकाल में औपपत्य की प्रतीति मायिकी

चेत्याद्यनन्तरं तदेवं श्रीमद्उद्धववाक्ये ब्रह्मसंहितावाक्ये च तेन तासां नित्यसम्बन्धापत्तेः परकीयात्वं न संगच्छते। तदसंगतेश्चावतारे तथात्वप्रतीतिमायिक्येव तथा च स्वयमेव ललितमाधवे दर्शितं पौर्णमासीगार्ग्याः संवादे 'गार्गी–नूनं गो–अड्ढणादि गो एहिं चंदाअलीपहुदीणं उद्वहो मा आ एणिव्वाहिदो। पोर्ण:–अथ किं पतिम्मन्यानां बल्लवानां ममता–मात्रावशेषिता तासु दारता यदेभिः प्रेक्षणमपि तासां सुदुर्धटमिति।' तदेव कृष्णेन तासां दाम्पत्ये सत्ये सति परकीयात्वे च मायिके सति नश्यत्येवान्ततो मायिकमंत्रतस्त्वनाशेऽनादित्वे च सति सत्यमेव स्यात्तद्रूपत्वे च सति रसाभासः स्यादित्यतोऽवतारसमयस्यापरभागे व्यक्ती भवत्येव दाम्पत्यं। स एष पर्य्यवसानसिद्धान्तश्च ललितमाधव प्रक्रिययात्र निर्वाहयिष्यति। यतो बहुवर्णितविरहव्यावर्त्तनाय नित्यसंयोगमय–

है। ललितमाधवीय पौर्णमासी गार्गी के संवाद से ज्ञात होता है कि यह सभी मायिक है, पतिम्मन्य गोपगण के साथ ममतासात्र सम्बन्ध ही रहा, पत्नीबुद्धि से अपनी पत्नी को आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे। अतएव श्रीकृष्ण के साथ ही उन सभी का दाम्पत्य रहा, परकीया सम्बन्ध तो मायिक है, मायिक सम्बन्ध तो नष्ट होता है, मायिक मन्त्र अविनाशी अनादि होने से रसाभास ही होगा, अतः प्रकट लीला के पश्चात् अप्रकट लीला में दाम्पत्य का ही प्रकाश होगा, वह सिद्धान्त स्थिर सिद्धान्त होने से ही ललितमाधवकार ने उस रीति को अपनाया है और भी बहुवर्णित विरह को शान्त करने के लिए नित्य संयोग दिखाना आवश्यक हुआ। क्रमलीलारस की पुष्टि भी नहीं होगी, अतः संक्षिप्तादि चार शृंगार के भेद से विरह के पश्चात् बाधाहीन समृद्धिमान् शृंगार के लिए विवाह का उदाहरण ही उचित होगा, इसको आगे प्रमाणित करेंगे, किन्तु श्रीकृष्ण में लघुत्व स्थापन नहीं हुआ, महत्व स्थापन ही हुआ। इसलिए कहा गया कि श्रीकृष्ण में दोषावह नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण ने पूर्व उपपति रूप में पश्चात् पति होकर रसनिर्यास

सिद्धान्तमुक्त्वापि क्रमलीलारसस्तु तत्र न सिध्यति इति अपरितुष्य संक्षिप्तादिचतुर्षु फलरूपेण विप्रलम्भान्तराऽप्रतिघात्यस्य समृद्धिमत उद्वाह पर्य्याप्तस्योदाहरणरूपतया प्रमाणी करिष्यते इत्यादि। किं तु न लघुत्वमुक्तं किं तु महत्वमेवेत्याह। न कृष्णे इति तत्र हेतुमाह–रसनिर्यासेति। अत्रोच्यते यद्ग्रन्थकृतां परढ़ोपपत्योर्निर्द्दोषत्वे प्रत्युतरसावहत्वे च दर्शित प्रमाणेषु केवलसाहित्यदर्पणीयमतमाश्रित्याप्रामाण्यमभिव्यज्य पापाद्याशंकया एव रसाभासत्वमंगीकृत्यान्यथा कल्पते तदसंगतमेव। श्रीमद्ग्रन्थकृद्भि र्भरतादीनां मतमाश्रयद्भिः साहित्यदर्पणीयमतस्य परित्यक्तवान् तथा च तदीय प्रतिज्ञावचनं नाटकचन्द्रिकायां नातीवसंगतत्वाद्भरतमुनेर्मतविरोधाच्च। साहित्यदर्पणीया न गृहीता प्रक्रियाप्राय' इति।

ननु सर्व एव ग्रंथस्तल्लिखित एव, अस्माकं तु पापावहत्वाद् यथा कथञ्चित्तदूषण एव पुरुषार्थ इतिचेत् तर्हि श्रीकृष्णेन बाल्ये पूतनायाः हननं, पौगण्डे वत्सस्य, कैशोरे वृषस्य, देवकीभ्रातृणां स्वमातुलानां शिशुपालदन्तवक्रयोः पैतृस्वस्रेययोरपि

का आस्वादन किया है, यह ही है श्रीजीवगोस्वामिपाद की युक्ति, इस पर कहना है कि–आपने तो साहित्यदर्पणकार के मत को लेकर ही उपपति शब्द में दोषारोपण किया है और श्रीकृष्ण को विधि–विधान से आनुष्ठानिक पति बनाया है क्योंकि श्रीकृष्ण में पापाशंका भी होगी और रसाभास भी होगा, किन्तु ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामिपाद ने तो भरतमुनि के मत को अपनाकर साहित्यदर्पणकार के मत को अस्वीकार ही किया है, उन्होंने नाटकचन्द्रिका में स्वयं ही कहा है, अत्यन्त असंगत होने से एवं भरतमुनि के मत के साथ विरोध होने से ही साहित्यदर्पणीया प्रक्रिया ग्रहणयोग्या नहीं है॥

उचित है, ग्रन्थकार का लेख, किन्तु उपपति शब्द पाप का सूचक होने से ही हम उसका वहिष्कार करते हैं, ऐसा यदि कहो तो श्रीकृष्ण के समस्त चरित्र ही पापावह हैं, बाल्यकाल में ही उन्होंने

च श्रीभागवतशास्त्रप्रसिद्धमेव। भारते च मिथ्याभाषण-युधिष्ठिरपक्षपातसर्वदा छलाश्रयित्वद्रोणाचार्यबधकारित्व-स्वप्रतिज्ञात्यागित्वादिश्रूयमाणानि दोषमयान्येव पापदायिनीति सिद्ध्यन्ति तत्कर्म्माणि। न च तेषां पूतनादीनामसुरत्वे तत्तद्धननं न दोषावहं किन्तु लोकहितार्थं गोब्राह्मणबालकादीनां रक्षणाय भक्तवात्सल्यत्वेन च गुणावहमितिवाच्यं वृषासुरबधे इन्द्रस्य सर्व्वैर्देवर्षिभिः प्रोत्साहितस्यापि महाविपत्तेरति प्रसिद्धेः। यदि च देवत्वेऽपि महेन्द्रस्य विष्णुना मोहितस्याऽपि ईदृश्यवस्था तदा श्रीकृष्णस्य नरलीलत्वे ततोऽप्यधिकदोषापत्तेश्च। ननु कैर्वा तव वचसा तथा मन्तव्यं यतः श्रीव्यास शुकदेवादिभिः कैरपि तच्चरितानि नोट्टङ्कितानि, प्रप्युत तच्छ्रवणेनापि 'य एतत्पूतनामोक्षमि' त्यादिना फलप्रापकत्वेन स्तुतानि एवं चेदिष्टापत्तिरास्माकीनैव।

पूतना का बध किया, पौगण्ड में वत्स को मारा, कैशोरावस्था में वृष को मारा, देवकी के सभी भाई जो कि श्रीकृष्ण के मामा थे उन सभी को भी मार डाला, शिशुपाल-दन्तवक्र इनकी बूआ के पुत्र थे उन दोनों को भी श्रीकृष्ण ने मार डाला, यह तो श्रीमद्भागवत में प्रसिद्ध ही है। भारत में वर्णित है-श्रीकृष्ण का सर्वथा मिथ्या भाषण, युधिष्ठिर पक्षपात, सर्वथा छल-कपटाचरण, द्रोणाचार्य का बध करवाना, निज प्रतिज्ञा को छोड़ देना आदि प्रभृति को सुनने से भी पाप होता है॥ यदि कहो कि-पूतनादि जो असुर रहे उनको मारने से दोष नहीं होता है, किन्तु लोकहित, गो-ब्राह्मण बालकादि की रक्षा भी हुई, भक्तवात्सल्यगुण का प्रकटन भी हुआ है, अतः श्रीकृष्ण में गुण ही हैं, दोष नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते हो, वृषासुर बध में इन्द्र की विपत्ति तो हुई थी जिसमें सभी देवर्षिगणों ने उसके लिए प्रोत्साहित किया था, यदि कहो कि इन्द्रदेव हैं, सत्य किन्तु श्रीविष्णु से मोहित होकर वैसी अवस्था हुई, तब तो श्रीकृष्ण में सर्वाधिक दोष होना चाहिए, श्रीकृष्ण नर-लीला करते हैं, यदि कहो कि तुम्हारे कथन को कौन मानता ? श्रीव्यासजी

किं चानया पुराणागमप्रसिद्धया औपपत्यलीलया किमपराद्धं न च तत्र प्रमाणमस्तीति वक्तुंशक्यं, विक्रीड़ितं ब्रजबधूभिरिदं च विष्णोरित्यनेन प्रेमभक्तिप्राप्ति वक्तृश्रोत्रोरपि श्रवणात्। ननु यद्येप्येवं तथापि 'उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यत' इति निरुक्तेः उज्ज्वलशुचिपर्यायेऽस्मिन् रसेऽधर्ममय-स्यौपपत्यस्यानौचित्यात् 'जारः पापपतिरिति' त्रिकाण्डशेषात्तस्य नाम्नोऽपि निन्दागर्भश्रवणान् नाट्यालङ्कारशास्त्रयोस्तुतस्य न्यक्कारस्य श्रुतेः॥ 'अस्वर्ग्यमयशस्यं' चेत्यादि भगवद्वाक्यात्। 'निःस्वं त्यजन्ति गणिका जारा भुक्त्वा रतां स्त्रिय' इति ब्रजसुन्दरीवचनात्। 'आप्ताकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितमिति' परीक्षिदुक्तेश्च लघुत्वं क्षुद्रत्वं जुगुप्सितं पापमित्यादि निश्चयात् विशेषत स्तदवतारावसर एव मायिक्या एव रसस्वादार्थमौपपत्यरीतेः प्रत्यायितत्वाच्च।

ने तथा श्रीशुकदेवजी ने वैसा नहीं कहा है, श्रीकृष्णचरित में कोई दोष नहीं है, किन्तु गुण हैं, आप कहते हैं, जो जन पूतना बध को सुनेंगे उसका मंगल ही होगा, इस प्रकार फल का वर्णन है, तब तो श्रीकृष्ण के उपपतित्व में हमारी इष्टापत्ति है॥

और भी पुराण, आगम प्रसिद्ध औपपत्य लीला ने अपराध ही क्या किया है ? यदि कहो कि उसमें कोई प्रमाण ही नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। फल वर्णन में कहा है–ब्रज बधुओं के साथ विहार को सुनने से प्रेमभक्ति होगी और वहाँ तो श्रीविष्णु शब्द का प्रयोग किया है, वक्ता, श्रोता दोनों ने ही श्रवण किया है, ऐसा कहते तो हो, किन्तु शृंगार में उत्तम प्रकृति होनी चाहिए, उज्ज्वल शुचि पवित्र रस है, इस धर्म में औपपत्य नहीं होना चाहिए, जार पाप पति होता है। नाट्यालंकार शास्त्र में सर्वथा उसकी निन्दा है, भगवान् ने भी निन्दा की है और गोपियों ने भी धिक्कारा है। महाराज परीक्षित ने तो कह ही दिया है कि यदुपति ने निन्दनीय कार्य किया है। लघुत्व, क्षुद्रत्व, जुगुप्सित पाप प्रभृति का निश्चय होने से अवतार के समय रसास्वाद के लिए माया ने उपपति रीति को प्रकट किया है।

शमप्रकृतिका वयमोपपत्यप्रसंगमति श्रोतुं न शक्नुम इति चेत् तर्हि युष्मन्मते शान्तरस एव रसोऽन्ये जुगुप्साऽधर्मादिमूलका एवेति न श्रोतव्याः शृंगारस्तु नैवास्वादनीयो भवतीति नखांका।। श्यामे इति पद्ये धृष्टनायकस्य श्रीकृष्णस्यांगेताभिः कृतान्नखांकान्न सोढ़वता भवता मूलार्थमाच्छाद्य कत्यमयात्ररसे स्वस्यौदासीन्यमेव व्यक्तिकृतं, सा यथा यद्यपि तच्छ्रीविग्रहे क्षतरूपा स्वेन संभवन्ति 'यत्ते सुजातेति' दृष्ट्या तास्तान्नर्पयन्ति च किंतु सुकोमलमुद्रया नखादिना स्पृशन्ति मात्रं तथापि ये तदाभा सावर्णा उदयन्ते ते च प्रतिनायिकाभिस्तादृशतया मन्यन्ते। तदनुसारेण कविभिर्वर्ण्यते इति ज्ञेयमित्येषा न चौपपत्यपरोढ़योः श्रीकृष्णब्रजसुन्दरीष्वसद्भाव प्रमाणस्येति कदाप्याशंकनीयं। लौकिकवल्लीलाकैवल्यं स्वीकृत्य श्रीकृष्णेन स्वस्मिन् मयि औपपत्ये सति युष्माकं स्वस्व पतित्यागाद् वैधर्म्म्ये सति चास्वर्ग्यादि स्यादिति भयं प्रदर्श्य तासां भावपरीक्षणेन तन्निर्द्धारितात् । एवं 'जारा भुक्त्वारतां स्त्रिय'

हम सभी शम प्रकृति के हैं, औपपत्य प्रसंग को सुन नहीं सकते हैं, ऐसा यदि कहो तो तुम्हारे लिए तो शान्तरस ही एकमात्र रस है, अपर रस में जुगुप्सा अधर्मादि होते हैं, उसको भी सुनना उचित नहीं है। शृंगार तो सुनने योग्य है ही नहीं नखांग का अवसर उसमें है। 'श्यामे' इस पद्य में धृष्ट नायक श्रीकृष्ण के वपु में गोपिकाओं ने नखांक दान किया, अतः आप असहिष्णु होकर किस रस के प्रति उदासीन होंगे ? श्रीकृष्ण विग्रह में वे सभी शक्ति से नखांग दान करती नहीं हैं, वे जानती हैं कि श्रीकृष्ण के अंग अति कोमल हैं, वक्षोज में धारण करने में भी भयभीत रहती हैं, अतः केवल स्पर्शमात्र करती हैं, ऐसा होने पर भी प्रतिनायिका तो उन्हें देख ही लेंगी। कविगण भी उसके अनुसार ही वर्णन करते हैं, ब्रज में तो परोढ़ा, उपपति का ही प्रमाण है, इस विषय की समीचीनता को लेकर कभी भी शंका नहीं करनी चाहिए, पारमहंस्यसंहितारूप श्रीमद्भागवत में तो श्रीशुकदेवजी ने परकीया का ही वर्णन किया है, लोकवत् लीला करते हैं श्रीकृष्ण ने भी कहा–

इत्यनेन यथा जारा अन्या रतास्त्यजन्ति तथा वयमपि तत्र रता अन्ततो जारेण तेन त्यक्ता इव तस्यैव फलितार्थत्वात्। एवं परीक्षितापि परदाराभिमर्शनमित्याद्युक्त्वा तयोरेव निश्चितत्वात्। श्रीशुकदेवेनाऽपि 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट' इत्यादिना परदाराभिमर्शन–मेवांगीकृत्य तेजीयस्त्वाद्यादि दृष्टान्तेन तथावधारणात्। हरिवंशविष्णुपुराणादिष्वेवमेव वर्णनाच्च अस्तु नाम तर्हि निर्द्दोषत्वेऽधर्मपापाद्यनावहत्वे प्रमाणं ब्रूहीति ब्रूषे शृणु परीक्षित्–प्रश्नानन्तरं श्रीशुकदेवेन 'धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट' इत्यारभ्य कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते। विपर्य्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो। किमुताखिलसत्वानां तिर्य्यङ्मर्त्त्यदिवौकसां। 'ईशितश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः' तदन्ते यत्पादपरागेत्यादिना भक्तानां स्वैराचारत्वमुक्त्वा कैमुत्यं प्रदर्श्य

निज–निज पतियों को छोड़ने पर अधर्म होगा, नरक होगा, भाव परीक्षण के लिए बारम्बार उसी प्रकार ही कहा। गोपियों ने भी कहा, उपपतिगण संभोग के पश्चात् स्त्री को छोड़ देते हैं, हम सभी ने भी उसी प्रकार छोड़ दिये हैं, इस प्रकार परीक्षित ने तो स्पष्टतः कह दिया है–'परदाराभिमर्शन' कृष्ण ने ऐसा क्यों किया? इससे प्रमाणित हो गया है कि श्रीकृष्ण गोपिकाओं के उपपति हैं तथा गोपिकायें विवाहित परबधू हैं। श्रीशुकदेवजी ने तो परदारत्व को स्वीकार कर लिया और प्रश्न के उत्तर में कह दिया, 'तेजोयान्' सब कुछ कर सकते हैं, उनके लिए दोष होता ही नहीं॥ श्रीहरिवंश, श्रीविष्णुपुराणादि में इस प्रकार ही वर्णित है, तब निर्दोष हो अथच पाप भी नहीं, ऐसा समाधान होना चाहिए। श्रीशुकदेवजी ने कहा कि अहंकार से पाप होता है, श्रीकृष्ण मंगलमय हैं, समस्त के मंगल के लिए ही उन्होंने निज शक्ति के साथ क्रीड़ा की वे पति एवं उपपति दोनों ही हैं, सबके नियन्ता, आश्रय, परिचालक, मंगलमय श्रीकृष्ण ही हैं, जिनकी चरणरेणु से समस्त चराचर पवित्र एवं मुक्त होते हैं, वे श्रीकृष्ण पापयुक्त कैसे होंगे ? परदार विहार को श्रवण करने से भगवान् श्रीकृष्ण के चरण–कमलों में भक्ति होती है तथा कामवासना अन्तःकरण से विदूरित हो जाती है। अतएव बारम्बार इस प्रसंग को ही सुनें।

अध्यायान्ते 'विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरि' त्यनेन वक्तृश्रोत्रोरुभयोरपि यथा कथञ्चित् कथनश्रवणाभ्यामेव हृदोगरूपकामादौ सत्येव परस्याः प्रेमलक्षणाया भक्तेर्लाभ इति कैमुत्येन यदीयं विक्रीड़ितं मीदृशप्रभावं न तत्र दोषस्पर्शगन्धोऽपि कृतज्ञसुधिभिरभिधेयः।। प्रत्युतं तच्छ्रवणानन्तरं सर्वैरपि तत्परैर्भवितव्यमिति विधिश्चोक्तः।

किंच तादृश–राजसभायां परीक्षित् प्रश्नानन्तरं श्रीमन्मुनीन्द्रेण तत् समक्ष्यं ग्रहर्क्ष्यताराानिकरायमाणानां श्रीमद्व्यासनारदादीनां साक्षात् सिद्धान्त–सुधारस पूरेण तत्सदसि चकोरान् सरसीकृत्य यन्निरधारि। तथैव श्रीकृष्णसन्दर्भे गोपीनां तत्पतीनां चेति पद्यव्याख्यानेन स्वारसिकी लीलाप्रसंगे च यत्सुनिश्चितम्।। तत्राप्यर्व्वाचीना विप्रतिपद्यन्ते केवलं बलेनैव स्वमौढ्यस्य ततोऽप्रतिपत्तये च आः किं वान्यैः प्रमाणैः श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैः सर्वं वैमत्यं निराकृतं श्रीभक्तिसन्दर्भे–यथा–कामाद्वेषाद्भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे

और भी देखें, परीक्षित की सभा में प्रश्न के पश्चात् समस्त मुनीन्द्रों के समक्ष में परमामृत रूप में परदार लीला को श्रीशुकदेवजी ने वर्णन किया। श्रीकृष्णसन्दर्भ में 'गोपीनां तत् पतीनां चेति' पद्य की व्याख्या में स्वारसिकी लीला प्रसंग में श्रीजीवगोस्वामिपाद ने सुनिश्चित रूप से उसका प्रतिपादन किया है, उसमें अर्वाचीन कुछ व्यक्ति सन्देह प्रकट करते हैं कि यह केवल बल प्रयोग तथा निज अल्प ज्ञान के कारण ही है, अपर प्रमाणों से प्रयोजन ही क्या है? श्रीजीवगोस्वामिचरण ने श्रीभक्तिसन्दर्भ में सकल सन्देह का निरसन किया है, उन्होंने कहा है कि श्रीकृष्ण में आवेश होना आवश्यक है, यह आवेश काम से, द्वेष से, भय से, स्नेह से क्यों न हो, इससे पाप नष्ट हो जाता है (३२०)। जिस प्रकार विहित भक्ति के द्वारा ईश्वर में मनः को आविष्ट करके उत्तमगति को सत्गण प्राप्त करते हैं, वैसे ही अविहित कामादि के द्वारा भी अनेक व्यक्तियों ने श्रीकृष्ण को प्राप्त करने में भूल नहीं की है, उनमें से गापिकागण प्रधान हैं, द्वेष एवं भय से पाप होता है, वह भी आवेश से विनिष्ट हो जाता है।।

मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिंगताः (३२०) यथा विहितया भक्त्या ईश्वरे मन आवेश्य तद्गतिं गच्छन्ति तथैवाविहिते नापि कामादिना बहवो इत्यर्थः। तदघं तेषु कामादिषु मध्ये यद्द्वेषभययोरघं भवति तद्धित्वैव भयस्यापि द्वेषसंबलितत्वादघोत्पादकत्वं ज्ञेयम्।।

अत्र केचित् कामेऽप्यघं मन्यते। तत्रेदं विचार्य्यते। भगवति केवलः काम एव पापावहः किंवा पतिभावयुक्तः अथवा उपपतिभाव युक्त इति। स एव केवल इति चेत् स किं द्वेषादिगणपातित्वात्।। तद्वत् स्वरूपेणैव। परमशुद्धे भगवति यदधरपानादिकं यच्च कामुकत्वाद्यारोपणं तेनातिक्रमेण वा पाप श्रवणेन वा। नाद्येन। उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्य इत्यत्र द्वेषादेर्न्यक्कृतत्वात् तस्य च स्तुतत्वात्। अतः प्रिया इति स्नेहवत् कामस्यापि प्रीत्यात्मकेन तद्वदेव न दोषः। तादृशीनां कामो हि प्रेमैकरूपः। यत्तेसुजात इत्यादिना आनुकूल्ये एव तात्पर्य्यदर्शनात्। सैरिन्ध्र्यास्तु भावोरिरंसाप्रायेत्वन श्रीगोपीनामिव केवलतत्सुख-तात्पर्याभावात्तदपेक्षयैव भिद्यन्ते न स्वरूपतः। सानङ्गतप्त-

---

कुछ व्यक्ति ईश्वर के प्रति कामभाव में पाप मानते हैं, उस पर विचार करते हैं, भगवान् में मात्र कामभाव ही पापावह है किंवा पतिभावयुक्त कामभाव अथवा उपपति सम्बन्धान्वित कामभाव से पाप होता है ? मात्र कामभाव ही पाप है ? तो वह क्या द्वेष के साथ कथन के कारण है ? अथवा उस प्रकार स्वरूप होने के कारण ही है, परम शुद्ध भगवान् में अधरपान क्रिया का प्रदर्शन होता है और कामुकता का आरोप भी होता है ? भगवत् मर्य्यादालंघन भी कामभाव से होता है, इससे पाप होना सुना जाता है ? इस प्रकार प्रथम कथन भी युक्तियुक्त नहीं है, श्रीशुकदेवजी ने (भा०१०।२९।१३) में कहा है कि पूर्व में मैंने आपसे कहा था कि चैद्य की सिद्धि द्वेष से तन्मयता के काण हुई, गोपिका तो अधोक्षज प्रिया हैं, उपपति भाव से इनकी सिद्धि होगी इसमें शंका क्या है ? इससे द्वेष को धिक्कार कर कामभाव

कुचयोरित्यादौ अनन्तचरणेन रुजो मृजन्तीति परिरभ्य कान्तमानन्दमूर्त्ति मिति कार्यद्वारा तत् स्तुतः। तत्रापि सहोष्यतामित्यादि तदेव तस्य कामद्वेषादिगणान्तः पातित्वं परिक्लप्त्य तेन पापावहत्वं परिहृतमित्यन्तम्।

अथ कामुकत्वारोपणाधरपानादिरूपस्तत्र व्यवहारो नातिक्रमे हेतुः। यतो लोकवल्लीलाकैवल्यमिति न्यायेन लीला तत्र स्वभावत एव सिद्धा। तत्र श्रीभूलीलादिभिस्तस्य तादृशलीला रसमोहस्वाभाविकं भगवत्ताद्यननुसंधानमपि कामुकत्वादि-मननमपिच तदभि रुचितत्वेनैवाभिगम्यते। तथा तत् प्रेयसीनामपि तत्स्वरूपशक्तिविग्रहत्वेन परमशुद्धरूपत्वात्। तदितरे न्यूनत्वाच्च तदधरपानादिक मपि नानुरूपं। पूर्व्वयुक्त्या तदभिरुचितमेव। न च प्राकृतरामाजने दोषः प्रसंजनीयः। तदयोग्यं तादृशं भावं स्वरूपशक्तिविग्रहं च प्राप्यैव तदिच्छयैव तन् प्राप्तेः॥

की स्तुति की है, अतएव प्रिय शब्द से स्नेह की भाँति कामभाव भी गोपिकाओं के स्नेहस्वरूप होने से दोषावह नहीं है। गोपियों का काम प्रेमात्मक ही है। 'यत्ते सुजात' (भा० १०।३१।१९) में श्रीकृष्ण के आनुकूल्य में तात्पर्य प्रकट हुआ है। सैरिन्ध्री कुब्जा का भाव निज रमणेच्छाप्रधान होने से उससे भिन्न हुआ है, स्वरूप से नहीं। गोपियों में तो मात्र श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्य है, (१०।४८।७) में 'सानङ्ग तप्त कुचयोः' व्यवहार से ही प्रकाश हुआ है। कुब्जा के वाक्य से ही कामभाव व्यक्त हुआ, इससे काम, द्वेष को एक गोष्ठी में रखकर पापावह की कल्पना हुई। गोपिकाओं में तो शुद्ध प्रेम ही काम शब्द से प्रकट हुआ॥

कामुकत्व का आरोप, अधरपानादि व्यवहार भगवद् अतिक्रमण में हेतु नहीं है, कारण लोकवल्लीला कैवल्य इति नियम से लीला लोकवत् ही होती है। श्रीभगवान् के साथ लीलाकारिणीशक्ति श्री, भू, लीलाशक्ति होती है, वे सभी रस, मोह का पोषण तो भगवान् की इच्छाशक्ति से ही करती हैं और उनमें भगवान् को ईश्वररूप से जानना भी विस्मित हो जाता है।

अपापश्रवणेन च न पापावहोऽसौ कामस्तदश्रवणादेव। अतः पतिभावयुक्ते च तत्सुतरां न दोषः प्रत्युतं स्तुतिः श्रुयते। संपर्यचरन् तं भक्त्या पादसंवाहनादिभिः। जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्ध्या किं तासां वर्ण्यते तप इति महानुभावमुनीनामपि तद्भावः श्रूयते। मध्वाचार्यधृतंमहाकौर्म्मवचनं, अग्निपुत्रामहात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्त्तारञ्च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुमिति। अतएव वन्दितम्। पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृमित्यादिना। अथोपपतिभावेन न पापावहोऽसौ यत्पत्यपत्यसुहृदामनुरित्यादिना ताभिरेवोत्तरितत्वात् गोपीनां चेत्यादिना श्रीशुकदेवेन च। महानुभावानां मुनीनामपि तद्भावो दृश्यते। यथा पाद्मोत्तरखण्डवचनं–पुरामहर्षयः सर्व्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्व्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भुताश्च गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो

उस प्रकार श्रीभगवद् प्रेयसीगण भगवान् की स्वरूपशक्ति हैं तथा स्वरूपशक्ति के श्रीविग्रह रूप हैं एवं परम शुद्ध हैं। उन सबसे भिन्न व्यक्तिगण की न्यूनता है, अतएव उन सबके साथ अधरपानादि की कल्पना भी विजातीय है। पूर्वयुक्ति से उनकी अभिरुचि के कारण ही हैं, प्राकृत ललना में दोष होगा ? प्राकृत ललना में उस प्रकार भाव की योग्यता ही नहीं है, यह तो स्वरूपशक्ति के विग्रह को प्राप्त करने के पश्चात् ही श्रीकृष्ण की इच्छा से उस भाव का उदय होता है॥

श्रीकृष्ण विषयक काम पापावह नहीं है, अतएव उनमें पति भाव युक्त होने पर सुतरां पापहीन होगा, उसकी प्रशंसा भी होती है॥ चरणसम्वाहन प्रभृति के द्वारा जगद्गुरु में पति भाव स्थापन कर परिचर्या करते हैं, उनकी तपस्या की बात कही नहीं जा सकती है। महानुभाव मुनीगण का भी उस प्रकार भाव हुआ था। मध्वाचार्य धृत महाकौर्मपुराण वचन इस प्रकार है–महात्मा अग्नि पुत्रगणों ने तपस्या के द्वारा स्त्रीरूप प्राप्त किया था तथा श्रीवासुदेव का भजन पति भाव से किया था, अतएव वह भाव

मुक्ता भवार्णवात्। अतः पुरुषेष्वपि स्त्रीभावोद् भवाद्भगवद्–विषयत्वात् न प्राकृतकामो किंतु साक्षान्मन्मथ इति श्रवणात् आगमादौ तस्य कामत्वेनोपासनाच्च भगवदेकोद्भावितो ऽप्राकृतकाम ऐवासौ इति ज्ञेयम्। श्रीमद्उद्धवादीनां परमपि श्रीगोपी सदृशभावलिप्सा श्रूयते।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्य इत्यादौ। किं बहुना श्रुतीनामपि तद्भावो वृहद्वामने प्रसिद्धः। यतस्तत्र श्रुतयोरपि नित्यसिद्धगोपिकाभावाभिलाषिण्यः सत्यः तन्त्रेणैव तद्गणान्तःपातिन्यो बभूवुरिति प्रसिद्धिः। एतत् प्रसिद्धिसूचकमेवेतदुक्ता ताभिः निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजं इत्यादि विस्पष्टश्चायमर्थः। तद्ब्रह्माख्यं तत्वं शास्त्रदृष्ट्या प्रयासबाहुल्येन मुनय उपासते

सर्वथा वन्दनीय है, कारण पति, पुत्र, सुहृद्जन जो भ्रातृ भाव से भजन करते हैं, वह मेरे प्रिय हैं। उपपति भाव से वह काम पापावह नहीं होता है, (भा० १०।२९) में गोपियों ने श्रीकृष्ण के कथन का उत्तर दिया था, हे भैया ! पति, पुत्र, सुहृद् की सेवा तो धर्म है, किन्तु तुम ही तो एकमात्र प्रिय सुहृद् बन्धु एवं आत्मा हो। श्रीशुकदेवजी ने भी (भा० १०।३३) में कहा–गोपियों एवं उनके पतियों तथा समस्त देहधारियों के हृदय में वही श्रीकृष्ण हैं जिन्होंने वाह्य क्रीड़ा के निमित्त ही वपु धारण किया है। महानुभाव मुनियों का भी परकीया भाव के प्रति प्रलोभन हुआ था, पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में कथित है कि प्राचीनकाल में दण्डकारण्यवासी मुनिगणों ने श्रीरामजी को देखकर भावाक्रान्त हृदय से श्रीविग्रह को अपनाने की अभिलाषा की, उससे वे सभी स्त्रीस्वरूप प्राप्त कर गोकुल में उत्पन्न हुई थीं, काम भाव से श्रीहरि को प्राप्त कर भवसागर से मुक्त हो गयी थीं, अतएव पुरुष में भी स्त्री भाव उत्पन्न होता है, वह काम भाव भी श्रीभगवद् विषयक होने के कारण प्राकृत काम भाव नहीं है, किन्तु साक्षात् मन्मथ–मन्मथ है। आगम में तो उनकी उपासना कामरूप से ही वर्णित है, अतएव श्रीभगवद् उद्भावित अप्राकृत काम ही वह है। श्रीउद्धव प्रभृति की भी गोपी सदृश भाव लिप्सा हुई थी।

तदरयोऽपि यस्य स्मरणात्तदुपासनां विनैव ययुः। तथा स्त्रियः श्रीगोपसुभ्रूवस्ते तव श्रीनन्दनन्दनरूपस्य उरगेन्द्र देहतुल्यौ यौ भुजदण्डौ तव विषक्तधियः सत्यस्तवैवाङ्घ्रिसरीजसुधा स्तदीय–स्पर्शविशेषजातप्रेममाधुर्य्याणि ययुः। वयं श्रुतयोऽपि समदृशः स्तुल्यभावा सत्यः समास्तादृशगोपीकात्वप्राप्त्यातत् साम्यमाप्तास्ता एवाङ्घ्रिसरोजसुधा मया तावत्य इत्यर्थः। अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः। अङ्घ्रीति सादरोक्तिः अत्र तदरयोऽपि ययुः स्मरणादित्यनेन भावमार्गस्य झटित्यर्थसाधनत्वं दर्शितम् समदृश इत्यनेग रागानुगाया एव साधकतमत्वं दर्शितम्। अन्यथा सर्वसाध्य साधन विदुष्यः श्रुतयोऽन्यथैव प्रवर्त्तेरन् श्रुत्यनुभवसिद्धा तासामानुगत्येनैव निरवायीति प्रकरणार्थश्च।

भू–मण्डल में गोपबधूगण ही धन्य हैं, श्रीगोविन्द में उन सभी के रूढ़ भाव हैं। वृहद्‌वामनपुराण में–'श्रुतियों की लिप्सा गोपीभाव के प्रति थी, अतएव गोपीगणों के अनुगत श्रुतिगण हुई थीं, इस प्रसिद्धि को विज्ञप्त करने के लिए श्रुतिस्तुति में (१०।८७) में लिखा है, निर्जन वास एवं संयमादि के द्वारा मुनिगण तथा शत्रुभाव से असुरगण जिन्हें प्राप्त करते हैं उन्हें ब्रजगोपीगणों ने काम भाव के द्वारा प्राप्त कर लिया, हम सभी उनके भावानुगत्य से भजन करना चाहती हैं। सुस्पष्ट ही उसका अर्थ है–अत्यन्त क्लेश से तथा शास्त्रीय रीति से मुनिगण जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन्हें शत्रुगण उपासना के बिना ही मात्र स्मरण से ही प्राप्त कर लेते हैं, गोपसुन्दरीगणों ने श्रीनन्दनन्दन के उरगेन्द्र के सदृश भुजदण्ड से आसक्त होकर उनकी चरणसुधा को प्राप्त किया, हम सभी श्रुतिगण भी गोपिकाओं के तुल्य भावान्वित होकर उस चरणसुधा को प्राप्त करेंगी। अर्थ के अनुरोध से विभक्ति का परिवर्तन हुआ, अङ्घ्रि यह आदरपूर्वक उक्ति है। स्मरणमात्र से ही असुरगण भी उस परब्रह्म की प्राप्ति कर लेते हैं तो इससे भावमार्ग की अति सत्त्वर फल साधनता सिद्ध हुई, 'समदृश' शब्द से रागानुगा में ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, ऐसा न होने से निखिल साधनाभिज्ञ श्रुतिगण अपर पंथा का प्रदर्शन करतीं, श्रुति अनुभव सिद्ध श्रीगोपिकानुगत्य ही श्रेष्ठतम भजन है।

ननु तव सिद्धान्ताः फलितार्था अभविष्यन्नेव। ययौपपत्यपरोढत्वयोः सत्यत्वमभविष्यन्। वयं तदेवमन्यामन्यामन्वहे तस्मान्मूलएव कुठारः। पतिश्चोपपतिश्चेत्यारभ्य सर्व्वस्मिन्नेवोज्ज्वलनीलमणौ मुहुर्मायिकत्वेनैव व्याख्यातम्। तद्दिग्दर्शनं यथा पतिश्चोपपतिश्चेत्यत्र पतिः पुरवनितानां द्वितीयत्वं तु यद्यप्यासामवतारावसर एव प्रत्यायितं नतु सर्व्वदेत्यादि। रागेणोल्लंघयन्नित्यत्र स्वजनप्रेमवशावतार-लीलावेशेन नित्यलीलामननुसन्धानस्य तासां च लीलाशक्तिर्माययैव रसविशेषपरिपोषाय तासु परकीयात्वं प्रत्यापयय्य तत्रौपपत्यायितवतीति सङ्केतीकृतेत्यत्र यत् कस्यचित् कवेः पद्यमुदाहृतम् खलु तादृगौपपत्यप्रत्यायनायोत्प्रेक्षामिति।।

लघुत्वमत्रेत्यत्र एतदुक्तं भवति। असावतारसमये तथा प्रतीतिर्मायिक्येव।।४।। श्रीकृष्णेन तासां दाम्पत्ये सति परकीयात्वे च मायिकत्वे च सति नश्यत्येव ततो मायिकम्।।

कहना तो उचित ही है, सिद्धान्त भी उचित ही होगा, यदि औपपत्य एवं परोढ़ात्व सत्य हो, हम सभी तो उसको ही मानते हैं, अतः मूल में ही कुठाराधार हुआ। उज्ज्वलनीलमणिस्थ पति, उपपति प्रकरण को पुनः-पुनः मायिक रूप से ही कहा गया है, उसका संक्षेप इस प्रकार है-पति पुरवनिता के उपपति-ब्रजवनिता के। उपपति भाव मात्र अवतारकाल में ही दिखलाया गया है, सर्वदा नहीं है। राग से धर्म उल्लंघन की कथा-अवतार के समय रस विशेष को आस्वादन कराने के लिए लीलाशक्ति माया ने ही प्रबन्ध किया, इससे परकीयात्व एवं परकीया का उदाहरण भी सफल हुआ।।

लघुत्व की जो बात है वह तो अवतार लीला की बात है, उस समय माया ने उसी प्रकार ही प्रतीति करवायी। श्रीकृष्ण के साथ उन सभी के दाम्पत्य होने पर, परकीयात्व मायिक होने पर अवतार लीला भी नष्ट होगी, अतएव परकीया मायिक है।

कन्यकाश्च परोढ़ाश्चेति सोऽयं चावतारलीलादृष्ट्यैव व्यवहारो न वस्तुतः॥६॥ नासूयन्निति। तस्य श्रीकृष्णस्य नासूयन्निति। तस्य कृष्णस्य माययापि स्व-स्वे दाराविवाहसमयत एव मायारचितास्तान् इत्यादि। पतिम्मन्यान् प्रति माया प्रतिमाया प्रकटया मास॥७॥ गोप्यैर्व्युढ़ो इत्यपूर्व्ववद्भ्रमानुवाद एव। शक्तिमेवादृत्य तदुपयुक्तां लीलाशक्तिमेवादृत्य तद्द्वारावतारितानां नित्यप्रेयसीनामेव तासां परदारत्वभ्रमेण यथारसस्य विधिः प्रकारविशेषः संभवति तथा जन्मादिलीलाया नित्यत्वं विस्मार्य्य प्रकटीकृतानामित्यर्थः। तदाशंसया हेतुः रसिकेति, तस्माल्लीलाशक्तिप्रेरिततया कृतं तासां परोढ़ात्वप्रत्यायनं परसंगत्यभावश्चेत्यादि। समृद्धिमदुदाहरणे-तवात्रपरिमृग्यतेत्यत्र सर्व्वे ज्ञातश्रीकृष्णविषयकाशक्त्यानन्तरं यदि तासामन्यभर्त्तृकात्वं वृतो मिथ्यात्वेन व्यक्तं स्यात्तदैव जुगुप्साव्यवस्थापयनवत् धार्म्मिकस्य श्रीब्रजराजस्य सभायां अपि धार्म्मिकरीत्या स्थापयितव्या, ततः 'योगमायामुपाश्रित' इति

कन्यका एवं परोढ़ा रूप से जो भेद है, वह अवतार लीला को देखकर व्यवहार है, वस्तुतः वैसा व्यवहार नहीं है, श्रीकृष्ण की माया असूया नहीं की, विवाह समय से ही पतिम्मन्य गोपों के समीप में गोपिकाओं की प्रतिमा का निर्माण माया ने किया, गोपों ने विवाह किया-यह भ्रम का अनुवाद है। लीलाशक्ति के द्वारा अवतारित नित्य प्रेयसी में परदारत्वभ्रम माया से ही हुआ, इससे रसास्वादन का प्रकार विशेष हुआ, जिस प्रकार जन्मादि लीला के नित्यत्व को विस्मरण कराकर ही प्रकट लीला का आस्वादन माया करती है, ऐसा क्यों करते हैं, श्रीकृष्ण रसिकशेखर हैं, निज प्रेयसी को लाकर जन-मानस के समक्ष खेल खेलते हैं। अतः लीलाशक्ति द्वारा प्रेरित परोढ़ा होना एवं पति के साथ संगम न होना भी माया का प्रभाव है। समृद्धिमत् शृंगार के उदाहरण में-मैंने पाया, इस प्रकरण में सभी व्यक्ति समझ गये कि विवाह मायिक था, उस विवाह की मिथ्या प्रतिपन्न करने के लिए साक्षी

'नासूयन् खलु' इत्यादिन्यायेन यस्याः मायाया सोऽयं प्रपंचः सैव समाधात्री। निजेश्वरलीलाकौतुकात् तत्तत्कल्पितवती मध्ये चासूयापरिहारार्थं समाहितवतीति गम्यत इत्यादि। कृष्णसन्दर्भ-गोपालचम्पूमनु चैव विवेचितं बहुशः।।

स्वरूपसिद्धानां भगवद्दाराणामपरकर्त्तृकवलात्कारपरि-हारार्थंतत्तदाराकारतया ये स्वद्वारास्तान् स्वे इत्यादि, एतदुदितमुपलक्षणं, तदेव तासां पतिम्मन्येष्वेवाह-शयनादिष्वेव च स्वरूपसिद्धा आवव्रिरे अन्येषु चान्यदा एवेति गम्यते तावदेव युक्तं तासु च मय्यादरक्षणोत्कण्ठावर्द्धनैकप्रयोजनत्वान्न स्या इत्यादि। चम्पूमनु च पौर्णमास्याकारिताया यशोदानन्दिन्याः सिंहवाहिन्या वचः पूर्वत एव तावदुभयविधात्र नापूर्वतया मन्तव्याः। पूर्वासां सजातीया हि द्वितीया मयैव निर्म्मिताः, संज्ञायाश्च यावत् रत्यास्तन्मात्याकल्पितावच्च। अग्रे श्रीव्रजराजं

की आवश्यकता रही, इस प्रकार श्रीव्रजराज की सभा में भी साक्षी के द्वारा ही धर्म स्थापन सम्भव होगा, वह योगमाया से ही होगा, कारण यह प्रपंच माया का था और माया ही उसका समाधान करेगी। प्रभु निज लीला कौतुक करना चाहते हैं, अतएव माया निज प्रिया का अन्य के साथ विवाह करा देती है और स्वयं उपपति होकर भोग करती है, पुनः पूर्व विवाह की मिथ्या घोषणा करवाकर प्रिया का विवाह श्रीकृष्ण के साथ करा देती है। इस प्रकार श्रीकृष्णसन्दर्भ तथा श्रीगोपालचम्पूः में इसकी आलोचना विस्तृत रूप से हुई है।।

स्वरूपसिद्ध भगवद् पत्नीगण का स्पर्श अन्य से न हो, इसलिए उसके आकार के अनुरूप अनेक गोपियों का निर्माण योगमाया के द्वारा ही हुआ, यह कथन उपलक्षण है, 'पतिम्मन्ये' गोपगण के समीप से स्वरूपसिद्धा गोपियों की सुरक्षा यथावत् रही, यथा प्रक्रिया उत्कण्ठावर्द्धन के लिए ही है, श्रीगोपालचम्पूः में यशोदा पुत्री का कथन आश्चर्यकर नहीं है, विवाह के समय से ही मैंने दो प्रकार का निर्माण किया, जिस प्रकार संज्ञा की हुई थी,

प्रति तथा वणयितव्यत्वात् नायं श्रियोङ्ग इत्यत्र पूर्वोक्तमायामात्र–प्रतीतान्यथात्वमेव दृढ़यतीति।।९।। अथ नित्यप्रिया इति नित्यप्रियाणां मायां विना कथमुपपतिः स्यात्।।१०।। नेष्टा यदङ्गिनीति नित्यप्रेयसीनां तासां यथा रसस्य विधिरित्यत्र बहुत्र।।११।। समृद्धिमत्प्रघट्टकगद्यपद्यमयं बहुशो निर्णीतं। तदन्ते च यथा अथ कंसबधात् प्राचीनानां लीलानां सद्यस्तनतां मत्वा यदुपासनं क्रियते तत्खलु एवं विहारैः कौमारैः जहतुर्ब्रजे। निलायनैः सेतुबन्धैर्म्मर्क्कटोत्प्लवनादिभिरित्यादिरीत्यावतारलीलावत् पूर्वा–वतारलीलावत् पूर्वमतीतानामपि तां तां निजलीलां भक्तभक्तिविशेषानुरोधेन तदा तदा करोतीत्येव मन्तव्यम्। त्वं भक्तियोगपरिभावित इत्यादेः।

तत्र बाल्यलीलापासना ग्रहिला अपि दृश्यन्ते । किंतु

आगे प्रकरण में भी श्रीब्रजराज के प्रति व्यक्त करके कहना होगा, गोपियों के प्रति जिस प्रकार प्रसाद हुआ था वैसा प्रसाद लक्ष्मी प्रभृति किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ, इससे पूर्वोक्त मायाकल्पित से वे गोपी पृथक् रहीं, नित्यप्रिया प्रकरण में माया के बिना नित्य प्रियागणों के उपपति होना सम्भव ही नहीं होगा। अंगीरस में उपपति का कथन रसावह नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण में रसावह है, श्रीकृष्ण ने निज प्रेयसीवर्ग को ही साथ में लाकर पति एवं उपपति स्वयं बनकर लीला की थी, सुतरां उनमें तो उपपति का प्रयोग भूषण है, समृद्धिमान् शृंगार में भी इसकी आलोचना विशेषरूप से हुई है, उसके पश्चात् आपने कहा कि–कंस बध के पूर्व की लीला तात्कालिक है, जिस प्रकार सेतुबन्ध प्रभृति बाल्योचितो लीला है, कभी तो भक्तजनों के विनोद के लिए लीला करते हैं, (भा० ३।९।११) में कथित है कि भक्तियोग परिभावित हृदयकमल में आप निवास करते हैं, भक्तगणों की जिस प्रकार की आकांक्षा होती है आप उसी श्रीविग्रह से प्रकट होते हैं।

बाल्यलीला उसी प्रकार देखी जाती है, किन्तु भक्तगणों की अभिलाषानुरोध से ही वह लीला होती है, निजेच्छा से नहीं

श्रुतेक्षित पथत्वेनैव ता द्रष्टव्या न तु स्वमनोरथमानकल्पितत्वेनेति गम्यते। तत्र स्वेच्छया रचिताया अपि संभोगलीलाया: सम्पन्नत्वं एव सम्मतं न तु समृद्धिमत्वं, महाप्रवाससंस्कारानन्तरभावित्वा भावात् अंतएव कासाञ्चिल्लीलानां प्रकट प्रकाशगत तुल्यानां तत्तन्मन्त्रपालकसम्प्रादायाविच्छिन्नपरम्परानुरोधेन नित्या स्थितिरेव गम्यते न तु सर्व्वासामपि प्रकटलीलानां कालियह्रद-प्रवेशलीलानां महादु:खमयत्वेन कासाञ्चिदन्यासामपि मुहुरागतभयव्याकुलीकृतत्वेन प्राकृतमिश्रत्वेन विरोधात् 'योग एव भवेदेष विचित्र कोऽपि मादन' ते योग एवेति सखेदानामेव तासामुपादानेन सहस्रधीसख्योल्लेखनेन च प्रत्याख्यानात् प्रत्यायितानां नित्यत्वे चित्रतुल्यता प्राप्त्या लीलात्वहानाच्चेति इत्यादि नेष्टा यदङ्गिनीत्यत्रसमृद्धिमत्प्रघट्टके कृष्णसन्दर्भे गोपालचम्पूमनु च विवृतं तत्तद्व्याख्यानां सारो यथा नेष्टेत्यत्र

होती है, अतएव निजेच्छा से वर्णित सम्भोग लीला सम्पन्न सम्भोगमय ही होगी तथा समृद्धिमान् सम्भोग नहीं होगा। महाप्रवास का अवसर उसमें नहीं है, अत: कुछ लीला तो उसी प्रकार की होती हैं, जो प्रकट प्रकाशगत की भाँति दिखायी देती हैं, अत: मन्त्र-परम्परा को रखने के लिए नित्य स्थिति मानी जाती है, किन्तु सकल प्रकट लीला की स्थिति उस प्रकार की नहीं होती है, कालीयह्रद प्रवेश लीला महादु:खद है, अन्य लीलायें भी यदि उसी प्रकार की होती हैं तो प्राकृत के साथ मिश्रण के कारण विरोध होता है, मादन महाभाव का अंश है एवं अवस्था है, वह तो संयोग में ही विचित्र विरह का सृजन करता है। दु:खित प्रेयसी का वर्णन है, सखीगण के उल्लेख से भी क्लेश वरण होने पर सभी के सभी चित्रतुल्य होंगे इससे लीला की भी हानि होगी, अतएव कविगण शृंगाररस में परोढ़ा नहीं मानते हैं। समृद्धिमान् शृंगार को छोड़कर ही कहा गया है, श्रीकृष्णसन्दर्भ एवं श्रीगोपालचम्पू: में इसकी विशेष आलोचना हुई है, उसका सारार्थ ही है-शृंगाररस में परोढ़ा इष्ट नहीं है, किन्तु साहित्यदर्पणकार ने गोकुलरमणी को

तदुक्तं साहित्यदर्पणकारेण परोढ़ां वर्जयित्वेत्यादि। तदेतच्च गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेणेति तास्तु स्तुता इत्यर्थः आशंसयेति, तादृशक्रमलीलासाध्यत्वेन रसविशेषास्वादनाय सर्वशक्तितां सर्व्वेश्वरतामप्यनादृत्य तदुपयुक्त लीलां प्रवर्त्तिताः, स्वस्वपतिगृहमनुवर्त्तताः परास्तु कृष्णमात्रपतिपरायणाः स्वस्वपितृगृहमित्यादि।।

अत्रेदं विचार्यते, श्रुति–स्मृति–श्रीभागवतानां ख्याततया श्रीमन्मध्वाचार्य–श्रीरामानुजाचार्य चरणैर्विवृतानां श्रीभगवल्लीलानां मायिकत्वं कियद्दिनस्थायित्वं यत्पौनः पुण्येनशतवृत्तितया कण्ठरवेणैवाचाते। तत्रैवं पृच्छामः तत् किमैन्द्रजालिक कार्य्यत्वादिन्द्रजालवन्मायिकं किंवा अज्ञानकल्पितशुक्ति–रजतवद्वहिरङ्गायाः मायाख्यायाः शक्तेः कार्य्यं अथवा लीलाशक्तिकृतं सर्वम्। नाद्यं ऐन्द्रजालिकस्य नयनादेः। पृथक्त्वेन सावधानतया स्थितस्यान्यदीयव्यामोहनार्थमेव तत्तत्कृतेः प्रकटमभूत्

छोड़कर निषेध किया है। वे सदा ही परोढ़ा हैं, उस रूप में उनकी स्तुति होती है, वे कैसी पतिव्रता हैं और परबधू अपवाद भी कैसा है तथा उत्कण्ठा भी कैसी है एवं श्रीकृष्ण से मिलन न होना भी कैसी बात है, इस क्रमलीला रस को कहने के लिए ही सकल शक्ति सर्वेश्वरता प्रभृति का अनादर करके ही उन सभी ने लीला की, जिससे समस्त लोक चकित हो जायेंगे। कहा गया है कि योगमाया का आदेश है निज–निज पतिगृह को जायँ एवं श्रीकृष्णभाव पति परायणागण भी निज–निज पितृगृह को जायँ।।

यहाँ पर कुछ विचार करते हैं–'श्रुति–स्मृति, श्रीमद्भागवत महापुराण वर्णित लीला समूह को श्रीमध्वाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य ने नित्यता का प्रतिपादन किया है, किन्तु आप तो भगवत् की लीला को सामयिक एवं मायिक रूप पुनः–पुनः कहते आये हैं, उस पर मैं पूछता हूँ उसकी मायिकता इन्द्रजाल की भाँति है अथवा अज्ञानकल्पित शुक्ति रजतवत् वहिरंग मायाकल्पित है अथवा लीलाशक्ति का कार्य है ? आप प्रथम प्रकार से बता नहीं

न तु स्वस्य तदाविष्टत्वं प्रकृते तु नायिकानायकयोरुभयो रुभयोरपि तत्र तत्राविष्टता भवतैव सुप्रथितैव। नापि द्वितीयं यत्र यत्र श्रीकृष्णलीला तत्र तत्र मायासम्बन्धाभावात्। माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमानेति द्वितीयस्कन्धसिद्धान्तितत्वात्। वैष्णवतोषण्यां यशोदामोहन – रासादिलीलायां तथैव समाहितत्वात्। श्रीभगवत्सन्दर्भे च श्रियायुक्त इत्यस्य व्याख्याने ऽन्तरङ्गवहिरङ्ग–शक्त्योरवतारणानन्तर पूर्वस्यां भगवति विभुत्यादि विस्मृतिहेतु–र्मातृभावादि प्रेमानन्दविशेष इत्युक्तत्वात्। न च तस्यास्तस्मिन् भावे तथा विस्मृतिहेतुत्वमिति वाच्यं। विभुत्वादि मातृभावादि इति द्वयोरप्यादिशब्दग्रहणात् सर्वेषु एव रसेषु तथा विस्मृति–प्रेमानन्दमयै रावश्यकत्वाच्च।।

नापि तृतीयं लीलाशक्तेः स्वरूपशक्तित्वात्। स्वरूपशक्ति–प्रकाशितत्वस्य नित्वत्वस्य च मिथो हेतुमत्वा ज्ञेयेति भगवत्सन्दर्भे न विद्यते यस्य चेति गजेन्द्रमोक्षणीये पद्ये व्याख्यातत्वात् ननु

सकते। जैसे जादूगर दूसरों के नेत्रों को आच्छादित करने के लिए वैसा करता है, किन्तु उसके नेत्र आच्छादित नहीं होते हैं, प्रस्तुत स्थल में नायक–नायिका दोनों ही आविष्ट होते हैं, द्वितीय प्रकार कथन भी अयुक्त है, जहाँ–जहाँ श्रीकृष्णलीला है, वहाँ–वहाँ माया नहीं रहती है, माया तो लज्जित होकर निज मुख अन्य ओर घुमाकर रहती है। वैष्णवतोषणी में आपने यशोदा मोहन एवं रासलीला का समाधान उस प्रकार ही किया है। श्रीभगवत्सन्दर्भ में 'श्रियायुक्त' की व्याख्या में अंतरंग, वहिरंग शक्ति का वर्णन पृथक् रूप से आपने किया है एवं अंतरंग माया के द्वारा ही विभुत्वादि विस्मृति हेतु मातृ मोहनादि का प्रतिपादन भी किया है, वहाँ पर आदि शब्द का प्रयोग है, इससे सभी रसों में ही विस्मृति हेतु प्रेमानन्द विशेष है।

तृतीय प्रकार से कहना भी उचित नहीं है–लीलाशक्ति, स्वरूपशक्ति है। स्वरूपशक्ति के द्वारा प्रकाशित वस्तु नित्य होती है, इसमें परस्पर हेतु एवं हेतुमद् भाव होते हैं। श्रीभगवत्सन्दर्भ 'केन यस्य जन्म कर्म गजेन्द्र मोक्षण' पद्य व्याख्या प्रकरण में आपने

कासाञ्चिदेव लीलानां मायिकत्वं वयं मन्यामहे न तु सर्वासामेव। परोढ़ोपपत्योस्तु कण्ठरवेणैव वदामोऽन्यासां कालियदमनादि कासाञ्चित् प्रच्छन्नतया भक्तहृदयव्याकुलीकरत्वप्राकृत-मिश्रत्वादिदोष दर्शनात् अवतारलीलाया असार्वदिकत्वात् कादाचित्कत्वाच्चेत्तथात्वे पर्यवसानं स्यादस्तु नाम अप्रकटे भोगनाम्नि नित्ये धाम्नि स्वारसिकी मन्त्रमयी भेदाभेदाभ्यां नित्यत्वेन नित्यस्थितित्वेन नित्यलीला विराडान्त एव ताभ्यामिव सर्वाभीष्टसिद्धि र्भविष्यत्येवेत्यलमनयावतारलीलाया,सत्यं सत्यं एवं चेत्तर्हि स्थालीपुलाकन्यायेन सर्वासामेव लीलानामसत्यत्वमेव कथं न स्यात्। भो ! स्यादेव यतः कंसबधात् प्रचीनानामिति व्याख्यांतत् प्रत्याख्यानात् लीलात्वहानाच्चेत्युक्तत्वाच्च।।

किं च एका नित्या अपरा अवतारलीलात्वेनोक्ता अतो नित्यानु योगितया अनित्यत्वमुक्तमेवेति परामृश्य साधुभिः भोगो नित्यस्थिति लीलायानुसंहरते कदाप्यनेन पद्मपुराणीयवचनेन लीलामात्रस्यैव तथात्वं कृष्णसन्दर्भे दर्शितमेवेति किं पिष्टपेषणया,

---

वैसा ही कहा है। हम तो कुछ ही लीलायें मायिक मानते हैं तथा सभी लीलाओं को मायिक नहीं मानते हैं, परोढ़ा उपपति को सुस्पष्ट रूप से ही नहीं मानता हूँ। कालियदमन आदि को भी भक्त दुःखद होने के कारण सामयिक मानते हैं, अवतार लीला कदाचित् एवं अस्थिर होती है, तब तो अप्रकटधाम, भोगधाम है, वहाँ पर स्वारसिकी मन्त्रमयी लीला भेदाभेद के द्वारा नित्य होकर होगी एवं विराडान्त समस्त लीलाओं की स्थिति उसी प्रकार होगी, तब तो अवतार लीला की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, तब तो सत्य ही है, स्थाली पुलाक न्याय से अर्थात् एक दाल को देखकर ही अनुमान लगा लिया जाता है कि सम्पूर्ण दाल बन गयी। सभी लीलायें ही अनित्य होंगी, आपने तो कंस बध से पूर्व-पूर्व की लीलाओं को ही अनित्य कहा है।।

और भी एक लीला नित्य है, अपर लीला को अवतार लीला कहा गया है, अतः नित्यानुयोगी रूप से अनित्य कहा है, इस प्रकार विचार करने पर साधुगण के लिए कर्त्तव्य ही है कि वे

ननु धन्याः स्थ भो ! धन्या यतः श्रीकृष्णसम्बन्धिलीलाजातं कदाचित्सत्यत्वेन कदाचिदसत्यत्वेन कदाचिन्नित्यत्वेन च व्याहरथ तत्रापि कदाचित् कासाञ्चित् कदाचित् सर्वासामेवेति भवदाशय एवास्माभिर्दुर्बोधः। न च परढ़ोपपतित्वं भवदसम्मतं प्रत्युत परमाभीष्टत्वेनैव मुहुः स्थापितत्वात् नित्यलोकेऽपि तयोः स्थितिश्च भवतैव स्थापिते सति वद कथं मायिकत्वं वक्तुं शक्यते। ननु परढ़ोपपत्योर्नामापि मया अश्लीलत्वापरपर्य्यायत्वाच्च नोच्चार्य्यते, यथोक्तं पतिश्चोपपतिरितिव्याख्यायां पतिः पुरः वनितानां द्वितीयस्तु ब्रजवनितानामिति द्वितीयस्त्ववतारावसर एव इत्यादिना द्वितीयशब्देनैवोक्तं नतूपपतिशब्देन उपसंहितं च अथ प्रोषितभर्त्तृका इत्यत्र हि यस्य नामाप्यश्लीलतया नोच्चार्य्यते इत्यादिना श्रीकृष्णसन्दर्भे तु 'मत्कामा रमणं जारमि' त्यस्यव्याख्यातव्यं तदेवमेवोक्तं 'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापीति' जारबुद्ध्यापीति या जारवादिनः कल्पना सा तु असत्यैव अनर्हत्वादिना तथात्व पूर्वापराननुसंधायिनमत्रेत्यत्र धर्म-व्यतिक्रमो दृष्ट इत्यभ्युपगमवानङ्गीकृत्येऽपि तासां राजानूदितवहिर्मुखमततत्परदारत्वे परितोषमप्राप्य तदपि खण्डयन्सिद्धान्तान्तरमाहगोपीनामिति इत्यादिभि राक्रुष्टुंचेति।

विचार करें, नित्यलीला स्थिति में भोग का समन्वय करते हैं, पद्मपुराण के वचन से लीलामात्र को ही नित्य मानते हैं, श्रीकृष्णसन्दर्भ में आपने लिखा है, अतएव पिष्टपेषण से प्रयोजन ही क्या है ? आप सभी धन्य हैं, श्रीकृष्ण की एक लीला को नित्य सत्य मानते हैं, कभी तो सत्य मानते हैं, कभी असत्य, कभी नित्य, कभी किसी को अनित्य यह तो आपका आशय है, यह हमारे लिए दुर्बोध्य है, परोढ़ा एवं उपपति आपके सम्मत नहीं है, किन्तु आपने ही तो बारम्बार परम उपादेय रूप से उन दोनों को प्रतिपादन किया है। कहिये कैसे आप उन लीलाओं को मायिक कह सकते हैं ? परोढ़ा उपपति शब्द द्वय अश्लील दोषयुक्त है, अतः उन दोनों का उच्चारण हम कर नहीं सकते, उज्ज्वलनीलमणि की

तत्कथं मया नित्यलीलायां तस्य स्थितिर्वक्तव्या:, उक्तं चेदुपन्यस्यतां पूर्वापराननुसन्धयिन् ! श्रृणु सावहिततया भक्तिसन्दर्भे रागानुगाप्रकरणे कामाद्द्वेषादित्यस्य व्याख्यायां परकीयोपपत्यो र्निर्दूषणत्वे यथा भवता स्थापितं तत्सर्वं पूर्वमेव दर्शितं विशेषतस्तत्रैवांते श्रीमदुद्धवादीनां परमभक्तानामपि गोपीभावलिप्सा श्रूयते। 'एता: परं तनुभृतो भुवि गोपबध्व: इति', 'आसामहो' इत्यादि। किं बहूना, श्रुतीनामपि तद्भावो बृहद्वामने प्रसिद्ध: यतस्तत्र श्रुतयोऽपि तद्गणान्त: पातिनो बभूवुर्नित्यसिद्धगोपिकाभावाभिलाषिण्य: सत्य इति प्रसिद्धिरित्यादि तथैव श्रुतिभिरपि श्रीकृष्णनित्यधाम्नि ता दृष्टा इति बृहद्वामने प्रसिद्धमिति तत्प्रघट्टकश्च कृष्णसन्दर्भे यथा–'आनन्दरूपमिति ते यद्विदन्ति पुराविद:। तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि न:। श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वलोकं प्रकृते: परम्। केवलानुभवानन्दं दिव्यमक्षरमव्ययम्। यत्र गोवर्द्धनो नाम

व्याख्या में आपने 'पतिश्च उपपति' इसमें 'पति: पुरवनितानां उपपति, ब्रजवनितानां' ऐसा कहा है, पुन: द्वितीय–अवतार के समय होता है, इस प्रकार द्वितीय शब्द से उपपति का बोध होता है, 'प्रोषितभर्त्तृका' यहाँ पर भी आपने स्वीकार किया है। जिसका नाम अश्लील मानकर आप उच्चारण नहीं करते, उसको भी आप बारम्बार कहते हैं, श्रीकृष्णसन्दर्भ में 'मत्कामा रमणं जारं' (भा० ११।१२।१३) तथा (भा० १।२९।३१) 'तमेव परमात्मानं जार बुद्ध्यापि सङ्गता' यहाँ पर जारबुद्धि के द्वारा भी जारवादों की कल्पना। वह असत्य एवं अयोग्य ही है। पूर्वापर अनुसन्धान के अभाव से परीक्षित ने पूछा था कि–यदुपति ने परदाराभिमर्शन किया। श्रीशुकदेवजी ने कहा–उचित ही तो है, किन्तु श्रीकृष्ण तेजीयान् हैं, धर्म का लंघन उनसे हुआ, इसमें कोई दोष नहीं है, राजा परदारत्व में सन्तुष्ट नहीं थे, इसलिए सिद्धान्त कहना पड़ा, विरक्ति के साथ आपने कहा कि वे गोपी और गोपियों के पति तथा सभी के पति एवं अध्यक्ष हैं, सभी के हृदय में उनका निवास है वाह्य क्रीड़ा में दोष क्या है ? तब मैं किस प्रकार से परकीया

सुनिर्झरदरी वृतः। रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंयुतः। यत्र निर्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा। रत्नबद्धोभयतटा हंसपद्मादि संकुला शश्वद्रासरसोन्मत्तं यत्र गोपी कदम्बकं। 'ततः कदम्बकमध्यः किशोराकृतिरच्युत' इति। न च ता गोपानां पत्न्यो न भवन्ति किंतु गोपजातिस्त्रिय इति वाच्यं, अग्रवेदानां 'यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामतन्त्रेण गोपिका। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनिनस्तथेति' प्रार्थनानन्तरं भगवता प्रार्थनानुरूप-वरदानात्। यथा 'जारभावेन सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकमि' त्यादि। श्रीगोविन्दवृन्दावननाम्नि बृहद्गौतमीये श्रीकृष्णस्य श्रीमुख-वाक्यस्य श्रीकृष्णसन्दर्भे प्रमाणितत्वात् तद्यथा-इदं वृन्दावनमित्यारभ्य अत्र या गोपपत्न्यश्च निवसन्ति ममालये। 'योगिन्यस्ता मया नित्यमिति' न वात्र व्याख्यान्तरावकाशलेशोऽपि 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति पाणिन्यनुशासनात् 'पत्नी तत्कर्त्तृकयज्ञस्य

की नित्य स्थिति को कहूँगा ? सुनो तो पूर्वापर का अनुसन्धान भी करो, आपने श्रीभक्तिसन्दर्भ के रागानुगा प्रकरण में कहा है कि परकीया एवं उपपत्य दोनों ही निर्दुष्ट हैं। इस प्रकार आपने पूर्व में जो भी कहा है उस सभी को दिखलाया है। विशेषकर इसके अन्त में परमभक्त श्रीउद्धव प्रभृतियों को गोपीभाव लिप्सा से देखा गया है, (भा० १०।४७।५८) 'एतापरं तनुभृतो' (भा० १०।४७।६१) 'आसामहो' उसके द्वारा श्रीउद्धव ने निज भाव को प्रकट किया है॥ श्रुतिगण ने भी प्रार्थना की है। बृहद्वामनपुराण में लिखित है, उसके अंश को श्रीकृष्णसन्दर्भ में आपने उठाया है, आपका जो आनन्द रूप है, उसको देखना चाहते हैं, यदि वर देना है तो उसे दिखाओ, सुनकर आपने अप्राकृत रूप एवं लोक को दिखाया है, गोवर्द्धन, कालिन्दी, गोपी तथा गोपियों के मध्य में किशोराकृति श्रीगोविन्द हैं। कह सकते हो कि गोपीगण-गोप पत्नी नहीं हैं, किन्तु गोप जाति की स्त्रियाँ हैं, इस प्रकार से कहना उचित नहीं है, आगे प्रकरण में जिस प्रकार कामतन्त्र से गापिकाओं ने आपका भजन किया है, उसी प्रकार से आपको रमण मानकर भजन करने

फल भोक्तीति' सिद्धान्तैरैक्यरूपेणैव तत्तल्लीलाया नित्यस्थिते-रेवास्मद्वचनमेव प्राश्यामो नान्यथा तदपि श्रुत्वा न विस्मरत यथा श्रीकृष्णसन्दर्भे एकसप्तत्युत्तरशततमे वाक्ये तदेवं स्वारसिकी अप्रकटलीला दर्शिता। अथाप्रकटलीले द्वे अप्यर्थ विशेषेणाह 'गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्। योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीड़नेनेहदेहभाक् (१७१), अतः अन्तः स्थितः यथा स्यात्तथा गोपीनां तत्पतीनां तत्पतिम्मन्यानां क्रीड़नदेहभाक् सन् तेषामेव गोकुलयुवराजतया अध्यक्षश्च सन् यश्चरति स एष प्रकट लीलागतोऽपि भूत्वा सर्वेषां विश्ववर्त्तिनां देहिनामपि क्रीड़नदेहभाक् सन् तेषां पालकत्वेनाध्यक्षोऽपि सन् चरति तस्मादनादित एव ताभिः क्रीड़ाशालित्वात् सिद्धावत्र शक्तिरूपाणां तासां सङ्ग एव स्तुत एव परदारदोषोऽपि नास्ति। एतत्पद्यव्याख्यानगोपालचम्पूमध्ये च अंतरङ्गान् प्रति त्वयमर्थः गोपीनां काश्चिदूव्यूढ़ाः काश्चिदव्यूढ़ाः इति द्विधात्र प्रसिद्धा वस्तुतस्तु नित्यसिद्धानां सर्वतः श्रेयसीनां प्रेयसीनां अन्यासामपि

की वासना जागृत हुई। प्रार्थना से भगवान् ने सन्तुष्ट होकर वर दिया, कहा-जार भाव से जो स्नेह होता है, वह सबसे ठोस तथा सबसे अत्यधिक भी है। श्रीगोविन्दवृन्दावन नामक वृहद्गौतमीयतन्त्र में श्रीकृष्ण के श्रीमुख से वचन इस प्रकार हैं, यहाँ पर जो भी गोप कन्यायें हैं, वे सब ही मेरे साथ संयोग सम्पर्क रखती हैं, यहाँ पर व्याख्यान्तर की सम्भावना ही नहीं है, पति शब्द का उत्तर 'न' होता है, यहाँ कर्मसंयोग से, पाणिनि के सूत्रानुसार सिद्धान्त कौमुदीकार कहते हैं, पत्नियों ने यज्ञफल माँगा, ये तो धर्मपत्नी गोपिकायें श्रीकृष्ण की प्रेम पत्नियाँ हैं धर्मपत्नी नहीं हैं, उचित है, सब कुछ स्वीकार करेंगे, यदि प्रकट-अप्रकट लीला का सुन्दर समाधान हो तो यह सुनकर विस्मित न हों, (श्रीकृष्णसन्दर्भ के १७१ अध्याय) वाक्य में लिखा है, इस प्रकार स्वारसिकी अप्रकट लीला का वर्णन हुआ। अप्रकट लीला को दो अपि अर्थ विशेषण के द्वारा कहते हैं, गोपियों तथा उनके पतियों के हृदय में जो निरन्तर अवस्थित हैं अर्थात् पतिम्मन्य के हृदय में भी निरन्तर विराजित हैं,

नानाभाव समृद्धानां कुमारीतरुणीवृद्धानां तथा यथा सम्भवं तासां तदुपलक्षिततया कुमारततीनां सर्वेषामपि तदेकजीवानां जीवानां यानि तत्तदुचितता विस्ताराय तदीयक्रीड़ासाधनदेहानि तदायत्तः सन् अन्तः शब्दाभिहिते महिते जगन्नेत्रादन्तर्हिते सदाभवे स्ववैभवे यश्चरति क्रीड़ति स एष एवाध्यक्षः कदाचिज्जगत्प्रत्यक्षः सन् क्रीड़ति। तस्मान्निजप्रेयसीभिः समं अनादित एव मिथुनतेति कथनादौपपत्यं नोपपत्त्यर्हं किंतु परमव्योमाधिपलक्ष्मीनारायण-वद्दाम्पत्यमेव तदर्हंभवतीति।।'

किंच सर्व्वे र्ज्ञातश्रीकृष्णविषयकशक्त्यनन्तरं यदि तासां अन्यभर्त्तृकात्वं ब्रजे मिथ्यात्वेन व्यक्तं स्यात्तदैव जुगुप्साव्यत्ययेन रसः संपद्यते, तस्माद् ब्रजसभायामपि नव्यमित्यादिनातद्दुर्वादस्य पौर्णमासीदेव्यो द्वारा यत्समाधानं विहितं तदपि महान्विहितमेव विप्रादिसाक्षिक श्रीमन्नन्दादिबन्धुवर्गसमाधानपूर्वकं पितृभिरन्य-गोपेभ्यो वितीर्णत्वात् यदि चोभयमुभयमर्पितयोऽनुगानां

'क्रीड़नेनेह भाक्' क्रीड़ा के लिए गोकुल युवराज होकर तथा सभी के पालक एवं अध्यक्ष बनकर विहार करते हैं। अतएव अनादिकाल से ही उन गोपियों के साथ श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते रहते हैं, स्वरूपतः वे सभी श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति हैं, अतएव श्रीकृष्ण के साथ संग होना ही स्वाभाविक है, परदारता दोष भी नहीं है, इस पद्य की व्याख्या श्रीगोपालचम्पूः में भी है, वह इस प्रकार है-गोपियों में कोई तो विवाहित तथा कोई अविवाहित हैं, वस्तुतः नित्यसिद्ध प्रेयसीवर्ग एवं अपर नाना भावनाशुद्ध कुमारीवर्ग, तरुणी, वृद्धवर्ग एवं उन सबके पतिवर्ग को यथोचित स्थान प्रदान करने के लिए गोलोक में जो क्रीड़ा करते हैं वे अध्यक्ष हैं, वह भी कदाचित् जगज्जन नयन समक्ष में प्रत्यक्ष होकर क्रीड़ा करते हैं। अतएव निज प्रेयसीगण के साथ अनादि से ही मिथुनभाव होने के कारण औपपत्य की सम्भावना ही नहीं है, किन्तु लक्ष्मीनारायण की भाँति परम दाम्पत्य ही होना उचित है।।

और भी सर्वत्र प्रसिद्ध श्रीकृष्ण प्रेयसी रूप से विज्ञप्त होने के पश्चात् ब्रज में अन्यत्र विवाहित होने का प्रचार मिथ्या होगा,

श्रीमन्नन्दादीनां समक्षमेव तदुद्वाहो निष्पन्नः तर्हि पुनरन्यकर्त्तृक वचनादिव तत् सर्वैतैरेव कथं मिथ्येति प्रतीयतां। न च भ्राताकर्त्ता प्रत्यक्षीकृतपदार्थः पदार्थन्तरत्वेन ब्रह्मणाऽपि ग्राहयितुंन शक्यः, कृतनिश्चयस्य तस्य स्वस्मिन् प्रामाण्यनिश्चयात् च यथाकथञ्चिद्देव्या वचनेन समाधातव्यं। तथापि पुनरुद्वाहय सर्वथा तदसस्मतिरेव भावयित्वा वा देव्या स्वकल्पितगोपीनां दर्शनया सर्वेषामेव भ्रान्तिदूरीकरणाय ताभिः सह श्रीकृष्णेन विवाहे श्रीब्रजराजस्य सम्मतिः स्यादेवेति वक्तुं युज्यते। स्वयमेव निष्पादितपूर्वव्यवहारस्य मायाया वचनादेवाप्रमाणी-कर्त्तृमशक्यत्वात्। न च कृष्णेन परमेश्वरत्वात्तद्दोषाणामग्रहणात् स्त्रीरत्नानि स्वीकृतान्येवेति वाच्यं। पूर्वावतारेनैव दाशरथिना जानक्याः कृतपरीक्षाया अपि रजकमुखाद्दुर्वादश्रवणमात्रादिव परित्यागात्। ननु तदवतारस्तथैव मर्यादापरत्वमेव तस्यासीत्। अस्य दुर्ल्लीलशेखरता तन्मर्य्येव सर्वासु लीलासु प्रसिद्धैव।

तब घृणा नहीं रहेगी और स्वच्छ शृंगार रसास्वादन होगा। अतः ब्रजसभा में भी 'नव्य' यह शब्द कहकर परबधू अपवाद का समाधान पौर्णमासी देवी के द्वारा हुआ, वह समाधान उचित ही रहा, किन्तु वह भी सुमहान् असमाधेय ही रहा, कारण पूर्व विवाह के समय सर्वज्ञ ब्राह्मणों को बुलाकर श्रीनन्द महाराज एवं उनके बन्धुवर्ग के समक्ष में कन्याओं के पिताओं ने अन्य गोपों के साथ निज-निज कन्याओं का विवाह कार्य सम्पन्न किया था। यह तो रहा विषय, यदि वरपक्ष, कन्यापक्ष, सामाजिक बन्धुवर्ग एवं श्रीनन्द महाराज के समक्ष में पूर्व विवाह विधिवत् निष्पन्न हुआ, गोपों की वे सभी धर्मपत्नियाँ बन गयीं, तब तो अन्य के वचन से ही सबके-सबही व्यक्ति उस कृत्य को मिथ्या समझ लेंगे ? प्रत्यक्ष पदार्थ को ब्रह्मा भी भ्रम कहकर अन्य पदार्थ रूप से ग्रहण कराने में समर्थ नहीं हैं, निश्चित पदार्थ उन सबका निश्चय है, प्रामाण्य भी स्वयं में है, तथापि पौर्णमासी देवी को सभी व्यक्ति मानते हैं, इससे उनके कहने पर वैसा समाधान कर लेना उचित

सत्यं श्रीकृष्णस्य मर्य्यादापरता परता स्वयमेव न कैश्चिदृष्टा अपि मुहुः स्थाप्यते। चेत्स्वयमेवेदानीं पुन र्दुलीलतांगीक्रिंयते। इष्टापत्तिरास्माकीनैव। एतावता कष्टकल्पनेन न किमपि प्रयोजनं। यथास्थितमेवास्तु तत्सर्वमित्यलं विस्तरेणेति दिक्। यतु मुन्यादिना सत्यत्वे व्यक्तीकृतास्ता गोप्यः स्वरूपेण रमणं प्रापु र्मायाकल्पिता गोप्यस्तु स्वस्वपतिमित्येव श्रीभगवत्सम्मतं, दृश्यते च संज्ञाच्छायादिवत् कल्पनायामेव व्यक्तत्वमेव परिणामः सर्वत्र इत्युक्तं। तेन स्वस्य कारुण्यमेव व्यक्तीकृतं। पूर्वं यदा यदा तासां व्रतलोपप्रसंगप्राप्त आसीत्तदा तदैव मायैव समादधात्। अनेन सर्वास्वेवं श्रीकृष्णेन भवन्मते परिणीतासु सतीषु पूर्ववोढ़ारोगोपसंज्ञा–गृहस्थनाशात् किं कुर्य्युरिति परामृश्यानुकंपया मायिक्यो गोप्यस्तेषां भार्य्यात्वे भगवन्

होगा, तथापि पौर्णमासी देवी ने कहा कि सभी का विवाह करवाओ, किन्तु सभी की असम्मति रही, उसे देखकर पौर्णमासी देवी ने निज कल्पित गोपियों को दिखाया और सबका भ्रम भी नष्ट हो गया तथा श्रीकृष्ण के साथ विवाह प्रस्ताव में श्रीनन्द महाराज की सम्मति भी हो गयी, ऐसा कह सकते हो, किन्तु स्वयं सम्पादित विवाह नामक पूर्व प्रसंग का देवी वचन से अप्रामाण्य स्वयं कर देना सम्भव नहीं है, यदि कहो कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं तथा स्त्रीरत्न को जिस किसी स्थान से लेना आवश्यक है, इसलिए श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया है कि इस प्रकार से कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इसके पूर्व अवतार में श्रीरामजी ने सीताजी से अग्नि परीक्षा लेकर ही उनको ग्रहण किया, पश्चात् रजक के मुख से अपवाद को सुनकर ही उनका परित्याग करना पड़ा। कह सकते हो कि–वह अवतार मर्यादारक्षण के लिए हुआ था तथा यह श्रीकृष्ण अवतार दुर्ल्लील शेखरता को प्रकट करने के लिए ही हुआ है तो सकल लीला सुस्पष्ट है॥

कहना सत्य है, श्रीकृष्णचरित में किसी ने मर्यादा पालन को नहीं देखा है, इसलिए बारम्बार उनके चरित्र में विवाह के द्वारा मर्यादा रक्षण की व्यवस्था कर रहे हैं, ऐसा होने पर श्रीकृष्ण

मतज्ञेन भवता निर्दिष्टत्वात्। न च तासां वोढ़ारो गोपाः यथा कथञ्चित् प्रबलायामेव मायिकी गोपी स्तेभ्यः समर्प्य प्रतारिताः अन्ततोऽप्रकटमयीमागमनकाले ते सर्व एव व्यापादिता इति वाच्यं। श्रीभागवतामृतधृतपद्मपुराणीयगद्येषु 'अथ तत्रस्था नन्दादयः सर्व एव ब्रजवासिजनाः पुत्रदारादिसहिता दिव्यरूप-धरा विमानमारुह्य परमं वैकुण्ठलोकमवापुरि' त्युक्तेः सर्वेषामेवाविशेषेण ब्रजवासिपुत्रदारादि साहित्येनैव तदारोहणस्य सम्मतत्वात्॥

किंचात्रैव सन्दिहानाः स्म एकस्मिन्नेव ग्रामे द्वयोरपि सार्वदिकस्थितौ सत्यां मातरपितरादीनां श्वश्र्वादीनां वा कीदृशोव्यवहारः समजनि। द्वयो र्नाम-रूपादेर्भेदाभावात् पतिभिः सह सङ्गेसति अपत्यादेरवश्यं भावित्वात् तत्तद्व्यवहारनिर्वाहणाय

स्वयं ही दुर्ल्लील हो जायेंगे। हम इसे स्वीकार लेते हैं, तथापि विवाह तो होगा, किन्तु कष्ट कल्पना का प्रयोजन ही क्या है ? स्वाभाविक जिस प्रकार है वह ही शोभन है। मुनि प्रभृति के द्वारा सत्य प्रकट होने पर गोपीगणों ने निज स्वरूप से ही निज रमण श्रीकृष्ण को प्राप्त किया, माया कल्पित गोपीगणों ने निज-निज पतियों को प्राप्त किया। यह तो भगवत् सम्मत है, संज्ञा एवं छाया की जैसी गति हुई, कल्पना से ही परिणाम व्यक्त होता है, इससे भगवान् का कारुण्य भी प्रकटित हुआ। पहले जब-जब उन सभी के व्रत भंग का प्रसंग हुआ, तब-तब उसी समय ही माया ने सबका समाधान किया, इससे आपके मत में श्रीकृष्ण के द्वारा परिणित समस्त गोपियाँ हो गयीं, किन्तु गोपियों के पूर्व स्वामियों के गृहस्थधर्म तो नष्ट हो गये, इसका समाधान एवं विचार परामर्श के द्वारा करें। मायिक गोपियाँ तो अवश्य पूर्व विवाहित गोप पतियों के साथ ही रहेंगी, भगवान् ने इसको स्वीकार भी कर लिया है, विवाह मात्र विशुद्ध (परिकर-पार्षद) गोपिकाओं को लेकर ही रहा, यदि ऐसा कहो कि-पृथक् विवाहित गोपगण प्रबल माया से प्रतारित हो गये थे, अप्रकट के समय वे सभी गोपियाँ नष्ट हो गयी थीं ऐसा भी नहीं कह सकते। श्रीभागवतामृत

पित्रादीनां सत्यत्वे मायिकत्वे च युगपद् विद्यमानतायाः आवश्यकत्वात् एतैर्यादृशं सरसावहत्वं निर्व्यूढ़तैरेतद्विचार्य्यते न वेति। न चापत्यादि र्न भावी लक्ष्म्यो इवेति वाच्यं लक्ष्मीरेव सीतात्वेनावतीर्णा विप्रादिसाज्ञिकतया मातृपितृभ्यां वितीर्णा सती प्रजाः सुतेऽस्मैव एवं पार्वत्यापि प्रत्युत लोकवल्लीलाकैवल्यात्तदभावेऽमालरूपता लोकशास्त्रप्रसिद्धा इति बहव एव पल्लक्षाः सतीत्यवने रनुलाक्तसंज्ञाच्छायादृष्टान्तश्चात्र न सङ्गच्छते। छायाया अपि सूर्य्यान्यदीयेन संभोगाभोगाभावात् भवता तु तत्तन्नामरूपतया सर्वथा अभिन्नास्ता गोपेभ्यो वितीर्णा इत्येतदंशस्य ततोऽपि वैलक्षण्यात् अनेन रावणरुद्धसीतापि व्याख्याता। ये च ललितमाधवीयप्रक्रियां समृद्धिमति मूलोदाहरणदृष्टमदृष्टं विधाय तदुदाहरणत्वे 'सख्यस्ता मिलिता' इति स्वाभिमतत्वेन उक्ता वाचो युक्ते विलासः सोऽप्यविचारतयैव यत उज्ज्वलनीलमणौ ग्रन्थे क्रीड़ाशयानुसारिण्यां टीकायां व्याख्यातं यथा–'दुर्ल्लभालोकयोर्यूनोः

धृत पद्मपुराण के गद्य से ऐसा प्रतीत होता है कि अप्रकट लीला के समय नन्दादि एवं सभी गोपगण पुत्र, पत्नीगण के सहित विमान में आरूढ़ होकर श्रीवैकुण्ठलोक को गमन कर गये, इससे स्पष्ट होता है कि–सकल ब्रजवासीगणों ने निज–निज पत्नी, पुत्र के साथ ही श्रीवैकुण्ठलोक को गमन किया था।।

इस प्रसंग से हम सभी सन्देह में पड़ जाते हैं कि एक ग्राम में सब प्रकार से एक ही साथ में माता–पिता, सासु–श्वसुर प्रभृति सत्य, असत्य वर्ग के होने से कैसी स्थिति होगी, दोनों वर्गों के नाम, रूप में भेद नहीं है, पति के सहवास से पुत्र एवं कन्या उत्पन्न होने की भी सम्भावना होगी, उस व्यवहार का निर्वाह करने के लिए पिता प्रभृति के सत्य, मिथ्या ज्ञान एक साथ होने लगेंगे, इससे परिवेश कैसा मधुर व्यवहारपूर्ण होगा, उसका भी विचार करना आवश्यक है, यदि कहो कि उन सबकी सन्तति नहीं होगी, लक्ष्मी की सन्तति नहीं है, श्रीसीताजी तो श्रीलक्ष्मीजी रहीं, किन्तु विप्राग्नि साक्षी करके

पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः । उपभोगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान् ।' अस्यार्थः-वियुक्तयोर्विरहिण्योर्यूनो र्नायिकानायकयोरेव पारतन्त्र्याद्धेतोरेव दुर्ल्लभालोकयोर्यउपभोगस्तस्यातिरेक अधिक्यं स समृद्धिमान् संभोगः कीर्त्यते संपन्नादिसंभोगे दुर्ल्लभे भोगे दुर्ल्लभालोकत्वस्य द्वयोः पारतन्त्र्यं न कारणं किंतु एकस्या नायिकाया एव, तस्या हि श्वश्रूपतिम्मन्यपित्रादीनामधीनत्वं तैर्वार्यमाणत्वं न तु नायकस्य श्रीकृष्णस्य तस्य हि स्वपित्रादीनामधीनत्वेऽपि न तैः स्त्रीप्रसङ्गे वार्य्यमाणत्वं, नायिकायाः श्वश्रूपतिम्मन्यादिभिश्च वार्य्यमाणत्वेऽपि न तेषामधीनत्वं अत्र तु 'दग्धं हंतेति' 'तवात्र परिमृग्यते' त्युदाहरणद्वये द्वयोरेव राधाकृष्णयो र्ललितमाधवोक्त-कथानुसारेण रुक्मिण्या अधीनत्वं वार्य्यमाणत्वं च। एवं चाधीनत्व वार्य्यमाणत्वहेतुके दौर्ल्लभ्ये सत्युपभोगाधिक्यं युक्तिसिद्धमेव।

माता-पिता ने विवाह किया और सन्तति भी हुई, इस प्रकार ही श्रीपार्वतीजी की भी हुई, लीला लोकवत् होती है, छाया का दृष्टान्त सर्वत्र नहीं लगता है, छाया में तो बात ही दूसरी रही, सूर्य से भिन्न के साथ में छाया का विवाह नहीं हुआ, आपने तो एक ही नाम की गोपी का विवाह अन्य के साथ में करवाकर उसे मायिक बताकर पुनः श्रीकृष्ण के साथ में उसका विवाह करा दिया है। इससे रावण अबरुद्धा श्रीसीता का प्रकरण भी सुस्पष्ट हुआ। निज पोषण के लिए ललितमाधव की प्रक्रिया को उठाकर समृद्धिमान् शृंगार की पुष्टि, विवाह में की गयी है, वह भी बिना विचार से ही कह दिया गया है, कारण उज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ की टीका में आपने उसकी व्याख्या की है, 'दुर्ल्लभालोकयो र्यूनोः पारतन्त्र्याद्वियुक्तयोः। उपभोगातिरेको यः कीर्त्यते स समृद्धिमान्' इसका अर्थ इस प्रकार है-वियुक्त विरही नायक-नायिका का पराधीनता से परस्पर मिलन नहीं हो सकता है, जब निर्बाध सुअवसर मिलन के लिए होता है, उसको समृद्धिमान् संभोग कहते हैं, सम्पन्नादि संभोग में दुर्लभ भोग में दुर्लभ मिलन दोनों के लिए पराधीनता बाधक नहीं है, किंतु एक नायिका के लिए बाधक है, नायिका पतिगृह में रहती है,

तदाधिक्यं ललितमाधवकथायामेव द्रष्टव्यं। पारतन्त्रयादित्यनेन द्वयो र्मानहेतुकं दुर्ल्लभालोकत्वं व्यावृत्तं पारतन्त्र्या-पदोपादानाद्वियुक्तयोः पारतन्त्र्यरहितयोरित्यर्थः इति व्याख्या तु न सङ्गच्छते। 'दग्धं हतं दधानयेति' तवात्र परिमृग्यते' त्युदाहरणद्वये तयोः पारतन्त्र्यराहित्यादर्शनात् प्रत्युतपारतन्त्र्यपरमावधित्वमेव तत्कथायामेव दृष्टं। यत्र दत्तशपथापि नववृन्दापि रहस्यं वक्तुं न प्रभवतीति। पारतन्त्र्यादिहेतोः वियुक्त योरित्यर्थोऽपि नात्र घटते। वियुक्तयोरिति वियोगोऽयं सुदूरप्रवास भवोऽवश्यं व्याख्येय एव। स च सुदूरप्रवासो मथुरागमनरूप एक एव। तत्र पारतन्त्र्यादिति कारणोपादानमव्यावृत्तिकमकिञ्चित् करमिवेति।।

किंचायं समृद्धिमान् संभोगो लक्षणोदाहरणदृष्ट्या ललितमाधवोक्तकथाक्रमेण प्रकटलीलायामेव तत्रापि सकृदेव भवति। नित्यत्वं त्वस्य प्राक् प्रदर्शितमेव। एवं च सुदूरप्रवासान्ते

सासु-श्वसुर पतिम्मन्य गोपगण, माता-पिता प्रभृति होते हैं, उल्लेख है, रासलीला के अभिसार के समय कुछ गोपियों को रुद्ध किया गया था, किन्तु श्रीकृष्ण के लिए तो कोई बाधा नहीं है, नायक श्रीकृष्ण, माता-पिता के अधीन तो अवश्य हैं, किन्तु स्त्री विलास के लिए वे सभी बाधा नहीं देते हैं और नायिका पतिम्मन्य गोप सासु-श्वसुर प्रभृति के द्वारा बाधा प्राप्त होने पर भी उन सभी के अधीन हैं। यहाँ पर 'दग्धं हन्तेति' 'तवात्र परिमृग्यते' इन दोनों उदाहरणों में श्रीराधा-कृष्ण दोनों की वार्तायें हैं। ललितमाधव की कथा के अनुसार रुक्मिणी में लक्षण घटित होता है, कारण रुक्मिणी अधीन भी हैं इन्हें धर्म से एवं परिजन से बाधा भी प्राप्त होती है, इस प्रकार दुर्लभ विषय में अधीनता एवं बाधा इन दोनों की ही अवस्था रसास्वादन के लिए चरम उपयोगी है, अधिक क्षुधा लगने पर भोजन स्वादिष्ट लगता है, इसका आस्वादनाधिक्य ललितमाधव की कथा से समझना आवश्यक है। पारतन्त्र्य शब्द से प्रतिष्ठा हेतु परतन्त्रता को ग्रहण न करे, पारतन्त्र्यात् यह उपादान है, इससे वियुक्त होना, परतन्त्रता

दाम्पत्ये सत्यपारतन्त्र्ये एवं समृद्धिमान् संक्षिप्त–संकीर्ण–संपन्ना एव औपपत्ये इति व्याख्या प्रसिद्धिर्नैव ग्रन्थकृदाशयस्पर्शिनीति बुद्ध्यते। पारतन्त्र्याभाव एव दाम्पत्य एव समृद्धिमानिति यदि तेषामाशयस्तर्हि 'सख्यस्ता मिलिता' इति स्पष्टमेव पारतन्त्र्याभावदाम्पत्य निरूपकपद्यमनुदाहार्य 'दग्धं हंत दधानयेति' 'तवात्र परिमृग्यतेति' औपपत्यपारतन्त्र्यमयं पद्यद्वयं कथमुदाहरणत्वेनोपन्यस्तं। तदा हि विवाहप्रसङ्ग एव नास्ति, सूर्य्यदत्ता सत्राजितः कन्यैवाहमित्याभिमानवत्याः श्रीराधायाः श्रीकृष्णे पूर्ववदौपपत्यभाव एव। पारतन्त्र्यस्य तु तदानीं परमावधिः स्पष्टएवेति कियानपन्हवो विधेयः। ननु सख्यस्ता इत्यादौ किमतः परं कर्त्तव्यमत्रास्ति मे इति वृन्दावनेश्वर्य्या वाक्येन पारतन्त्र्याभावमये दाम्पत्ये एवानन्दविशेष एवावसीयते। मैवं तत्रैव तदनन्तरमपि तया पुनश्चोक्तं 'या ते लीला पदपरिमलोद्गारिवन्या परिता, धन्या क्षौणी विलसति वृता

रहित नायक–नायिका, इस प्रकार से अर्थ करना उचित नहीं है, 'दग्धं हन्त दधानयेति' तवात्र परिमृग्यते' इन उदाहरणों में दोनों के पारतन्त्र्य राहित्य की कथा नहीं है, किन्तु पारतन्त्र की चरमावधि को ही उस कथा के माध्यम से प्रकट किया गया है, जहाँ पर वृन्दा शपथ देने पर भी रहस्य को स्पष्ट व्यक्त नहीं किया गया। वहाँ परतन्त्रता के कारण दोनों वियुक्त होते हैं, ऐसा कहना संगत नहीं है। वियुक्त–शब्द से सुदूर प्रवास ही जानना होगा, वह सुदूर प्रवास तो एकमात्र मथुरा गमन ही सम्भव है, वहाँ पर पारतन्त्रात् इसकी व्याख्या में कारण को दिखाना व्यावृत्ति के लिए उपयुक्त नहीं है और अप्रयोजन की भाँति भी है॥

और भी समृद्धिमान् संभोग के लक्षण एवं उदाहरण को देखकर ललितमाधवोक्त कथा क्रम से सामंजस्य प्रकट लीला में होता है भी तो एकबार ही। लीला की नित्यता तो श्रीजीवगोस्वामीजी के मत से दिखलायी है एवं सुदूर प्रवास के पश्चात् पारतन्त्र्य के अभाव से समृद्धिमान् संभोग है और औपपत्य

माथुरीमाधुरीभिः तत्रास्माभिश्चटुलपशुपीभावमुग्धान्तराभिः। 'संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासिवेणुविहारम्' इत्यनेन वृन्दावने गोपपत्नीभिश्चटुलाभिस्त्वमपि अभिसारार्थं वेणुवादनपरः सन् विहारं कुरुत्वेत्येवप्रार्थनायाः सीमानात् तादृगेवापत्ये द्वारकायां मनोऽनुरक्तता जाता। ततश्च श्रीकृष्णेणापि तथा इव इति वरो दत्तः। ननु कथं ग्रन्थकृद्भिः नववृन्दावनेब्रजसुन्दरीणां विवाहो वर्णितः यदिच वर्णितः तर्हि कदाचित् कल्पे दन्तवक्रबधानन्तरं तत्रानुक्तोऽपि तासां विवाहोऽस्मद्युक्त्याभ्युपगन्तव्य एव स्यात्। सत्यं द्वारकायां तासां विवाहो न निष्प्रमाणक एव, यदुक्तं पद्मपुराणीयद्वात्रिंशदध्यायकार्त्तिकमाहात्म्ये 'कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यका' इति। स्कान्दप्रभासखण्डे च गोप्यादि–माहात्म्ये–षोडशैव सहस्राणि गोप्यस्ताः समागता इति, अतः पूर्णतमस्य वृन्दावननाथस्यैव द्वारकानाथो यथा पूर्ण प्रकाशस्तथैव पूर्णतमानां तदीयशक्तिनां तासां पूर्णरूपा रुक्मिण्यायास्तासां विवाहः समुचित एव। नतु पूर्णतमधाम्नि ब्रजभूमौवर्णयितुं शक्यः समर्थाया एव रतेः समञ्चसत्वापत्तेश्चटुलपशुपीभावमुग्धेत्यादि प्रार्थना प्रातिकूल्याच्च। विशेषश्च उज्ज्वलस्य नवीनटीकायां द्रष्टव्य इतिदिक्।

से संक्षिप्त, संकीर्ण सम्पन्न संभोग है, इस प्रकार की व्याख्या ग्रन्थकार के आशय की क्षति नहीं है। यदि उनका आशय वैसा ही हो कि परतन्त्रता का अभाव दाम्पत्य में ही है तथा समृद्धिमान् सम्भोग भी उस अवस्था में ही होता है तब 'सख्यस्ता मिलिता' यह सुस्पष्ट रूप से पारतन्त्र्याभाव दाम्पत्य निरूपक पद्य का उदाहरण न देकर 'दग्धं दन्त दधानयेति' 'तवात्र परिमृग्यतेति' औपपत्य पारतन्त्र्य पद्य द्वय का उदाहरण क्यों दिया, उस समय विवाह नहीं हुआ था, प्रसंग भी नहीं था, सूर्य्यदत्ता सत्राजित् कन्या ही मैं हूँ, इस प्रकार अभिमानवती श्रीराधा का श्रीकृष्ण के प्रति पूर्व की भाँति औपपत्य भाव ही था तथा उस समय तो परतन्त्रता की परमावधि ही रहीं, इसमें गोपनीयता कितनी रखेंगे? यदि कहो कि– 'सख्यस्ता इत्यादौ किमतः परं कर्त्तव्यमत्रास्ति मे'

तस्माद्ग्रन्थकृतामनुसारिणां तेषामपि अयमेवाशयो लक्ष्यते। सर्वदृगैश्वर्य्यः श्रुतयोऽपि नित्ये धाम्नि गोपपत्नीपरिवृतं रासविलासितं श्रीकृष्णं दृष्ट्वैव तासामनुगता भूत्वैवापुरिति तैरेव निर्द्धारितत्वात्। ननु स्मृतमेतत्सर्वं किंतु कंसबधात् प्राचीनानां लीलानां का गतिः कल्पनीया तदुच्यतां उच्यते तदर्थमपि प्रमाणान्तराणि नान्वेषणीयानि किंतु भवत्प्रमाणित 'न विद्यते यस्य चेत्यादि' पद्ये यस्य चेत्याख्यानमेव। तत्र मत्स्य-कूर्म्म-वराह-वामनादीनां किं पुनः श्रीकृष्णस्य त्रैकालिकीनां सर्वासामेव लीलामात्राणामविशेषेण अप्राकृतत्वे स्वरूपशक्तिप्रकाशितत्वे श्रीभगवत्तत्वतद्धाम्नां च परिकराणां च प्रकाशानन्त्यात् जन्म-कर्म्मलक्षणायास्तस्यास्तथानन्त्ये अनन्तब्रह्माण्ड गतत्वेन सर्वदा विराजमानत्वे मनसाप्यगोचरे स्वरूपानन्दविलासमात्रत्वे सति नित्यत्वं प्रमाणं दर्शयामि

इसके पश्चात् मेरा कर्त्तव्य क्या है, श्रीवृन्दावनेश्वरी की इस वाणी से पारतन्त्र्या भावमय दाम्पत्य में आनन्द विशेष है, इस प्रकार अनुमान होता है, ऐसा न कहो, वहाँ पर ही उस कथन के पश्चात् में श्रीराधा ने कहा-'याते लीला पद परिमलोद् गारिवन्या परिता, धन्याक्षौणी विलसति वृता माथुरी माधुरीभिः तत्रास्माभिश्चटुल-पशुपीभावमुग्धान्तराभिः। संवीतस्त्वं कलय वदनोल्लासि वेणुविहारम्' श्रीवृन्दावन में चंचल गोपांगनाओं के साथ विहार करने के लिए तुम भी बाँसुरी को बजाओ। इस प्रकार परम प्रार्थना के पश्चात् श्रीद्वारका में मनः लग गया। श्रीकृष्ण ने भी प्रार्थना के अनुरूप वर प्रदान किया। उचित है किन्तु ललितमाधवकार ने नववृन्दावन में श्रीकृष्ण का विवाह ब्रजसुन्दरियों के साथ में क्यों वर्णन किया, यह किस कल्प की घटना है, यह उन्होंने नहीं कहा, तथापि उनके विवाह अनुकूल होने से हम उस युक्ति से ही ग्रहण करेंगे, सत्य ही है, श्रीद्वारका में उनका विवाह अप्रामाणिक नहीं है, पद्मपुराणीय ३२वें अध्याय के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है-

तस्मादयमर्थः इत्यारभ्य यस्य तु सर्वदा स्वरूपस्थत्वात् मनसाप्यगोचरत्वात् प्राकृतत्वानि जन्मादीनि न विद्यन्ते तथापि यस्तानी अच्छति प्राप्नोति तस्मै नम इत्युत्तरश्लोकस्थेनान्वय इत्यादि। ननु प्राप्नोतीत्युक्ते कदाचित्कत्वमप्युपगम्यते तत्राह अनुकालं नित्यमेव प्राप्नोति कदाचिदपि न त्यजति इत्यर्थः। स्वरूपशक्तिप्रकाशितत्वस्य नित्यत्वस्य च मिथो हेतु हेतुमत्ता ज्ञेया। ननु कथं जन्मकर्म्मणोर्नित्यत्वं ते हि क्रिये क्रियात्वं च प्रति निजारम्भपरिसमाप्त्यामेव सिद्ध्यतीति ते विना स्वरूपहान्यापत्तेः, नैषः दोषः, भगवति सदैवाकारानन्त्यात् प्रकाशानन्त्यात् जन्मकर्म्मलक्षणलीलानन्त्यात्। अनंतप्रपंचानन्त-वैकुण्ठगततत्तल्लीलाकर्म्मणोरथ सा यावत्समाप्यन्ते वा तावदेवान्यत्र प्रारब्धा भवन्तीत्येवं श्रीभगवति विच्छेदाभावात् नित्ये एव ते जन्मकर्म्मणी वर्त्तेते तत्र ते क्वचित् किञ्चिद्वै-लक्षण्येनारभ्येते क्वचिदैक्यरूपेणेति ज्ञेयम्। विशेषणभेदाद्विशिष्टैक्याच्च

कैशोरकाल में जो गोप की कन्या रही, वही यौवनकाल में राजकन्या हो गयी। स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में वर्णित है, वहाँ पर सोलह हजार गोपियाँ एकत्रित हो गयीं। यहाँ पर जानना होगा कि–पूर्णतम श्रीकृष्ण का पूर्णप्रकाश जिस प्रकार श्रीद्वारकानाथ हैं, उस प्रकार ही उनकी पूर्णतम शक्ति का पूर्णप्रकाशरूप श्रीरुक्मिणी भी हैं, उन सभी के साथ में विवाह होना तो आवश्यक ही है, किन्तु पूर्णतमधाम श्रीव्रजभूमि में विवाह वर्णन सम्भव नहीं होगा, श्रीव्रजभूमि समर्था रति का स्थान है, वह रति समञ्जसा हो जायेगी, 'चटुलपशुपी भाव मुग्धान्तराभिः' इस प्रकार प्रार्थना का विरोधी ही होगा। इसका विस्तार उज्ज्वलनीलमणि की नवीन टीका में है॥

ग्रन्थकार के अनुसार पर्यालोचन से ग्रन्थकार का आशय इस प्रकार व्यक्त होता है, श्रुतिगण गोप पत्निपरिवृत श्रीकृष्ण को श्रीवृन्दावन में देखकर गोपियों के आनुगत्य से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया, उन्होंने ही इस प्रकार कहा है, सब कुछ समझ रहा हूँ,

एक एवाकारः प्रकाशभेदेन पृथक्क्रियास्पदं भवतीति चित्रं वतैतदेकेन वपुषेत्यादौ प्रतिपादितं। क्रियाभेदात्तत्तत् क्रियात्मकेषु प्रकाशभेदैरप्यभिमानभेदश्च। तथा सत्येक त्रैवात्र लीलाक्रमजनितरसोद्बोधश्च जायते। ननु कथं ते एव जन्मकर्म्मणी वर्त्तेते इत्युक्तं, पृथगारब्धत्वात् अन्ये एव ते उच्यते कालभेदेनोदितानामपि समानरूपाणां क्रियाणामेकत्वं, यथा शंकरशारीरके 'द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चारितो नतु द्वौ गोशब्दाविति' प्रतीतिनिर्णीतं शब्दैकत्वं तथापि द्विः पाकः कृतोऽनेनेति। द्विधापाकः कृतोऽनेनेति प्रतीत्या भविष्यति अतो जन्मकर्म्मणोरपि नित्यतायुक्तैव। अतएवागमादावपि भूतपूर्वलीलोपासनाविधानं युक्तं, तथा चोक्तं माध्वभाष्ये-'परमात्मसम्बन्धित्वेन नित्यत्वात्त्रिविक्रमादावप्युपसंहार्य्यत्वं' इति, 'अनुमतचैतच्छ्रुत्वा

किन्तु कंसबध से पूर्व की लीला की स्थिति क्या होगी ? कहते हैं-उसके लिए प्रामाणान्तर की आवश्यकता नहीं है, (भा० ८।३।८) में आपने ही कहा है। वहाँ पर मत्स्य, कूर्म्म, वराह, वामन प्रभृति की लीला को नित्य कहा है श्रीकृष्ण की समस्त लीलायें ही अप्राकृत हैं, समस्त लीलायें स्वरूपशक्ति द्वारा होती हैं, भगवत्तत्त्व परिकर के अनन्त प्रकाश हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड होने से उनमें समस्त लीलायें भी नित्य रूप से सदा ही होती रहती हैं। समस्त धाम प्राकृतजन के अगोचर हैं, स्वरूपानन्द विलासमय एवं नित्य है, इस विषय में प्रमाण आगे कहेंगे। प्रमाण वाक्य में प्राप्नोति पद का प्रयोग है, इससे लीला कभी-कभी होती है, ऐसी प्रतीति होती है, कहते हैं-नहीं, अनुकाल नित्य प्राप्त होते हैं, कभी भी त्याग नहीं करते, स्वरूपशक्ति के द्वारा प्रकाशित एवं नित्य दोनों में परस्पर हेतु, हेतुमान् सम्बन्ध है, जन्म-कर्म का नित्यत्व कैसे होगा ? वह तो क्रिया है, क्रिया आरम्भ समाप्ति के द्वारा नष्ट होती है ? यह दोष यहाँ पर नहीं होगा, भगवान् का आकारएवं प्रकाश अनन्त है, जन्म-कर्म लक्षण लीला भी अनन्त हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड भी हैं, अमुक स्थल से लीला आरम्भ होते-होते ही अन्य स्थल पर लीला

यद्गतं यद् भवच्च भविष्यच्च' इत्यनयैव। उपसंहार्य्यत्वमुपासनाया-मुपादेयत्वमित्यर्थः तत्तस्य जन्मन अप्राकृतत्वात्तस्माद्विलक्षणत्वं प्राकृतजन्मानुकरणत्वेनाविर्भावमात्रत्वं, क्वचित्तदनुकरणेन वा। 'अजायमानो बहुधैव जायते' इति श्रुतेः। तथा देवक्यां देवरूपायां विष्णुः सर्वगुहाशयः 'सत्यं विधातुं निजभृत्ये' त्यादि च।।

तथा कर्म्मणो वैलक्ष्यण्यं स्वरूपानन्दविलासमात्रत्वं तद्यथा लोकवल्लीलाकैवल्यमित्यादि। ननु एतत्सर्व्वं भगवत्प्रमाणितमेव भगवत्प्रमाणं किंतु ललितमाधवोक्तपौर्णमासीगार्ग्योः संवादोदितभाविकत्वस्य को वा प्रतीकारः ततोऽप्यधिकं सर्वोपमर्द्दकं विदग्धमाधवे पौर्णमासीनान्दीमुख्याः संवादेऽभिमन्युना विवाहस्यमिथ्यात्व मेव निश्चित्य एतत्पक्षस्य मूलोत्खात एव कृतोऽस्ति तत्राप्युपायश्चिन्तनीयः। नोचेद्वर्णित-चर्य्यपि सा लीला मायिकत्वे पर्य्यवस्यति एव ग्रन्थकृद्भिस्तथात्वे

का प्रारम्भ हो जाता है, इस प्रकार से किसी का विच्छेद होता ही नहीं है, जन्म-कर्म निरन्तर एक रूप से ही होते रहते हैं, कहीं पर कुछ विलक्षणता से आरम्भ करते हैं तो कहीं पर एक रूप से ही करते हैं। विशेषण भेद होने पर भी विशिष्ट तो एक ही होता है, एक ही आकार प्रकाश भेद से पृथक् क्रियास्पद होता है, जैसे आश्चर्य की बात है कि पृथक्-पृथक् वपु से सोलह हजार गृहों में एवं एक ही लग्न में विवाह किया।

प्रकाश भेद से भी अभिमान भेद होता है, इससे लीला क्रम से रसास्वादन भी होता है, कैसे समझेंगे कि वह ही जन्म-कर्म है ? कालभेद से उच्चारित समान क्रिया में एकता होती है, आचार्य शंकर ने भी कहा है, दो बार 'गो' शब्द का उच्चारण किया कि दो 'गो' शब्द नहीं, दो पाक किया किन्तु दो प्रकार से पाक किया ऐसा नहीं, इस प्रकार से जन्म-कर्म की नित्यता युक्तियुक्त है। इस प्रकार आगमादि में भूतपूर्व लीला का विधान भी देखने में आता है, माध्वभाष्य में लिखित है-परमात्मा सम्बन्धी होने से ही नित्य है, त्रिविक्रमादि में भी वैसा ही होता है, श्रुति भी उसको

स्वस्याभिमतस्य निश्चितत्वात् अत्र ब्रूम:श्रीमद्ग्रन्थकृद्भिस्तत्र 'णूणं गोअणादि गो एहि चंदाअली प्यहुदीणं उचाहो मा आप निच्चाहिदो' इत्येवोक्तं। ननु भ्रमादिशब्देन मिथ्यार्पितं वा न च मायाशब्दस्य वहिरङ्गायाः शक्तेरेव वाचकत्वेतिवाच्यं, श्रीभगवत्सन्दर्भे 'न विद्यते यस्य चेति' पद्यव्याख्याने मायायाः स्वरूपशक्तित्वे प्रमाणितत्वात्। तद्यथा–स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या माया इत्याख्यया युतः। 'अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनमिति' श्रुतेः। 'आत्ममाया तदिच्छा स्यादिति' संहितातः। 'त्रिगुणात्मिकाज्ञानं च विष्णुशक्तिस्तथैव च। मायाशब्देन भण्यन्ते शब्दतत्वार्थवेदिभिरि' ति शब्दमहोदधिः। माया वायुनं ज्ञानमिति निर्घण्टोरित्यादि। ततश्च दुर्घटघटनापटीयस्या योगामायया उद्वाहनिर्वाहस्तया 'दैवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद्यथा प्राच्यां दिश्युडुराजपुष्कल इति वदोद्धव्यः। प्रस्तुते

मानती है। इससे उपासना के लिए उपादेय होता है, उनका जन्म तो प्राकृत है, किन्तु प्राकृत से विलक्षण है, प्राकृत जन्म का अनुकरण करते हैं, नित्य होकर भी अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं। देवरूपिणी देवकी में आविर्भूत हुए, निज भृत्य की वाणी को सत्य करने के लिए आविर्भूत हुए॥

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् इति रीति से समस्त लीला स्वरूपानन्द की विलास मात्र हैं, अतएव विलक्षणता तो अवश्य ही होगी, उचित ही है, यह सब ही आपके प्रमाण के अनुरूप ही प्रमाण है, किन्तु ललितमाधव पौर्णमासी गार्गी के वचन से प्रमाणित मायिक का समाधान क्या होगा ? उससे भी अधिक है–विदग्धमाधव में पौर्णमासीनान्दीमुखी के संवाद, उसमें अभिमन्यु के विवाह को मिथ्या कहा गया है, अतएव उसके समाधान के लिए उपाय उद्भावन करना भी उचित है नहीं तो वर्णित समस्त लीलायें मायिक ही होंगी, ग्रन्थकार ने भी उनके अभिमत को स्वीकार कर लिया है। इस विषय में कहते हैं–भ्रमादि शब्द से मिथ्या का बोध होता है और माया शब्द से प्रसिद्ध माया वहिरंगा का बोध होता

च जगन्निस्ताराय श्रीकृष्णस्य यशो विस्ताराय च लीलाग्रन्थस्तादृशै र्महाकारुणिकैवर्णितः। सा चेत् अपरामर्शान्मायात्वे कल्प्यते तर्हि तेषु विप्रलिप्सुतां लीलायामसत्यतां च समारोप्य ऐहिकामुष्मिकं कल्याणं स्वस्य साधनीयमेव वादिभिः ततः स्वरूपशक्ति प्रकाशितत्वात् सर्वास्ता लीला नित्या एवेति सर्वं सुस्थं। किंच विदग्धमाधवस्थ–पौर्णमासी–नान्दिमुख्योः संवादे–'णांदी भअवदि जसोदा धत्ती ए मुहराये अत्तणोणत्तिणी राहि आगोउलमज्जे आणि अजडिला पुत्रस्य अहिमणुणो हत्थे उव्वाहिदल्लि नाणूणं तु मणिच्चिंसि संवुत्ता, जंएसा गोउल मज्जे आणीदा' इत्यादेरेव पाठः। नत्वन्य इतोऽप्यधिकस्तथैव ग्रन्थकृतां श्रीहस्तलिखितपुस्तकेषु दृष्टत्वात् अद्यापि तानि पुस्तकानि श्रीमन्मदनगोपाल गोविन्ददेवराधादामोदराणां पुस्तकागारेषु अन्यत्रापि विराजन्ते। तस्मात् 'उव्वाहिदल्यि इतः परंतु मणिच्चिंताविअदीसन् पौर्णतस्यैवहेतोः नांदीकधंविअ पौर्णविहस्य'

है, ऐसा कहना उचित नहीं है, श्रीभगवत्सन्दर्भ में 'न विद्यत यस्य चेति' इस पद्य की व्याख्या में माया को स्वरूपशक्ति माना है, उनको सनातन कहा जाता है, विष्णु महामय हैं, स्वरूपभूत नित्य शक्तियुक्त हैं। संहिता में उक्त है–आत्ममाया उनकी इच्छा है। त्रिगुणात्मिका अज्ञान, विष्णुशक्ति को माया शब्द से शाब्दिकगण कहते हैं, शब्द महोदधि में भी इसी प्रकार लेख है। निर्घण्टु में भी उक्त है–'माया वयुनं ज्ञानं अत दुर्घट घटनापटीयसी' योगमाया ने ही उद्वाह का निर्वाह किया है। जिस देवरूपिणी देवकी से सर्वगुहाशय विष्णु आविर्भूत हुए। जिस प्रकार पूर्वदिक् में पूर्णचन्द्र उदित होता है इस प्रकार से जानना होगा। प्रस्तुत विषय में जगन्निस्तार के लिए एवं श्रीकृष्ण की कीर्त्ति को विस्तीर्ण करने के लिए ही महाकारुणिक कविगण लीलाग्रन्थ की रचना करते हैं, उस रचना को बिना विचार से यदि मायिक कहेंगे तो उनमें वंचकता होगी तथा लीला में असत्यता होगी, इससे क्या वादी इस जगत् पर अर्थात् जगत् में पुण्यात्मा बनेंगे ? अतएव स्वरूपशक्ति

तद्वचनार्थमेव योगमायया मिथ्यैव प्रत्यायितं तद्विधानामुद्वाहादिकं नित्यप्रेयस्य एव खलु ताः कृष्णस्य नांदी सहर्षमित्येतत्पर्य्यन्तं केनचित् स्वाभिमतप्रतिपिपादयिषयान् प्रक्षिप्य मिथ्यैव प्रत्यायितमिति। तेन प्रक्षिप्तपाठेन न शंका पंकिला विधातव्या स्वधीः सुधीभिरित्येवधेयम्।

परं च यद्ययमेव पाठः प्राचीनपुस्तकस्थोऽभविष्यत् तदा ललितमाधवीय चंदाअलीप्यदुदीण उव्वाहो माया एणिच्चाहिदो इत्येव सर्वत्र स्वग्रन्थेषु तैः प्रमाणितं। अमुमपि विदग्धमाधव-प्रसङ्गमत्यन्तसुस्पष्टं मिथ्यावाचकत्वे तेऽवश्यं प्रामापयिष्यत् इत्यपि परामृश्यंयदाहुः यदि स्वयं श्रीकृष्णेन सा लीला अवतारावसर एव दिनानि कतिचित्कस्मैचिदास्वादविशेषाय सर्वज्ञता सर्वशक्तितां सर्वेश्वरतामपि अनादृत्य तदुपयुक्तां लीलाशक्तिमेवावतारितानां नित्यप्रेयसीनां तासां परदारत्वभ्रमेण यथा रसस्य विधिः प्रकारविशेषः संभवति तथा नित्यलीला विस्मार्य्य

प्रकाशित भगवत् लीलासमूह नित्य है और भी विदग्धमाधवीय पौर्णमासीनान्दीमुखी के वृत्तान्त का लिखित विवरण अन्य प्रकार है, ग्रन्थकार की हस्तलिखित पुस्तक में उसी प्रकार है, अपर पुस्तक में पाठान्तर हुआ है। श्रीमन्मदनगोपाल, श्रीगोविन्ददेव, श्रीराधादामोदर ग्रन्थागार में वर्तमान में भी उनके हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, अन्यत्र भी हैं, उक्त पुस्तक में निज मत पुष्ट करने के लिए कुछ लिखकर मिथ्या प्रमाणित किया गया है, उस प्रक्षिप्त पाठ से सुधीगणों के लिए शंकित होना उचित नहीं है॥

और भी यदि सर्वत्र वैसा ही पाठ होता तो प्राचीन पुस्तकों में भी होता, उपलब्ध पाठ को ही यदि वादीगण प्रमाण मानते हैं तो भी समाधान करना कर्त्तव्य होगा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कुछ दिन के लिए लीला हेतु एवं आस्वादन विशेष के लिए सर्वज्ञता, सर्वशक्तिता, सर्वेश्वरता को विस्मित कर लीलाशक्ति के द्वारा अवतारित नित्य प्रेयसी में परदारत्व भ्रम उत्पन्न करके रसविधि को दिखलाया है, नित्यलीला को विस्मित

प्रकटीकृतानामित्यादि, तत्रापि एतदुक्तं भवति यद्यपि निर्विघ्नेऽपि संभोगे रसता भवत्येवतथापि 'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमिष्यत' इति भरतन्यायेनापेक्षित विप्रलम्भश्च तल्लीलावैचित्र्यमुद्वहन् भवति वैचित्री च जायापत्योरितः परं नास्ति। यज्जायापत्योरेव सतोर्लीला शक्त्या जन्मान्तर वशाद्विस्मृततद्भावयोर्मिथ्यैवान्यत्र प्रत्यायित जायाविवाहयोर्या प्रतिकृतिकल्पनाद्यावचिते पतिम्मन्ये लोकधर्म्ममर्य्यादां समुल्लंघयन् केन रागेण रहसि परस्परमिलितयो र्निरन्तरशंकया जातदौर्लभ्ययोः कदाचिज्जाते पत्युस्तु दूरप्रवासे मिलनयुक्तिमसंभावयतो स्ततोजातेऽपि कथमपि संभोगे लीलाशक्त्यैव व्यञ्जितदाम्पत्ययोः परमसुखचमत्कार इति च, कृष्णसन्दर्भे च न च दाम्पत्ये प्रकटे 'बहुवार्य्यते' इत्यादि भरताद्यनुसृतनिवारणाद्यभावाद्रसनिष्पत्तिः न स्यादिति वाच्यं। तस्य निवारणं खलु भयेन तावत्सर्वातिशयसामर्थ्यात् किंतु लज्जयैव। लज्जा च कुलकुमाराणां स्वस्त्रीसम्बन्धानुमितावपि

कर प्रियावर्ग को परगृहिणी बनाया है, ऐसा कहने पर उत्तर यह है कि–यद्यपि निर्विघ्न संभोग में रसता होती ही है, तथापि विप्रलम्भ के बिना संभोग की पुष्टि नहीं होती है, भरत मुनि के वाक्य से अपेक्षित विरह लीला वैचित्री को पुष्ट करता है, जायापति में कुछ भी वैचित्री नहीं है॥

यदि कहो कि जायापति भाव होने से भी रस होता है, जन्मान्तर के कारण सम्बन्ध विस्मित हो जाता है, उसके पश्चात् अन्य से विवाह हो जाने के बाद उसमें कभी चित्र को देखकर पूर्वभाव उद्दीप्त हो जाता है और वह निज लोक, वेद मर्यादा को छोड़कर अति उत्कण्ठा से परस्पर मिलते हैं, किन्तु लोक की शंका बनी रहती है, अतएव सर्वदा मिलन दुर्लभ ही होता रहता है, दूरप्रवास में भी मिलन निर्बाध नहीं होगा, अतएव किसी प्रकार युक्ति से मिलन सम्पादन कर लीलाशक्ति यदि दोनों के दाम्पत्य को लोक समाज में प्रकट कर देती है, तब तो लोक से भय नहीं

जायते। किमुत परमलज्जादि–गुणनिधानस्य ब्रजे नववयः शीलतामेवाव्यञ्जतस्तस्येति । किंतु बहु पत्नीकत्वे मात्रादिभिर्मिथस्ताभिरपि सङ्गस्यानभीष्टत्वात् स्वतएव निवारणं प्रच्छन्नकामुक्तत्वं च स्यात् इत्यादि।

अत्र वदामः आदौ 'नेष्टा यदङ्गिनी' त्यस्यार्थो ग्रन्थकृदभिमतो यथा–शृङ्गाररसे पापादि श्रवणाशंकया परोढ़ा नेष्टा तत् गोकुलाम्बुजदृशां कुलं विना ज्ञातव्या। कुतः रसिकमण्डलशेखरेण कंसारिणा अवतारितानां प्रकटीकृतानां केन हेतुना अत्र रसे यो विधिः प्रवर्त्तना तस्य आ सम्यक् स्तुत्या हेतुना प्रकटाप्रकटयोर्ल्लीलायाः स्थितित्वे ऐकरूप्यं पूर्वमुक्तमेव। अयमर्थः

रहता है और दोनों प्राणी आनन्द से नित्यविहार कर सुखी होते हैं, दाम्पत्य प्रकट होने से ही लोक से निर्भयता प्राप्त होती है, निर्भयता से परम सुख चमत्कार भी होता है। श्रीकृष्णसन्दर्भ में इसका विशेष विचार है, दाम्पत्य प्रकट होने पर भरत मुनि के मत से बाधा के अभाव में रस निष्पत्ति नहीं होती है, यह सिद्धान्त असंलग्न होगा, दाम्पत्य अभय स्थल है, पत्नी संभोग के लिए है और सर्वदा अबाध भय से तैयार रहती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। कारण–'सामर्थ्य के कारण लोकभय समाप्त हो जायेगा, किन्तु लज्जा से ही निवारण सम्भव है, कुलकुमार के लिए निज स्त्री के सम्बन्ध में भी लज्जा होती है, श्रीकृष्ण तो परम लज्जादि गुणनिधान हैं, उसके पश्चात् नवीन वयः शील से भी आप ब्रज में महीयान् थे, और बात है, जब विशेष विवाह पद्धति चलती है, तब एक पुत्र का विवाह अनेक कन्याओं के साथ किया जाता है तब इस अवस्था में माँ देखती है कि मेरे पुत्र का स्वास्थ्य नष्ट न हो, इसलिए संयम का अभ्यास कराने के लिए पुत्र को माँ निषेध करती रहती है, फिर भी स्त्री सुख का आनन्द प्राप्त करने के लिए उसे संभोग के लिए छिपकर जाना पड़ता है, नहीं तो पत्नी का समाधान कैसे होगा, इससे भरतोक्त लक्षण की व्यावृत्ति हो गयी।

पूर्वं कोऽपि संसारादुत्तितीर्षुरिमं शृङ्गाररसं नास्वादयत संप्रति तु एतत्संवधात् याः श्रुत्वा तत्परो भवेदिति विधिश्च शुकदेवेनापि जीवमात्र प्रतिविहितत्व निकृत कृत्या भोश्चरितार्थाः प्रकृतं शृणुत यस्य लीला क्रमसाध्याप्रेमरसविशेषस्यास्वादनाय नित्यसिद्धानि सर्वज्ञतादीन्यनादृत्य विस्मार्य्य च प्रेयस्योऽवतारिताः स्वयं च तथा सन्नेवावतीर्ण स एव निर्य्यासत्वेन मुहुर्निर्दिष्टः तथैव तत्परिपोष इत्यपि निर्द्धारितः। किंच लीलावैचित्र्यं च जायापत्योरिव सतो र्लीला जन्मान्तरवशाद्विस्मृत– तत्तद्भावयोर्मिथ्यैवान्यत्र प्रत्यायित जायाविवाहयोर्द्धर्मनिर्वाहोत्तरं महाप्रवासानन्तर–समृद्धिमति संभोगे च जाते सति लीलाशक्त्यैव वा श्रीकृष्णसन्दर्भोक्त आकाशादिवाण्यासुन्यादिना देव्या व्यञ्जितदाम्पत्यययोः पुन र्ब्रजे विवाहे निष्पन्ने परमसुखचमत्कार इति च निरनायि। त एव पुनः लीलाशक्तिप्रेरितोऽपि मिथ्यात्वेन प्रतीत इत्येव मुच्यते।

इस प्रकार व्याख्या के विषय में कहते हैं–

प्रथम–'**नष्टा यदङ्गिनीरसे कविभिः परोढ़ा,**
तद् गोकुलाम्बुज दृशां कुलमन्तरेण।
आशंशया रसविधेरवतारितानां,
कंसारिणा रसिकमण्डल शेखरेण॥ (उज्ज्वलनीलमणि)

ग्रन्थकार के मत से इस पद्य का अर्थ इस प्रकार है–शृंगाररस में वेदोक्त पाप श्रवण से परोढ़ा नायिका आदर्श रूप में गृहीत नहीं होगी, यह कथन गोकुल बालाओं को छोड़कर अन्य के लिए ही प्रयोज्य होगा, कारण निखिल रसिकगणों के शिरोमणि कंसारी ने निज प्रेयसीवर्ग को रसविशेष का आस्वादन कराने हेतु एवं प्रचार करने के लिए ले आये अर्थात् प्रकट किया है। क्यों आपने ऐसा किया ? शृंगाररस की जो विधि प्रवर्त्तना है उसकी पद्धति को आचरण के द्वारा प्रकाश करने के लिए किया। कारण प्रकट एवं अप्रकट दोनों अवस्था में ही श्रीकृष्ण तथा उनके परिकरगण एक रूप में रहते हैं, श्रीजीवगोस्वामिपाद के मत में प्रकट में आवेश है तथा अप्रकट में उस आवेश के साथ प्रवेश होता है, पूर्वत्र आवेशः, परत्र प्रवेशः (प्रीतिसन्दर्भः) इसका अभिप्राय

तत्रैवं प्रष्टव्याः स्थः तस्य स्वस्य वा नित्यदाम्पत्यादीनां विस्मृतिः किं लीलाशक्तिनिष्पाद्या, जीववत् अज्ञानकल्पिता अविद्या कार्य्यरूपा वा। अथवा स्वेच्छयैव रसनिर्यासा-स्वादनायांगीकृता। नाद्यः पक्षः, लीलाशक्तेः स्वरूपशक्तित्वात् स्वरूपशक्तिप्रकाशिततत्वस्य हेतुमत्तेति सन्दर्भोक्तं पूर्वमेव लिखितत्वात्। तत्कृतविस्मृतेर्न कदाप्य नित्यतेति सिद्धान्तिततत्वात्। किंच प्रीतिसन्दर्भोक्तभगवतो विभुत्वादिविस्मृतिहेतुर्मातृभाव-प्रेमानन्दवृत्तिविशेषः अतएव गोपीजनाविद्याकलाप्रेरक इति गोपालतापनीश्रुताविति पूर्वमेव प्रदर्शितं च मातृभावादि तत्कृतं सत्यं स्यादत्रापि कृष्णे तासामुपपतिभावः। तासु श्रीकृष्णस्य परकीयाभावश्च सत्यो न भवति मायिकमिति कथं वक्तुं शक्यमिति तैरपरामृश्यं। नापि द्वितीयः। ईश्वरे

इस प्रकार है कि श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के पूर्व संसार से स्वयं को मुक्त करने के लिए इस श्रृंगाररस का आस्वादन कोई भी नहीं करता था, कारण यह रस निवृत्तिमार्ग के लिए अनुपयोगी है, तथा दुरूह एवं अति रहस्यमय भी है, इसके श्रवण से पतन की सम्भावना भी थी, सादृश्य मात्र से ही निज अनुभूत रस उद्दीप्त होता है, सम्प्रति ब्रजभक्ति के माध्यम से जिसको सुनने से सभी जन आग्रहशील होंगे, यह विधि-श्रीशुकदेवजी ने जीवमात्र के लिए कही है, हे मानव ! आप सभी कृतार्थ हैं तथा समस्त प्रकार के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो गये हो, सुनिये ! जिसका आस्वादन लीलाक्रम से ही होता है उस प्रेमरस का आस्वादन करने के लिए निज नित्यसिद्ध सर्वज्ञता को आपने छोड़ दिया, उसको विस्मित कर प्रेयसीवर्ग को आपने धरातल में प्रकट किया, इस वर्ग में देवता भी नहीं आना चाहते हैं और स्वयं भी उसी प्रकार परपुरुष होकर आ गये, यह रस का सारांश निर्यास आस्वादन, परस्पर-परस्पर को प्राप्त करने के लिए प्रबल उत्कण्ठा, पुनः-पुनः इस उत्कण्ठा को दिखाया गया है, उस उत्कण्ठा के द्वारा ही उस श्रृंगाररस की परिपुष्टि होती है। इसका निर्णय ग्रन्थकार ने ही किया है। पूर्वोक्त युक्ति यह है कि विस्मृत दम्पति भाव को पुनर्वार जागृत कर महाप्रवास

अविद्ययाऽज्ञानकादिकस्य सम्बन्धस्य शंकरशारीरकादा-वप्यनुक्तत्वात्। तत्रापि स्वयं भगवति तत्रापि वैष्णवैः तथा वक्तुमनर्हत्वात्। नापि तृतीयेऽपि भवदभिमतसिद्धिः। यतोऽन्यासु सर्वासु एव लीला स्वरुच्या रसस्य सारांशस्य स्वादनाय अर्थात् स्वयमास्वादयितुं विशेषतोऽर्वाचीनभक्तान् तस्यास्वादनायाः पात्रीकर्त्तुमुरीकृत्यायास्तस्याः कदाप्यरुच्याऽसंपृक्तायाः श्रीभगवत् इच्छाशक्त्यैव निष्पादितायाः पूर्वोक्तयुक्तेरेव मायात्वे सात्वतैर्गिरां गोचरीकर्त्तुमयोग्यत्वात्। न च ब्रह्ममोहनकालीनलीला-वेशवदयमपि वाच्यः। तत्रापि ब्रह्मणाधिकृतभक्तत्वे ऐश्वर्य्य-प्रधानत्वात् यथापरिकर प्रसङ्गं श्रीभगवतोऽपि तदनुरूपस्यैश्वर्यादि-रेवावश्यकभावित्वात् प्रस्तुते तु माधुर्य्याविष्टयोः सर्वथा ततो-

---

के अनन्तर समृद्धिमान् शृंगार होता है, लीलाशक्ति अघटन-घटन पटीयसी है यह सब कुछ समाधान करेगी, इस युक्ति को श्रीकृष्णसन्दर्भ में उठाकर आकाशवाणी से प्राक्तन दाम्पत्य को सूचित किया, पश्चात् ब्रज में आकर विवाह निष्पन्न होने से पुष्ट हो गया, श्रीजीवगोस्वामिपाद ने प्रतिपादन किया है कि यह सब लीलाशक्ति प्रेरित तो है, किन्तु मिथ्यारूप से प्रतीत हुआ है।

उस कथन पर जिज्ञासा करनी है कि लीलाशक्ति के द्वारा जिस नित्य-दाम्पत्य प्रभृति की विस्मृति हुई अथवा उनकी? यह सभी कार्य जीववत् होते हैं, जिस प्रकार जीव का स्वरूपावरण अज्ञान करता है और उससे वाह्य शरीरादि में अहंबुद्धि हो जाती है अथवा स्वेच्छा से ही परकीया रसरूप रसनिर्यास की आस्वादन प्रक्रिया हुई है ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता है, लीलाशक्ति स्वरूपशक्ति है, वहिरंगा अज्ञानशक्ति भागवतस्वरूप में प्रभाव विस्तार नहीं कर सकती है, यह तो श्रीभगवत्सन्दर्भ में आपने स्वयं ही कहा है। स्वरूपशक्ति के द्वारा विस्मृत होने से लीला की अनित्यता नहीं होती है, यह सिद्धान्त श्रीजीवगोस्वामिचरण का है और भी प्रीतिसन्दर्भ में आपने कहा है, भगवान् निज विभुत्वादि को विस्मृत कर देते हैं, विस्मृत का कारण-मातृभाव प्रेमानन्द विशेष है। अतएव गोपीजन अविद्याकला

निष्क्रान्तेरनर्हत्वात्। उत एवायं लीलावेशः प्रेमाधीन एव। तथात्वे विनिगमकेऽप्रकटे किं प्रेमाभाव एव यतस्तत्रानावेशः अवतारलीलाया मेवस्यादिति। अतोऽत्र लीलावेशशब्देन भवता तदज्ञानमेवोच्यते। तेन विस्मृततत्तद्भावतेति तत्कृताध्यासेन स्वरूपास्फूर्त्तिः। यथा जीवस्य देहावेशादहं सुखी दुःखीकृशः स्थूलश्चास्मि इतिविपर्य्यास स्तथा प्रकृते परस्परान्यदीयत्व- भावनाद्गुरुजनकृतवारणादिना कदाचित् समयेऽनबाधाभीष्टतया नानाक्लेशभाक्त्वं अतएव स्वप्नवत् यथावसरमतो दूरीभविष्यत्येवेति भवदभिप्रायो बुद्ध्येते। परं तु जीवस्य स्वतोऽज्ञानध्वंसः कुत्रापि न प्रथितः श्रवणमननिदिध्या-

---

प्रेरक–इस गोपालतापनी श्रुति में दिखलाया है, इससे मातृभाव स्वरूपशक्ति कृत होने से सत्य है, उस प्रकार स्वरूपशक्ति कृत श्रीकृष्ण में उपपति भाव भी सत्य है। अतएव गोप बधुओं के साथ श्रीकृष्ण का परकीया भाव सत्य नहीं है मायिक है, आप कैसे कह सकते हैं? इस मायिकत्व का बोध उन परिकरों में नहीं था, न तो श्रीशुकदेवजी में और न श्रीव्यासदेवजी में और न श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव एवं श्रीरूपादि गोस्वामियों में। द्वितीय प्रकार से भी नहीं कह सकते हैं–शंकरशारीरककार ने भी ईश्वर में अविद्या अज्ञान का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है तथा भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति वैष्णव होकर भी इस प्रकार से कहना अशोभनीय है। तृतीय प्रकार कथन से भी आपकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी, कारण यह है कि समस्त पारकीय लीला निज रुचि से ही रस का सारांश आस्वादन है। 'असमोर्द्ध उत्कण्ठा का आस्वादन करने के लिए तथा स्वयं आस्वादन करने के लिए विशेषकर समस्त आधुनिक भक्तों को उत्कण्ठामयी भक्तिरस का आस्वादन कराने के लिए जिसका स्वयं ही आविष्कार कर विस्तार किया है, उस लीला का सम्पादन अरुचि सम्पन्ना वहिरंगा मायाशक्ति ने किया है, यह तो भक्तों की भाषा से नहीं कही जा सकती है, कह सकते हैं कि– ब्रह्ममोहन कालियदमन लीला जिस प्रकार हुई उसी प्रकार ही पारकीया लीला भी हुई। ब्रह्मा पदाधिकारी भक्त हैं तथा ऐश्वर्य प्रधान भी हैं,

सनादिनाऽथ च महावाक्यानामुपदेशेन च यदा तत्वमस्यादिना सोऽहमस्मीति स्वरूपस्फूर्त्या अज्ञानध्वंसः स्यात्तदैवात्यन्तिक–दुःखहानिः सुखावाप्तिश्च जायते एषैव मोक्षत्वेन भण्यते। अत्र तु तस्य च तासां च न किंचनोपदेशवाक्याश्रयीभूतं शास्त्रं दृश्यते। न कश्चिदुपदेष्टा न च श्रवणमननादिश्च तत्केनोपायेन ततोऽज्ञानबंधान्मुक्ता इति चिन्तयमानोऽस्मि। न च द्वौ वक्तारौ उपदेशग्रन्थश्च मया विख्यापिता एवेति वाच्यं तेषामर्वाग्भवत्वात् तत्र प्रमाणाभावाच्च तदुपयोगिताया अभावात्। नहि मायावादिनां मतेऽपि यद्यपि सर्वेषां व्यवहारमार्गाणामेवासत्यत्वं तथापि ब्राह्मणादीनां यस्य यत्र यादृशो व्यवहार समुचितो निर्व्यूढ़ोऽस्ति तमन्यथा कृत्वा यस्य कस्यचित् स्त्र्यादियेनकेनचित् गृहीतं गृह्यते वा तस्मात्तादृशेभ्योऽप्ययं विलक्षणो नवीन एव पंथाः। न वायं

जिस प्रकार परिकर का प्रसंग आता है, भगवान् के लिए उस प्रकार सुखकर ऐश्वर्य प्रकट करना आवश्यक होता है, नित्य प्रेयसीगण के साथ परकीय भाव सम्बन्ध में उभयपक्ष ही माधुर्य भावाविष्ट है अतएव परम माधुर्य रसास्वादन से उन दोनों को बाहर रखना सर्वथ अनुचित है, यदि कहें कि यह पारकीय भावाविष्ट लीला प्रेमाधीन ही है, उचित ही है तो क्या अप्रकट में लौकिक दाम्पत्य की भाँति प्रेम का सर्वथा अभाव ही होगा ? जिससे उस पारकीय भाव में आवेश ही नहीं होगा, यदि कहें कि अवतार लीला में यह होगा, अतएव लीला वेश शब्द से आप उसके अज्ञान को कहते हैं, उस अज्ञान के द्वारा दाम्पत्य भाव की विस्मृति, उस अध्याय से स्वरूप की अस्फूर्त्ति हुई, जैसे जीव देहावेश से कहे कि मैं सुखी, दुःखी, कृश, स्थूल हूँ, इस प्रकार विपर्यय होता है, उस प्रकार इस परकीया भाव में भी परकीया भावना से गुरुजनों से बाधा हुई, अभीष्ट तो यह था कि बाधाहीन एवं क्लेशहीन परिवेश संभोग के लिए ही यह परकीया भाव स्वप्नवत् है, जागृत हो जाने पर गन्धर्वनगर का भाव नहीं रहता है। अतएव अवसर प्राप्त होने से परकीया बुद्धि नष्ट हो जायेगी तथा सुखमय निर्भय दाम्पत्य होगा, आपका अभिप्राय तो यह ही है, किन्तु देखिये तो जीव का

न वा नित्यलीलायां दाम्पत्यमेव अवतार लीलायामपि दन्तवक्रबधानन्तरं तदेवेति वाच्यं। प्रकटाप्रकटयोरपि परकीयत्वेन पूर्वप्रमाणितानां सन्दर्भस्य व्याख्यानानामेव जागरूकत्वात् गोपीनां तत्पतीनां चेत्यत्र। अत्र या गोपपत्न्यश्चेत्यत्र च नहि भवदभिमते उद्वाहे किंचिदपि प्रमाणमस्ति चेदार्षं तत्स्याद्भवता किं नोत्थापितं स्यात् प्रत्युत दन्तवक्रबधानन्तरागमनप्रसङ्गे पद्मपुराणीयपद्येषु भवत्प्रमाणितेषु परकीयत्वस्यैव निश्चयो निष्पद्यते तद्यथा 'कालिन्द्याः पुलिनेरम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते। गोपनारीभिरनिशं क्रीड़यामास केशवः। रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः। बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवासहेति।' गोपानां नारीभिरित्येव वाक्यस्यावश्यं निर्वचनीयत्वात् । तृतीयस्कन्धे शुकदेववचने

अज्ञान ध्वंस स्वतः नहीं होता है, श्रवण, मनन, निदिध्यासन प्रभृति के द्वारा तथा महावाक्य उपदेश से जब तत्त्वमसीति वह मैं ही हूँ इस प्रकार की स्फूर्त्ति होती है, तब ही अज्ञान का ध्वंस होता है, तब ही आत्यन्तिक दुःखहानि एवं आत्यन्तिक सुख की भी प्राप्ति होती है, इसको ही मोक्ष कहते हैं, यहाँ पर उपपति सम्बन्ध दोनों में है, उपपति भाव को नष्ट करने के लिए श्रीकृष्ण एवं गोपियों के लिए उपदेशात्मक कोई अन्य शास्त्र वाक्य कहीं पर है क्या ? उसका कोई उपदेष्टा भी नहीं है, श्रवण, मननादि अथवा किस प्रकार के उपाय से अज्ञान से मुक्त होगा, यह तो एक चिन्ता का विषय है, यदि कहें कि अज्ञान नाशक उपदेष्टा दो होते हैं, एक तो उपदेशक अपर सद्ग्रन्थावलियाँ। हमने तो कह दिया है कि यह परकीया भाव मिथ्या है तब तो श्रीराधाकृष्ण की मुक्ति होनी चाहिए, ऐसा कह नहीं सकते। यह उपदेश तो पीछे हुआ है और कहने से ही अज्ञान नहीं रहेगा इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। प्राकृत में उपयोगिता भी नहीं है, किन्तु देखिये मायावादी के मत में सभी व्यवहारमार्ग असत्य हैं, तथापि ब्राह्मण प्रभृति के व्यवहार जहाँ जैसे होने चाहिए वे सब यथावत् हैं, उनको अन्यथा करके ब्राह्मण पत्नी का विवाह जिस किसी के साथ सम्पन्न कराना प्रसिद्ध नहीं है, उससे भी आपने नवीन अथच एक विलक्षण

देवहूतिर्नृपबधूरितिवत् इति व्याचक्षानेन तेन स्वेनैव कृष्णबध्व इति स्वप्रमाणितं प्रत्याख्यातं। पुनर्गोपनारीभिरनिशमित्यत्र तेषां पत्नीभिरिति दृष्टं विधाय अनिशक्रीड़ादाम्पत्यहेतुत्वेन गम्यमानतयोक्ता। अनया तु न त्वन्यत् प्रमाणमस्तीति ज्ञापितं एवं च द्युतक्रीड़ा भगवता कृता गोपगणैः सह। पणावहासरूपेण जिता गोप्यो धनानि च। गोपैरानीय तत्रैव कृष्णाय विनिवेदिता इत्यादि वाराहीयपद्यं चम्पूस्थं, गोपानां भार्य्यात्वेनासुखत्वापत्तौ च प्रमाणतायां निष्पन्नं। ननु भवदभिमते दाम्पत्ये साधकतायामिति यतः पणहेतुको योऽवगतो हास स्तेन रूपेण जितानां न तु वैरेण, ग्लहजितानां अन्यदीयानां पत्नीनां विवाहजेतृभिः

पंथा का आविष्कार किया है। केवल यह ही नहीं, किन्तु नित्यलीला में तो दाम्पत्य ही है, अवतार लीला में भी दन्तवक्र बध के पश्चात् दाम्पत्य-सूत्र-बन्धन हुआ है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

प्रकट एवं अप्रकट में समान रूप से ही परकीया भाव है, इस विषय में पूर्व प्रमाणित सन्दर्भ व्याख्या ही प्रमाण रूप में जागरूक है।

'गोपी और उनके पति'-यहाँ पर जितनी गोप पत्नियाँ हैं, इससे भी परकीया भाव स्पष्ट होता है, आपके मत में श्रीराधाकृष्ण के ब्रज में विवाह के विषय में कोई भी प्रमाण नहीं है, यदि आर्ष प्रमाण हो तो आप क्यों नहीं उसको उठाते हैं ? वास्तविक स्थिति तो यह है कि दन्तवक्र बधानन्तर प्रसंग में पद्मपुराणीय गद्य को उठाया जाता है, किन्तु उस पद्म से ही तो परकीया का निश्चय हो जाता है, जिस प्रकार मनोहर कालिन्दी पुलिन में गोप नारियों के सहित श्रीकेशव ने निरन्तर क्रीड़ा की तथा मनोहर केलिरस में मुग्ध होकर एवं गोपवेश धारण करके श्रीप्रभु ने दो मास व्यतीत किये थे। गोप नारी शब्द से गोपों की नारी, ऐसा ही अर्थ करना होगा, निज श्रीकृष्णबध्व शब्द से परिणीता पत्नी गोपी हैं, यह कहा था, उसका निरसन श्रीशुकदेवजी के तृतीय स्कन्ध वाक्य से होता है। देवहूति नृपबधू हैं॥

गोप नारियों के साथ श्रीकेशव ने अनिश क्रीड़ा की, इस अनिश शब्द से सर्वदा, अविराम, अनवरत, सतत अनेक अर्थ

कुत्रापि केनाप्यदृष्टाश्रुतत्वात्। चेदेवमभविष्यत्तदा ते गोपादयः सर्वे एव तदीया कर्मकरा अभविष्यन् प्रकृते न तथेति विचार्य्यं॥

न च दाम्पत्ये प्रकटे बहुवार्य्यते इत्यादि भरतानुसृत-निवारणाभावाद्रसनिष्पत्तिश्च न स्यात् इत्यादिना किंतु बहुपत्नीकत्वे मात्रादिभिर्मिथस्ताभिरपि सतत् सङ्गस्यान-भीष्टत्वात् स्वत एव निवारणं प्रच्छन्नकामुकत्वं च स्यादित्यन्तेन भरतमतानुसारिणां प्राचां वाचमबधीरितं उदीरिता चैषैव निवारणा। तत्र मात्रादिभिः प्रेयसीभिश्च कर्त्रीभिरित्येकाधिक-रणकनिवारणं न्यायप्राप्तमेकवासनाकं स्यान्नवेति त एव प्रष्टव्याः नन्वयुक्तं कथं प्रायस्तुत्यं मात्रादिभिरित्यादिग्रहणात् पित्रापितृव्यैस्तत्पत्नीभिर्मातृष्वस्रादिभिश्च कार्श्याद्यांशकया वात्सल्येन सपत्नीभिस्तु सापत्न्येनेति विवेचनीयं। सत्यं एवमपि

होते हैं, इससे दाम्पत्य-सूत्र-बन्धन अर्थ नहीं निकलता है, केवल आपने अनुमान से ही सिद्ध कर दिया है कि दाम्पत्य के बिना अनिश विहार सम्भव नहीं है, इससे दाम्पत्य की पुष्टि नहीं होती है यह तो हमने दिखलाया है, वराह पुराण में लिखित है कि-श्रीकृष्ण ने गोपगणों के साथ द्यूत क्रीड़ा की और उन गोपों को पूर्णरूप से जीता, गोपों ने गोपियों को श्रीकृष्ण के निकट पहुँचा दिया, यह प्रमाण यथार्थ है। आपके मत में दाम्पत्य स्थापन के लिए यह प्रमाण सिद्ध नहीं होता है, यह तो शत्रुता नहीं, किन्तु हास्यरस के लिए ही गोपों ने निज-निज पत्नियों को श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया था, गोपगण विवाहित न होने से उनके द्वारा निज-निज पत्नियों को देना सम्भव न होता अन्यथा गोपगण दास हो जाते, किन्तु उस प्रकार का वर्ताव नहीं हुआ।

दाम्पत्य प्रकट होने पर भरतोक्त रस पोषक लक्षण में निवारणा के अभाव से रसपुष्टि नहीं होगी तथा माँ एवं सपत्नी तथा अन्य परिजनों के द्वारा बाधा भी सम्भव है और पृथक् उद्देश्य से सभी बाधक होंगे, माँ के द्वारा संभोग में बाधा प्राप्त होने पर श्रृंगाररस की पुष्टि कैसे होगी, उसका विचार भी

मातरपितराभि र्वात्सल्यरसनिमग्नैरत्र निवारणे यादृशो रसस्य परिपोषः सतु भक्तिरसामृतसिन्धुवेदिभिरसिकैरेव विवेचनीयः। अथ च श्रीकृष्णस्य लज्जालुतया निवृत्तिपरत्वं मात्रादीनां तन्निवारणरतत्वं च तदन्यैः कैश्चिदपि कुत्रापि श्रीभागवते भक्तिशास्त्रादिषु च नाद्याप्युपलब्ध मित्यलमनुलापेन॥

ननु स वो हि स्वामी भवतीति गोपालतापण्यां आर्य्यपुत्रोऽधुनास्ते इति दशमस्कन्धे गोपीनां पतिरेव वा इति बृहद्गौतमीये चेति प्रमाणानि संत्येव। तत्कथं न सन्तीत्युच्यते। सत्यं गोपालतापन्यां हि उत्तरार्द्धे—एकदा हि ब्रजस्त्रिय इत्यारभ्योपक्रमोपसंहाराभ्यां प्रच्छन्नकामताया एव निश्चयात् स्वामी भवतीत्यस्य उपभोक्तृत्वलक्षण ऐश्वर्य्यवत्त्ये एव सङ्गच्छते। कृष्ण एव युष्माकं रूपयोवनादिनामुपभोक्तृत्वे स्वामी न तु वोढार

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु की रीति से होना आवश्यक है, श्रीकृष्ण स्वाभाविक संकोची होने से संभोग में बाधा होगी, कहना तो उचित ही है, श्रीमद्भागवत एवं भक्ति शास्त्रादि में कहीं पर भी किसी ने ऐसा उद्भावन श्रीकृष्ण के प्रति नहीं किया है। इसलिए दाम्पत्य-सूत्र-बन्धन द्वारा श्रीभरत कृत रस लक्षण को सार्थक करना व्यर्थालाप होगा।

श्रीगोपालतापनी में वह तुम्हारे स्वामी होंगे, श्रीमद्भागवत में-'आर्य्य पुत्रोऽधुनास्ते।' बृहद्गौतमीय में-'गोपीनां पतिरेववा' ये सभी दाम्पत्य में प्रमाण हैं, यह कैसे कहते हो कि दम्पति के लिए प्रमाण नहीं है ? सत्य ही है, श्रीगोपालतापनी उत्तरार्द्ध में उपक्रम उपसंहार से श्रीब्रज स्त्रीगण परकीया रहीं, 'स्वामी भवति' का अर्थ ऐश्वर्य लक्षण है, श्रीकृष्ण ही तुम्हारे रूप, यौवन के भोक्ता हैं न तो विवाहित पति, मुनि का आशय ही इस प्रकार है, दन्तवक्र बध के पश्चात् विवाह प्रतिपादक यह वचन हैं-ऐसा भी कहना उचित नहीं है, मुनि ने तो 'लृट' को छोड़कर वर्तमान भवति का प्रयोग किया है, कहो कि-नित्य दाम्पत्य को मन में ठान कर ही ऐसा प्रयोग किया है, ऐसा भी कहना उचित नहीं है, दाम्पत्य

इत्येव मुनेराशयात्। न च दन्तवक्रबधानन्तरं कुत्रचिद्वर्णितविवाह–परमिदमिति वाच्यं। मुनिना लृट विहाय वर्त्तमानप्रयुक्तत्वात्। न वा नित्यदाम्पत्यं मनसि विधाय तथोक्तं इत्यपि वक्तव्यं दाम्पत्ये प्रमाणाभावात्। पूर्वयुक्त्युक्तिभ्यश्च तैरेव परोढ़ोपपत्ययोरेव नित्येऽवतारे च निश्चितत्वात्। आर्य्यपुत्र इत्यत्रापि ब्रजराजस्य आर्य्यत्वे सारल्येनैवास्माकी विपत्तिरिति सारल्यवाचित्वे एव तथोक्तिः सङ्गता भवति। न च भावि दाम्पत्य सूचकमेतदिति वक्तुं शक्यं। स्वकृत इह विसृष्टाः पत्यपत्यान्यलोका इत्यादिना तत्प्रकरणे मुख्ययैव स्पष्टीकृतत्वात् भाविनि प्रमाणान्तराभावान् च गोपीनां परिरेव वा इत्यस्याप्यर्थः पतित्वे उपपतित्वे च वाच्ये पतिशब्दस्य प्रयुक्तत्वे एव संघटते। देवेषूपदेवेषु पूज्येयु देवाः पूज्या इतिवत्। अन्यथा गोपी इत्यस्य डाप्पुंयोगादाख्यायामिति पाणिनिस्मरणात् पुंयोगादेव प्रत्ययो जातोऽस्ति। तथासति विरुद्धमतिकृद्दोषो दुर्निवार एव स्यात्।

विषय में कुछ भी प्रमाण नहीं है, पूर्व युक्तियों से मुनियों ने परोढ़ा उपपति को नित्य में एवं अवतार में सुनिश्चित रूप से प्रतिपादन किया है। आर्यपुत्र–यहाँ पर महाराज श्रीनन्द सरल हैं उनकी सरलता से ही हमारी यह विपत्ति है, यह संगत है, भावी दाम्पत्य सूचक यह पद है, ऐसा भी कहना अनर्थक होगा, हमने तो निजकृत पति अपत्य अन्य लोक सबको छोड़ा है, उसी प्रकार ही मुख्य रूप से परांगना प्रतिपादित हुई हैं। भावीकाल में विवाह होने का कोई प्रमाण नहीं है। 'गोपीनां पतिरेववा' यहाँ पर पति शब्द का उपपति एवं पति दोनों ही अर्थ होते हैं, 'देवेषूपदेवेषु पूज्येषु देवाः पूज्या इतिवत्।' देव शब्द पूज्यवाची होता है अन्यथा गोपी शब्द निर्माण में पाणिनि पुंयोग से ही प्रत्यय विधान करते हैं, ऐसा होने पर विरुद्धमतिकृद्दोष होगा और वह जुगुप्सा पर्यायवाची भी होगा, जातिबोधकार्थ में प्रत्यय होता है, गोपी गोप जाति की स्त्रियाँ हैं ऐसा होने पर यह सूत्र विशेष विधान का होता। श्रीगोविन्दवृन्दावन नामक वृहद्गौतमीयतन्त्र में श्रीकृष्ण ने निजमुख से कहा है कि यहाँ पर जो भी गोप पत्नियाँ हैं

स तु जुगुप्सापर्य्यवसायी। न च जातौ डाप इति वाच्यं जातिरिति सिद्धे एतत्सूत्रस्य विशेषत्वे पर्य्यवसानात् गोविन्दवृन्दावननाम्नि बृहद्गौतमीये श्रीकृष्णेण श्रीमुखेनैव 'अत्र या गोपपत्न्यश्चेत्या' दिना तासां गोपानां पत्नीत्वेन सुनिश्चितत्वात्। तदाज्ञाहेलनान्निरयपातभीतेश्च सर्वथान्यथा वक्तुमनर्हत्वात्। विशेषतः सिद्धान्तकौमुदी–भाषावृत्ति संक्षिप्तसारमुग्धबोधादिषु–पुंयोगादित्यस्योदाहरणत्वेन गोपीपदस्यैव गृहीतत्वाच्च एवं गौतमीये गोपालस्तवराजे गोपनारीभिरावृतमित्यत्र क्वचिद्गोपांगनावस्त्रहारिणमित्याद्यन्यत्र च पत्नीत्वे एवोक्तत्वाच्च तस्मात् परमधीरेषु तादृशेषु अज्ञैरेव स्वकीयापक्षपातीति दोष आसज्यते। भक्तिसन्दर्भे रागानुगाप्रकरणे भगवत्सन्दर्भे श्रीकृष्णसन्दर्भे गोपालचम्पूमध्ये च परकीयात्वमेव प्रकटाप्रकटयोरपि मुहुर्मुहुस्तैरेव सुनिश्चितत्वात्। दन्तवक्रबधानन्तरप्रसङ्गे श्रीदशमटिप्पण्यां प्रकटाप्रकटयोरैक्येनैव

इससे गोपों की पत्नीरूप से ही गोपी का बोध सुनिश्चित है। ईश्वर की आज्ञा अवहेलना से सर्वथा नरकपात होगा, अतएव सर्वथा अन्यथा कथन अनुचित ही है, विशेषकर सिद्धान्तकौमुदी, भाषावृत्ति संक्षिप्तसार, मुग्धबोधादि में पुंयोगात् इस सूत्र के उदाहरण रूप में ही गोपीपद को लिखा है, इस प्रकार गौतमीय, गोपालस्तवराज में 'गोपनारीभिरावृतम्' गोपांगना वस्त्र हारिणम् अन्यत्र भी पत्नी अर्थ में ही गोपीपद का प्रयोग होता है, अतएव परसुधीरगण में अज्ञव्यक्तिगण परकीया पक्षपाती हैं, इस प्रकार कहते हैं– भक्तिसन्दर्भ के रागानुगा प्रकरण में भगवत्सन्दर्भ में एवं श्रीकृष्णसन्दर्भ में तथा श्रीगोपालचम्पूः के मध्य में परकीया रूप में प्रकटाप्रकट लीला का प्रतिपादन सुनिश्चित रूप से श्रीजीव गोस्वामीपाद ने किया है। दन्तवक्र बधानन्तर प्रसंग में श्रीदशम टिप्पणी में प्रकटाप्रकट लीला को एक करके ही प्रतिपादन किया है, अतएव उज्ज्वलनीलमणि की टीका में 'लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तम्' यहाँ पर स्वेच्छा, परेच्छा द्वारा लिखने का पूर्वापर संकेत जो आपने

सुप्रथितत्वाच्च। अतएव उज्जवलनीलमणिटीकायां लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तमित्यत्र यत् स्वेच्छापरेच्छालिखनयोः पूर्वापर सम्बन्धत्वासम्बन्धत्वेष्वाशयः प्रकटीकृतः सोऽप्युपलक्षणत्वे सर्वेष्वेव ग्रन्थेषु बोद्धव्यः। अतः पूर्वापरसम्बन्धानि व्याख्यानानि तदीयस्वेच्छाकृतानि अन्यानि तु परेच्छाकृतानीत्यवधेयम्। अस्माभिस्तूभयथा निर्दोषत्वे एव प्राचीनसम्मतत्वे च गृहीतव्यानीत्यप्यवधेय मिति। तत्र कारिका पूर्वं लिखितैव, श्रीगोपालचम्पूमनु च ग्रन्थान्ते कारिका यथा–' प्रायः सर्वा हरेर्लीलाः क्रमशः सूचितामया। यथास्वं लब्धरुचिभिरास्वाद्यन्तां महात्मभिरिति। उज्ज्वलव्याख्यानानि यथा–रागेणैवार्पितात्मान इत्यत्र अत्यत्र अन्तरङ्गेण रोगेणैवार्पितात्मानो न तु वहिरङ्गेण

किया है वह उनकी हार्दिक कथा है, इस लेख को उपलक्षण मानकर ही अन्य ग्रन्थों के लेख को समझना आवश्यक होगा। पूर्वापर सम्बन्ध युक्त लेख उनकी इच्छाकृत है, अन्य सब परेच्छाकृत हैं। हम सबके लिए सर्वथा कर्त्तव्य होगा कि–सर्वथा निर्दोष सिद्धान्त को ग्रहण करें एवं प्राचीन सम्मति को भी समझ लें। कारिका को तो हमने पूर्व में ही लिखा है, श्रीगोपालचम्पूः के अन्त में कारिका इस प्रकार है, हमने प्रायःकर श्रीहरिः की समस्त लीलाओं का वर्णन किया है, महात्मागण निज–निज रुचि के अनुसार आस्वादन करेंगे। उज्ज्वल की व्याख्या समूह भी इस प्रकार है– 'रागेणैवार्पितात्मानः' यहाँ पर अंतरंग राग से ही आत्मार्पण है, किन्तु वहिरंग विवाह प्रक्रियारूप धर्म से अर्पितात्मा नहीं है। युगल भाव के लिए गोपांगना की रति को कहकर श्रीकृष्ण के सम्बन्ध को कहते हैं। धर्मेण अस्वीकृता, विवाहात्मक धर्म द्वारा उन्होंने गोपांगनागण को ग्रहण नहीं किया है, किन्तु राग से ही स्वीकार किया है। रति प्रकरण में–साधारणी, समंजसा, समर्था यह तीन रति हैं, साधारणी कुब्जा में, समंजसा महिषीवृन्द में और समर्था रति गोकुल देवी में है। समर्था रति उसको कहते हैं–जिसमें लोक वेद धर्म को अतिक्रमण करके परमकाष्ठा प्राप्त कर पुष्ट होती है,

विवाहप्रक्रियात्मकेन धर्म्मेण। तदेवं मिथुनीभावे तासां रतिमुक्त्वा श्रीकृष्णस्याप्याह–धर्मेण विवाहात्मकेनैवास्वीकृता रागेण तु स्वीकृत इत्यर्थ इति। रतिप्रकरणे 'साधारणी निगदिता समञ्जसासौ समर्था च। कुब्जादिषु महिषीषु च गोकुलदेवीषु च क्रमत' इत्यत्र तथाहि समर्था खलु सैव स्यात् या लोकं धर्म्मं चातिक्रम्य परमकाष्ठामापन्ना पुष्टिमाप्नोति। तदुक्तं परकीयालक्षणे–'रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानपेक्षिणेति' वक्ष्यते च 'इत्यमेव रतिः प्रौढ़ा महाभावदशां व्रजेदिति।' अथ यान्या रति समञ्जसाख्या सा खलु लोकधर्म्मापेक्षया तथोच्यते। अतएव नाति समर्था तत एव च निवारणादिनाऽपि भावान्तिमां सीमां न प्रपद्यन्त इति भावः। समञ्जसालक्षणे– 'पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादि श्रवणादिजा। क्वचिद्भेदित–

परकीया लक्षण में कहा गया है–'रागेणैवार्पितात्मानोलोक युग्मान पेक्षिणा' उभयलोक मर्यादा को छोड़कर प्रेममयी तृष्णा से ही जो आत्म–समर्पण करती है, वह परकीया है, आगे कहेंगे कि यह ही रति, प्रौढ़ता प्राप्त कर महाभावदशा को प्राप्त करती है, अन्य समंजसा रति है, वह तो लोकधर्म की परिपूर्ण अपेक्षा रखती है, अति समर्था रति वह नहीं है, निवारणादि अवस्था को प्राप्त करके भी भाव पर्यन्त पहुँचती है। समंजसा लक्षण में पत्नीभावाभिमानिनी गुणादि श्रवण से मुग्धा संभोग तृष्णा सान्द्रा समंजसा है। लोकधर्म की अपेक्षा से ही पत्नीभावाभिमान कही गयी है, पत्नीभावाभिमान ही जिसका स्वरूप है, उस अभिमान को छोड़ने से उसकी स्थिति ही नहीं होगी, अतएव समर्था नहीं हो सकती है। गुणादि श्रवण से ही पत्नी होने का अभिमान जागृत होता है, उत्पन्न नहीं है, जनी धातु प्रादुर्भाव अर्थ में है, पूर्व से ही यह भाव है, महाभाव का लक्षण है–'अनुरागः स्वसंवेद्य दशां प्राप्य प्रकाशितः। यावदाश्रय वृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते।' इसकी व्याख्या का भावार्थ इस प्रकार है। रागः उस अवस्था का नाम है, जिसमें दुःख भी चित्त में सुख रूप से ही अनुभूत होता है, अतएव प्रणय के उत्कर्ष से ही

संभोगातृष्णा सान्द्रा समञ्जसा।' पत्नीभावेति लोकधर्मापेक्षिता दर्शिता। पत्नीभावाभिमान एवात्मैवात्मा यस्या इति तदभिमानस्य तिरस्कारे समर्थाया इस स्थित्यभावश्च व्यक्त इत्यादि। गुणादिश्रवणादिजा तत् प्रादुर्भूतेत्येवार्थः। नतूत्पद्यमानेति 'जनी प्रादुर्भाव' इति धातुपाठात् इति। महाभावत्वं 'अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः। यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते।' एतद्व्याख्यायां–अयंभावः 'रागः खलु दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते। यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कथ्यते' इत्युक्तलक्षणः दुःखस्य च पराकाष्ठा कुलबधूनां स्वयमपि परमसुमर्य्यादादीनां स्वजनार्य्यपथाभ्यां भ्रंश एव नाग्न्यादि न च मरणं ततश्च तत्तत् कारितया प्रतीतोऽपि श्रीकृष्णसम्बन्धः सुखाय कल्पते चेत्तर्ह्येव रागस्य परमेयत्ता ततश्च

राग होता है, दुःख की पराकाष्ठा तो परम सुमर्यादाशील कुलबधुओं के लिए स्वजन एवं आर्यपथ त्याग ही है, अग्नि एवं मरण उसके बराबर दुःखद नहीं होते हैं, स्वजन एवं आर्यपथ से भ्रष्ट होना जीवन में सुप्रसिद्ध रूप से प्रतीत होने पर भी यदि श्रीकृष्ण सम्बन्ध सुख के लिए ही होता है तो तब ही राग की परम सीमा होगी, उस प्रकार राग को आश्रय कर ही जो अनुराग प्रवृत्त होता है वह भावरूप में परिणत होता है, इस प्रकार रति की चरमावधि ब्रजदेवी में आरम्भ से ही दीखती है। पट्टमहिषी में तो सम्भावना भी नहीं कर सकते। आरम्भ से ही तृष्णा की चरमावधि है, इसी को अभिव्यक्त करने के लिए 'नवराग हिङ्गुल भरैः' यहाँ पर नवशब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिए इन सभी को उद्देश्य करके ही चकित होकर उद्धव ने कहा था। 'या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्चहित्त्वा' दुस्त्यज स्वजन एवं आर्यपथ को छोड़कर जिन्होंने श्रीकृष्ण को अपनाया। इस प्रकार की उक्ति से यद्यपि उन सबके द्वारा स्वजन आर्यपथ का त्याग नहीं हुआ, तथापि उन्होंने त्याग किया, इस प्रकार से उन सबको कुलांगना पतिव्रता शिरोमणि एवं परम मर्य्यादावती कहा गया है। इसलिए समर्था नामिका रति ही अनुराग दशा में उपनीत होकर भाव दशा को प्राप्त करती है, इससे

तामाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽनुरागो भावाय कल्पते। सा चारम्भत एव ब्रजदेवीष्वेव दृश्यते, पट्टमहिषीषु तु सम्भावयितुमपि न शक्यते आरम्भत एव इति व्यंजयितुंनवरागहिङ्गुलभरै रित्यत्र नवशब्दो दास्यते। तदेवमेता एवोदिश्य उद्धवः स चमत्कारमाह 'या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथं च हित्वा' इति। इदृशोक्त्या च यद्यपि तासां तत्त्यागो न भवति तथापि कृत इति कुलाङ्गनात्वं परममर्य्यादात्वं च दर्शितं। तस्मात् समर्थाख्यैव रति रनुरागदशामारूढ़ा सती महाभावदशामाप्नोतीत्येतानि। अनेन महाभावस्वरूपेयमिति ग्रन्थ कृता हार्दमेव स्वहार्द विधाय व्याख्यानंज्ञापितं। श्रीराधिकात्र रस आलम्बनरूपा सा चेदीदृशत्वेन निश्चित्योपास्या स्यात्तर्ह्येव रसः सालम्बः नोचेदालम्बनवैरूप्याद्वैरस्यादन्येषां मूलोत्खात एव। किंच गोपालचम्पूमध्ये च सर्वत्रैव परकीयात्वस्यैव वर्णनं विशेषतः

उज्ज्वलनीमणि में महाभाव गुणों के द्वारा सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार ग्रन्थकार के हार्दच को ही निज हार्दच मानकर व्याख्या की गयी है। शृंगाररस में श्रीराधा आलम्बनरूपा हैं, इस प्रकार निश्चय करके ही यदि श्रीराधा उपास्या होती हैं तब ही रस निर्दुष्ट होगा, अन्यथा आलम्बन के वैरूप्य से विरस होने से शृंगाररस का मूलोत्खात ही होगा॥

और भी देखिये–श्रीगोपालचम्पूः मध्य में सर्वत्र ही परकीया का ही वर्णन है, विशेषकर षड्विंशति पूरण में रास के आरम्भ से लेकर त्रिंशत ३० पूरण पर्यन्त अशेषरूप से परकीया की ही श्रीमद्भागवत की रीति से विस्तृत वर्णना हुई है। विशेषकर समृद्धिमान् शृंगार के विवरण में सप्तपत्रीलिपि के अन्तिम में अतीव व्यक्त रूप से सर्वोपमर्दक समग्र ग्रन्थ का तात्पर्यार्थ, निज अभिप्राय के सारसिद्ध लेख को लिखा है। उदाहरण के लिए यथा–परमरस परिपाकस्तु क्रम लीलायामेव क्रमते 'श्रीभागवतादि प्रकाशक प्राचीन भक्तानां विदग्धमाधवादि प्रकाशक तादृश ग्रन्थकृतां चात्रैवा वेश दर्शनात्।'

षड्विंशतिमे पूरणे रासमारभ्य त्रिंशत्पूरणपर्य्यन्तं अशेषतया तस्यैव श्रीभागवतरीत्या विस्तारतस्तदेवास्तीति। विशेषतः समृद्धिमत प्रघट्टके सप्तपत्रीलिपेः शेषे तु अतीव सुव्यक्ततया सर्वोपमर्द्दकः समग्र ग्रन्थस्य निर्गलितार्थः स्वाशय सारः सिद्धलेखः कृतोऽस्ति। यथा–परमरसपरिपाकस्तु क्रमलीलायामेव क्रमते। श्रीभागवतादि प्रकाशकप्राचीनभक्ताणां विदग्धमाधवादिप्रकाशकतादृशग्रन्थकृतां चा त्रैवावेशदर्शनात्। अत्रैव ग्रन्थे अस्या एव निर्वाहणादिति। तस्मात् ये रागानुगीयानुगामिनो वुभूषन्ति तैरन्तरङ्ग–व्याख्यानुगतैर्भवितव्यं। तैः सहैवालापः समुचितो नोचेदन्यैरलं संलापेन। माधवमहोत्सवनामस्वकृतग्रन्थे दानकेलि–कौमुद्यनुसारिणि उपक्रमोपसंहारपरकीयात्वेनैव सर्ववर्णितं दिग्दर्शनं यथा–काभिश्चित् पट्टु जटिलां विकृष्यमाणां नर्द्दतीं दधिघृतकर्द्दमेषु राधा। श्वश्रूं सा महसि निशाम्य नम्रवक्त्रा स्मेरत्वं

परम रस परिपाक किन्तु क्रमलीला में ही होगा, श्रीभागवतार्थ प्रकाशक विदग्धमाधवादि ग्रन्थ प्रकाशक महानुभावों का आवेश उसमें ही देखने में आता है, श्रीगोपालचम्पूः ग्रन्थ में उसका यथायथ निर्वाह हुआ है, अतएव जो लोक रागानुगामार्ग को हृदय से मानते हैं उनके लिए अंतरंग व्याख्यान को ही अपनाना अवश्यक है, उनके साथ ही आलाप करना आवश्यक है, द्वितीय कथन की आवश्यकता ही क्या है ? और भी श्रीजीवगोस्वामिपाद ने निज कृत श्रीमाधवमहोत्सव काव्य में दानकेलिकौमुदी के अनुसार ही उपक्रम उपसंहार परकीया भाव से ही आपने किया है, दिग्दर्शन इस प्रकार है–

'काभिश्चित् पट्टु जटिलां विकृष्यमाणांनर्द्दन्तीं दधिघृत कर्दमेषु ! राधा श्वश्रूं सा महसि निशाम्य नम्रवक्रत्रा स्मेरत्वं जन हस बिम्बमाशु दध्रे।' श्रीराधा अपनी सासु जटिला को दधि घृत की कीच में खींचातानी में पड़ती हुई देखकर नम्र वदन होकर ईषत् हँसने लगीं, इस प्रकार अनेक प्रमाण हैं, अतएव सर्वथा ही

जनहसर्बिम्बमाशु दध्रे। इत्याद्या बहव एव। तस्मात् सर्वथा तेषामाशय एष एव ज्ञातव्यो नान्यः कदाचित्पीत्यलं विस्तरेणेति दिक्। ग्रन्थ संख्या।।७००।। श्रीरस्तु।।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिपादकृतं श्रीमद्भागवतीयं परकीया विवेचनं समाप्तम्।।

श्रीजीवगोस्वामिपाद का आशय प्रकट एवं अप्रकट ब्रजलीला में परकीया भाव ही है, अपर अन्य प्रकार का भाव नहीं है। ग्रन्थ संख्या ७०० 'श्रीरस्तु'।

परकीयारसोत्कर्षे प्रमाणानि

जारधर्म्मेण सुस्नेहं सुदृढ़ं सर्वतोऽधिकं।
मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृत्यकृत्या भविष्यथ।।

–बृहद्वामने–'धृतविद्वन्मण्डने विट्ठलेशपादाः'

परभावेन यः संगस्तच्चातीव सुखं मिथः।
मयैव कल्पितं तच्च योगमायाबलम्बिना।।

–भविष्ये–'राधाव्रतप्रसंगे'

परकीया भावे हय रसेर उल्लास।
ब्रज बिना अन्यत्र नाइ इहार प्रकाश।।

–श्रीचैतन्यचरितामृते

बहुवार्य्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्ल्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः।।

–भरतमुनिः

यत्र निषेधविशेषः सुदुर्ल्लभत्वं च यन्मृगाक्षीणाम्।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्यते हृदयम्।।

–विष्णुगुप्तसंहितायाम्

वामता दुर्ल्लभत्वं च स्त्रीणां या च निवारणा।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम्।।

–रुद्रः

अनन्यशरणा स्वीया पणहार्य्या पणांगना।
तस्यास्तु केवलं प्रेमा तेनैषा रागिणीमता।।
–शृंगारतिलके

तुहु यदि कहसि करिया अनुषंग।
चौर पिरीति होय लाख गुण रंग।।
सु पुरुख ऐछन नाहि जग माझ।
आर ताहे अनुरत वरज समाज।।
विद्यापति कहे इथे नाहि लाज।
रूप गुणवतिका इहा बड़ काज।।
–विद्यापति चरणा:

परकीय धन सकलि प्रधान यतन करिया लई।
नैष्ठिक हइया भजन करिल पद्धति साधक हई।।
पद्धति हइया रस आस्वादिया नैष्ठिके प्रवृत्त हय।
ताहार चरण हृदये धरिया द्विज चण्डीदास कय।।
–चण्डीदास पदावली

रति परकीया याहारे कहिया सेइसे आरोप सार।
भजन तोमारि रजक झियारीरामिणी नाम जाहार।।
वाशुली आदेशे कहे चण्डीदासे सुनह द्विजेर सुत।
ए कथा लवे ना ना जाने ये जना सेइ से कलिर भूत।।
–चण्डीदास पदावली

प्रच्छनोऽन्य: प्रकाशोऽन्य: कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ।
सहजाहार्य्य नामानौ परौ यौवनजोऽपर:।
विश्रम्भजश्च प्रमाणो द्वादशैति महर्द्धय:।।
–सरस्वती कण्ठाभरण

अप्राकृते श्रीकृष्णस्य परकीयाभावस्य सर्वोत्तमत्वे प्रमाणानि

नेष्टा यदङ्गिनिरसे कविभि: परोढ़ा,
स्तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।

आशंसया रसविधेरवतारितानां।
कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥

–धृतोज्ज्वलनीलमणौ प्राचीनवाक्यं

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्य्यासस्वादार्थमवतारिणि॥

–उज्ज्वलनीलमणौ

यत्परोढ़ोपपत्यस्तु गौणत्वं कथितं बुधैः।
तत्तु कृष्णं च गोपीश्च विनेति प्रतिपद्यताम्॥

–नाटकचन्द्रिकायां

नासौ नाट्ये रसे मुख्ये यत्परोढ़ा निबध्यते।
तत्तु स्यात्प्राकृतक्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः॥

–उज्ज्वलनीलमणौ

अप्राकृते तु परोढ़ारमणीरतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते। न तस्यामनौचित्यप्रवर्त्तितत्वं अलौकिकत्वं तु सिद्धे भूषणमेव, न तु दूषणमिति न्यायात्तर्कागोचरत्वाच्च॥

–अलंकारकौस्तुभे

परकीयाभावसम्बन्धिनि प्रमाणानि

यथा प्रकट लीलायां पुराणेषु प्रकीर्त्तिता।
तथा ते नित्यलीलायां सन्ति वृन्दावने भुवि॥
गमनागमने नित्यं करोति वनगोष्ठयोः।
गोचारणं वयस्यैश्च विनासुरविघातनं॥
परकियाभिमानिन्यस्तथा तस्य प्रियाजनाः।
प्रच्छन्नेनैव भावेन रमयन्ति निजप्रियं॥अ० ५२॥

–पाद्मे पातालखण्डे वृन्दावनमाहात्म्ये

राधाद्यास्ताः परमभगवत्यस्तु पत्यात्मजादीन्।
लोकान्धर्म्मान् ह्रियमपि परित्यज्य भावं तमाप्ताः॥

–वृहद्भागवतामृते (२।५।१४७) श्लोकं

ब्रजलीलायां–आदौ राधिकायाः

इत्थं श्रीराधिकादेवी प्रादुर्भूता धरातले।
मन्मायामोहितमतिर्नात्मानं वेत्ति कर्हिचित्॥
मामेव पतिमिच्छन्ति भानुपूजां दिने दिने।
करोति सखीभिः सार्द्धं पुण्ये गोवर्द्धने गिरौ॥
वृषभानुर्ददौ कन्यां राधां मत्वाभिमन्यते।
मन्मायाकल्पितं तच्च न वेत्तीयमपि स्फुटं॥
अन्ये कुतो न जानन्ति मम मायाविजृम्भितं।
तदैषा परकीयाहमिति मत्वा मनस्विनी॥
भीता गुरुभ्यो रहसि मया क्रीड़ति निष्कुटे।
परभावेन यः सङ्गस्तच्चातीव सुखं मिथः॥
मयैव कल्पितं तच्च योगमायाबलम्बिना।
दाहशक्तेर्यथावह्नेस्तथैषा मम वल्लभा॥
अनया सह विच्छेदः क्षणमात्रं न विद्यते।
तथा च रसपोषाय प्रकटस्यानुसारतः॥
करोमि लीलामतुलां योगायोगविवर्द्धनाम्॥

–भविष्यपुराणे राधाष्टमीव्रतप्रसंगे

ततः सखीजनैस्तस्याः श्वश्रूं संप्रार्थ्य यत्नतः।
कर्त्तुमाहूयते देवि पाकार्थं तु यशोदया॥

नारदोवाच–

कथमाहूयते देवी पाकार्थं तु यशोदया।
सतीषु पाककर्त्रीषु रोहिणीप्रमुखाष्वपि॥

वृन्दोवाच–

पूर्वं दुर्वाससा दत्तो वरस्तस्यै महामुने।
इति कात्यायनीवक्त्राच्छ्रुतमासीन्मया पुरा॥

त्वया यत्पच्यते देवि तदन्नं मदनुग्रहात्।
मिष्टं स्यादमृतस्पर्द्धि भोक्तुरायुष्करं तथा।।
इत्याह्वयति तां नित्यं यशोदा पुत्रवत्सला।
आयुष्मान्मे भवेत्पुत्रः स्वादुलोभात्तथा सती।।
श्वश्र्वानुमोदिता सापि हृष्ट्वा नन्दालयं ब्रजेत्।
ससखीप्रकरा तत्र गत्वा पाकं करोति च।।५२ अ०।।

–पद्मपुराणे पातालखण्डे वृन्दावनमाहात्म्ये

तत्रैव–सापि कृष्णं वनं यान्तं दृष्ट्वा स्वगृहमागताः।
सूर्य्यादिपूजाव्याजेन कुसुमाहृतये तथा।।
वञ्चयित्वा गुरुन्याति प्रियसङ्गेच्छया वनं।
इत्थं तौ बहुयत्नेन मिलित्वा स्वगणैस्ततः।।
विहारै र्विविधैस्तत्र वने विक्रीड़ते मुदा।।

तत्रैवाग्रे–सा तु सूर्य्यगृहं गच्छेत्सखीमंडलसंयुता।
कियद्दूरं ततो गत्वा परावृत्य हरिः पुनः।।
विप्रवेशं समास्थाय याति सूर्य्यगृहं प्रति।
सूर्य्यं प्रपूजयेत्तत्र प्रार्थितस्तत्सखीजनैः।।

प्राक्–पुनश्च सारिकावाक्यैः स्वतल्पादुदतिष्ठतां।
गच्छतः स्वस्वभवनं भीत्युत्कण्ठाकुलौ ततः।।
आत्मनः सदृशाकारं राधामन्यां ससर्ज सा।
या सा तु कृत्रिमा राधा वृषभानुगृहे सदा।।
अयोनिसम्भवा या तु पद्मिनी सा पराक्षरा।
कृत्रिमा या महेशानि तस्यास्तु चरितं शृणु।।
वृषभानुर्महात्मा स तस्या वैवाहिकीं क्रियां।
कारयामास यत्नेन पञ्चवर्षे तु सुन्दरि!
तस्यास्तु चोभयं वंशं सावधाना बधारय।
श्वसुरस्य वृकस्यापि वंशं परमसुन्दरम्।।
श्वश्रुस्तु जटिलाख्याता पतिम्मन्योऽभिमन्युकः।
ननान्दा कुटिलानाम्नी देवरो दुर्म्मदाभिधः।।

–वासुदेवरहस्ये राधातन्त्रेऽष्टमपटले

लोपिता कुलमर्य्यादा रासकेलिपराक्रमा।
स्वकामा तु महातेजा ब्रह्मरूपधरा वरा।।
ऊर्ज्जिता वेदमर्य्यादा निर्मला तनुगर्व्विता।
आभीरनागरी कन्या कामिनी कृष्णयोषिता।।

–धृतनिम्बार्कीयस्तोत्ररत्नहारे–गौतमीयतन्त्रे
कृष्णप्रोक्तराधिकास्तवराजे

ततो मया ताः सर्वा निभाल्य राधा कथं न दृश्यते इत्युक्ते तुङ्गविद्ययोक्तं–गोकुलयुवराज ! सा खलु सप्रणयं आर्यया जटिलया कस्यचिद्गृहकार्यविशेषस्य कृते रक्षिता गृहे विद्यते।

–विरक्तचूड़ामणि श्रीदासगोस्वामिपादेन मुक्ताचरिते

कलशनवनीतचोरे कमलादृक्कुमुदचन्द्रिकापूरे।
विहरतु नन्दकुमारे चेतो मम गोपसुन्दरीजारे।।

–श्रीकृष्णकर्णामृते (२।७१)

बालोऽपि शैलोद्धरणाग्रपाणि र्नीलोऽपि नीरन्ध्रतमः प्रदीपः।
धीरोऽपि राधानयनाववद्धो जारोऽपि संसारहरः कुतस्त्वम्।।

श्रीकृष्णकर्णामृते (२।७३)

संकेतीकृतकोकिलादिनिनन्दं कंसद्विषः कुर्व्वतो,
द्वारोन्मोचनलोलशंखबलयक्वाणं मुहुः शृण्वतः।
केयं केयमिति प्रगल्भजरतीवाक्येन दूनात्मनो,
राधा प्रांगणकोणकोलिविटपिक्रोडे गता शर्वरी।।

–पद्यावल्यां धृतउपपति–उदाहरणे उज्जवलनीलमणौ

न राधा भर्त्तारं क्वचिदपि च दृग्भिर्गृहगतं,
समद्राक्षीन्नित्यं तव सरसमूर्त्तिं विलिखति।
तवाप्येतद्वक्षो बहति रुचिरां तत्प्रतिकृते,
ततः कृष्ण प्रेम्णाहमपि विदधे दौत्यमखिलं।।

अथालम्बनसंग्रहः

शान्ते ब्राह्मण एव स्यात्प्रीते दासः प्रकीर्त्तितः।
प्रेयसि स्युः सखायो हि यशोदा वत्सले स्मृता॥
मधुरे राधिका ज्ञेया हास्ये स्यान्मधुमंगलः।
सखीयूथोऽद्भुते ज्ञेयो वीरे चारणगोवृषाः॥
करुणे वत्सवृक्षादिः जटिलाद्यास्तु रौद्रके।
गोवर्द्धनोऽभिमन्युश्च भयानक उदीरितौ॥
तपस्विन्यादयो ह्यत्र वीभत्से परिकीर्त्तिताः।
ब्रजस्था नियता ज्ञेया आलम्बनविभावकाः॥

धृतोज्ज्वलनीलमणिटीकायां नारायणभट्टपादविरचितायां
–भक्तिरसतरङ्गिण्याम्

सुनह नागर कान। राजकुमारि राधिका नाम॥
जटिला बधू नवीन बालि। अपन सो भावे कर खेयालि॥
रस न परसे ता कर अंग। कै सने होयब तोहर रंग॥
भने विद्यापति न सुने नीत। ता बिनु कानू की धरब चीत॥

जागल सास चलत तब कान।
ना पूरल आश विद्यापति भान॥
सासु घुमाओत कोरे आगोरि।
जटिला सास फुकरि तहिं बोलत,
बहुरि बेरि काहे थाड़ि ललिता कहत अमंगल सुनल॥

–विद्यापतिजी

जटिला जाइया आनिल घरिया आपन बधूर हाते।
बसिला हरषे देयाशिनी पाशे घुचाये वसन माथे॥
आनन्दे देयाशिनि वले शुभवाणी सब सुलक्षणयुता।
गन्धर्व पावनी जगत् तारिणी राधा नाम भानुसुता॥

–चण्डीदासजी

गुरु गुरुजन दूरे तेयागिनु पति क्षुर धार ताय।
कानुर पिरीति किरीति करिनु कलंक ए लोके गाय।।
गृहे गुरुजन स्वामि तरजन जा लागि ना दिनु कोणे।
एखन की लागि से जन आमारे ना चाहे नयन कोणे।।
कह लहुलहु जटिलार बहु तोमारे सभाइ जाने।
कहिते कहिते अनेक कहिछ एतना गरब केने।।
एइ मने वले दानी हैयाछ कान्हाई छुइते राधार अंग।
राखाल हइया राजकुमारी सने ना जानि किसेर रंग।।

एकदिन आयान आइल घरे।।
कालिया देखिनु तारे बन्धु वलि ताहारे सम्भाषि।
आमार आरति देखिया आयान मुखे कापड़ दिया हाँसि।।
बन्धु यार भरमे आयानेर सने मनेर कथाटी कइ।।

–ज्ञानदासजी

घर हेन नहे मोर घरेर बसति।
विष हेन लागे मोर पतिर पिरीति।।
विरले ननदी मोर यतेक बुझाय।
कानुर पिरीति बिनु आन नाहि भाय।।
निज पतिर वचन येन शेलेर घा।
तार आगे दांड़ाइते भये काँपे गा।।
ताहे आर ननदिनी करे अपमान।
तोहे छार पिरीति लागि राखियाछि प्राण।।

विषेर अधिक विष पाप ननदिनी।
दारुण सासुड़ी मोर ज्वलन्त आगुनि।।
शाणान क्षुरेर धार स्वामी दुरजन।
पाँजरे–पाँजरे कुलबधूर गंजन।।
बन्धु तोमार कि बलिव आन।
जे बलु से बलु लोके तुमि से पराण।।

–बलरामदासजी

तुरितहिं करह पयान।
राई जागाइ लेह निज मन्दिरे निकटहि होयत विहान।।
शारी शुक पिक सकल पक्षिगण तुहुँ सब देह जगाई।
जटिला गमन सबहुँ मेलि भागई सुनइते जागत राई।।
निशि अवशेषे जागि सब सखीगण।।
गुरुजन गंजन बोल। गृहपति गरजन घोर।।
गणई ते गोप किशोरी। गाहन गेओ गृह छोड़ि।।
गोविन्द गुणवती सोई। गुनि–गुनि यामिनि रोई।।

–गोविन्ददासजी

अतद्व्रता परगामिनीति परकीयेति मता च।।

बसुरी सुनि देखन दौरि चली जमुना जल के मिस वेगा तबै।
कवि देव सखी के संकोचन सों करि उठ सु औसर को बतवै।।
वृषभानुकुमारी मुरारी की और विलोचन कोरिन सों चितवै।
चलिवे को घरै न करै मन नैकु घडै फिर फेरि भरे रितवै।।

–देवकवि: परकीया प्रौढ़ा विदग्धा उदाहरणं

सासु ननद घर त्रास दिखावै।
तुम कुलबधू लाज नहिं आवति बार–बार यह कहि समुझावै।।
कबही गई न्हान तुम यमुना यह कहि–कहि रिस पावै।
राधा को तुम संग करति हौ ब्रज उपहास उड़ावै।।
वे हैं बड़े महर की बेटी तौ ऐसी कहवावै।
सुनहु 'सूर' यह उनकि फावै ऐसी कहति डरावै।।

मेरौ मन गोपाल हर्‌यौ री।
चितवत ही उर पैठि नैंन मन ना जानौं धौं कहा कर्‌यौ री।।
माता पिता पति बंधु सजन जन सखि आँगन सब भवन भर्‌यौ री।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यौ न पर्‌यौ री।।
धर्म धीर कुलकानि कुचीकर तेहि तारौ दे दूरि धर्‌यौ री।
पलक कपाट कठिन उर अन्तर इते हु जतन कछु वै न सर्‌यौ री।।

बुधि विवेक बल सहित सच्चो पचि सुधन अटल कबहुँ न टर्‌यौ री।
लियौ चुराई चितै चित सजनी 'सूर' सो मो तन जात जर्‌यौ री।।

श्याम यह तुमसौं क्यों न कहौं।
जहाँ तहाँ घर–घर को घेरा कौन भाँति सहौं।।
पिता कोपि करवाल लेत कर बन्धु बधन को धावै।
माता कहै कन्या कुल को दुःख जनि कोऊ जग जावै।।

जाति महति पति जाइ न मेरी अरु परलोक नसाई री।।
गिरिधर वर नैंकु न छाँड़ौ मिलि निसान बजाई री।
बहुरि कबहिं यह तनु धरि पैहौं कहा पुनि श्रीवनवारी री।।
'सूरदास' स्वामी के ऊपर यह तन डारौ वारी री।
नन्दलाल सौं मेरौ मन मान्यौ कहा करैगौ कोई री।।
इक राधा दूसरि ब्याही जानि जिय नागरी पास आवत लजाही।
नैंन टहराई–टहराई पुनि–पुनि रहै कहै नहिं कछु हरषत डराही।।
'नागरी चरित पिय चकित भारी'
गइ जाति अभिमान मोह मद पति परिजन पहिचानि।
सूर सिन्धु सरिता मिलि जैसे मनसा बूँद हिरानि।।
'बिकानी हरि मुख को मुसकानि'
–सूरदासजी

याकौ घूँघट पट न उघारौ।
परत्रिय देखि अनिति करौ तुम नइ–नइ रिति निकारौ।।
बड़े महरि की पुत्रबधू हैं नैकु तो बात विचारौ।
भले बुरे की लाज न तुमको मन भावति करि पारौ।।
दधि गोरस पैदा न लागवत मानो राज तिहारौ।
'नारायण' हैं कौन हमारे मग को रोकन हारौ।।
सखी मोहि योंही करौ बदनाम।।
मैं घर सौं बाहर नहिं निकसी नैंनन देखे स्याम।
पीठि पिछार करौ तुम चरचा लै–लै मेरौ नाम।।

मोहन बसि गयौ मेरे मन में।
लोक लाज कुल कानि छूट गई याकी लगन–लगन में।।

–नारायणस्वामी (श्रीजी वचन सखी प्रति)

जमुना तीर कान्ह डोलै है।
भेद भरी बाँसुरी पै मोहिं बोलै है।।
सासु डरन साँस भरौं छतियाँ छोलै है।
प्रान प्यासे आनन्दघनहिं मिलवै को लैहै।।पद ७५।।

विरही कृष्ण

राधा राधा दीसै स्यामैं घर राधा वन राधा।
चायनि भरि गायनि लै निकसत दुरि मिलवे की साधा।।
ब्रज बसि कैसें बनत कुलीननि लोकलाज गुरुजन की राधा।
आनन्दघन चातक लौं जीवत रसबस प्राण समाधा।।पद १०२।।

प्रेम परावधि ब्रजबधू सुनि वंसी धुन मन्द।
तजत भईं सब सकुच तब भजत भईं ब्रजचन्द।।
आरज पथ भूली, भले विवस परी हित फन्द।
ब्रजमोहन मनमोहिनी पूरन प्रेम आनन्द।।पद ६८।।

मेरी ननदी री कहि कहा करौं।
तेरे वीरन परदेस विरमि रहे फागुन के दिन कैसे भरौं।।
इत ब्रजमोहन होरी गावै मुरली धुनि सुनि शिथिल परौं।
आनन्दघन मोही पै घमड़्यौ रीझि लाज सौं को लौं अरौं।।पद४७६।।

दुरजन बाहिर गुरुजन घर में।
लाल गर्‌यारैं बोल सु आयो प्रान परे अरवर में।।पद १६८।।

–कृपाकन्द निबन्ध

जटिला सुनिया आनाये डाकिया यतन करिया कैल।
बधूरे साजाआ गावी धृत लैया तुरिते ताहाँ इ चल॥
ए सब वचने सब सखीगणे राईर आनन्द होय।
से हेन नागर गुणेर सागर दरस हईवे मोय॥

–यदुनन्दनदासजी

रायान चतुर बड़ सदा माथा टाड॥
मायेर सने आइला वने करिते कथा दड़।
हरिष विषाद मने भाल मन्द गुण॥
राईर रीति बुझिते तथि वसिला मण्डप कोणे।
सासुड़ी आड़ जानि भये भीत भेल धनी॥

–कवि शेखरजी (सूर्य्य पूजा में)

घर ही घर घेरु करै धरि हाई नै नाँव धरें सब गाँवरी री।
तब ढोल दै–दै बदनाम कियौ अब कौन की लाज लजाँवरी री॥
कवि ठाकुर नैंन सौं नैंन लगे अब प्रेम सौं क्यों न अघाँवरी री।
अब होन दै बीस विसै री हँसी हिरदै बसी मूरति साँवरी री॥

–कवि ठाकुरजी

एक दिना मुरली धुनि में, रसखानि लियौ उन नाम हमारौ।
ता दिन ते यह बैरिन सासु, सासु सु झाँकन देत नहिं निज द्वारौ॥
होत चबाव बलाय सौं आलिहि जो मिलि भेटिये नन्द दुलारौ।
डीठ परेहि लगौ चटकौ खटकौ हियरे पियरे पटवारौ॥

–रसखानि

शुश्रूषन्त्यः पतीन्काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनं।
ता वार्य्यमाणाः पतिभिः पितृभि र्भ्रातृबन्धुभिः॥
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः।
अर्न्तगृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविर्निगमाः॥

कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः।
'तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः॥
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥'
'मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसं॥'
'भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परोधर्म्मो ह्यमायया।'
'दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोगयधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभि र्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥
अस्वगर्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहं।
जुगुप्सितं च सर्व्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः॥'
'स कथं धर्म्मसेतूनां वक्ता कर्त्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन्परदाराभिमर्षणम् ॥
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान्वै जुगुप्सितं।
किममिप्रायं एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥

–दशमे, रासपञ्चाध्यायेषु

रागोल्लासविलधिंतार्य्यपदवीविश्रान्तयोऽप्युद्धुर,
श्रद्धारज्यदरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्ये हि ताः।
आरण्या अपि माधुरी परिमलव्याक्षिप्तलक्ष्मीश्रियः,
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणा ददतु वः कृष्णस्य सख्यः सुखं॥

–उज्ज्वलनीलमणौ परकीयायाः

कात्यायनीकुसुमकामनया किमर्थं,
कान्तारकुक्षिकुहरं कुतुकाद्गतासि।
सद्यस्तनं स्तनयुगे तव कण्टकांकं,
पत्युः स्वसा सखि सशंकमुदीक्षतेऽसौ॥

–तत्रैव परोढ़ायाः

विस्रब्धा सखि धूलिकेलिषु पटासंवीतवक्षः स्थला,
बालासीति न वल्लवस्तव पिता जामातरं मृगयति।
त्वंतु भ्रान्तविलोचनान्तमचिरादाकर्ण्य वृन्दावने,
कूजन्तीं शिखिपिच्छमौलिमुरलीं सोत्कम्पमाघूर्णसि॥

–उज्ज्वलनीलमणौ, कन्यायाः

'मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽवलाः' इति।

–एकादशस्कन्धे

'गोपनारीभिरनिशं यत्र क्रीड़ति कंसहा'

–पद्मपुराणे

'गो–गोप–गोपवनितानिकरैः परितम्'

–क्रमदीपिकायाम्

'अत्र या गोपपत्न्यश्च निवसन्ति ममालये'

–वृहद्गौतमीयतन्त्रे

'विचित्राम्बरभूषाभिर्गोपनारीभिरावृतम्'

–श्रीगोपालस्तवे

'तदिदं मयोक्तमौपपत्येन रासक्रीड़ादिसुखमेवेत्यर्थः। विवाहेन पतित्वे रासक्रीड़ादिसुखविशेषो न पंपद्यत इति भावः। सतीः हे सत्य इति औपपत्येऽपि यूयं सर्वथा साध्व्य एव, मदेकमात्रनिष्ट त्वादिति भावः। तत्त्वतोऽनौपपत्यात्। विवाहिताभ्योऽप्यधिकप्रियत्वात्।

–श्रीमद्भागवत २०।२२।२६–२७
वृहद्वैष्णवतोषण्यां श्रीसनातनगोस्वामिचरणैरुक्तम्

अथ ब्रजे प्रकटायाञ्च श्रीकृष्णस्यौपपत्यं नित्यम्। श्रीराधिका दीनाञ्च परकीयात्वं नित्यम्। तयोः स्वरूपेण द्वैविध्यं नास्ति। किंतु अप्राकृतद्वापरे प्राकृतद्वापरस्य मिलने स्वयंरूपे श्रीनन्दनन्दने वसुदेवनन्दनादिषु प्रकाशेषु मिलितेषु सत्सु लीलायाः प्राकट्यं भवति।

–श्रीजीवगोस्वामिपादाः

'औपपत्यस्याप्राकृतत्वेन नित्यत्वात् प्रकटितौपपत्ये'–

–धृतसाधनदीपिकायां

मो विषये गोपीगणेर उपपति भावे।
योगमाया करिवेक आपन प्रभावे।।
आमिह ना जानि आर ना जाने गोपीगण।
योगमाया करिवेक सकलि घटन।।

–श्रीचैतन्यचरितामृते

अनेन श्रीकृष्णस्यौपपत्ये श्रीराधिकादीनां परकीयात्वे प्राकृतदृष्ट्या दोषदृष्टिं कुर्वन्तो जना मायावादिन इव कामानुगाभक्तिनिरतजनैः सर्वथा त्याज्याः।।

–साधनदीपिकायाम्

कवे वृषभानुपुरे। आहीरी गोपेर घरे।
तनया हईया जनमिव।
यावटे आमार कवे। ये पाणिग्रहण हवे।
बसति करिव कवे ताय।।

–प्रार्थनायां श्रीनरोत्तमठाकुरमहाशयाः

संग्रहिता :

प्रकाशक

श्रीहरिदास शास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

क्रम.	सद्ग्रन्थ	मूल्य
१	वेदान्तदर्शनम् भागवतभाष्योपेतम्	१५०.००
२	श्रीनृसिंह चतुर्दशी	१०.००
३	श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	२०.००
४	श्रीगौरगोविन्दार्चनपद्धति:	२०.००
५	श्रीराधाकृष्णार्चनदीपिका	२०.००
६–७–८	श्रीगोविन्दलीलामृतम्	४५०.००
९	ऐश्वर्यकादम्बिनी	३०.००
१०	श्रीसंकल्पकल्पद्रुम	३०.००
११–१२	चतु:श्लोकीभाष्यम्, श्रीकृष्णभजनामृत	३०.००
१३	प्रेमसम्पुट	४०.००
१४	श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
१५	ब्रजरीतिचिन्तामणि	४०.००
१६	श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	३०.००
१७	श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश	५०.००
१८	श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	५.००
१९	श्रीहरिभक्तिसारसंग्रह	५०.००
२०	धर्मसंग्रह	५०.००
२१	श्रीचैतन्यसूक्तिसुधाकर	१०.००
२२	श्रीनामामृतसमुद्र	१०.००
२३	सनत्कुमारसंहिता	२०.००
२४	श्रुतिस्तुति व्याख्या	१००.००
२५	रासप्रबन्ध	३०.००

क्रम. सद्ग्रन्थ	मूल्य
२६–दिनचन्द्रिका	२०.००
२७–श्रीसाधनदीपिका	६०.००
२८–स्वकीयात्वनिरास, परकीयात्वनिरूपणम्	१००.००
२९–श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
३०–श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	१००.००
३१–श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम्	३०.००
३२–श्रीगौरांग चन्द्रोदय	३०.००
३३–श्रीब्रह्मसंहिता	५०.००
३४–भक्तिचन्द्रिका	३०.००
३५–प्रमेयरत्नावली एवं नवरत्न	५०.००
३६–वेदान्तस्यमन्तक	४०.००
३७–तत्वसन्दर्भः	१००.००
३८–भगवत्सन्दर्भः	१५०.००
३९–परमात्मसन्दर्भः	२००.००
४०–कृष्णसन्दर्भः	२५०.००
४१–भक्तिसन्दर्भः	३००.००
४२–प्रीतिसन्दर्भः	३००.००
४३–दशःश्लोकी भाष्यम्	६०.००
४४–भक्तिरसामृतशेष	१००.००
४५–श्रीचैतन्यभागवत	२००.००
४६–श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्	१५०.००
४७–श्रीचैतन्यमंगल	१५०.००
४८–श्रीगौरांगविरुदावली	४०.००
४९–श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत	१५०.००
५०–सत्संगम्	५०.००
५१–नित्यकृत्यप्रकरणम्	५०.००

क्रम. सद्ग्रन्थ	मूल्य
५२—श्रीमद्भागवत प्रथम श्लोक	३०.००
५३—श्रीगायत्री व्याख्याविवृतिः	१०.००
५४—श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	२५०.००
५५—श्रीकृष्णजन्मतिथिविधिः	३०.००
५६—५७—५८—श्रीहरिभक्तिविलासः	६००.००
५९—काव्यकौस्तुभः	१००.००
६०—श्रीचैतन्यचरितामृत	२५०.००
६१—अलंकारकौस्तुभ	२५०.००
६२—श्रीगौरांगलीलामृतम्	३०.००
६३—शिक्षाष्टकम्	१०.००
६४—संक्षेप श्रीहरिनामामृत व्याकरणम्	८०.००
६५—प्रयुक्ताख्यात मंजरी	२०.००
६६—छन्दो कौस्तुभ	५०.००

बंगाक्षर में मुद्रित ग्रन्थ

१—श्रीबलभद्रसहस्रनाम स्तोत्रम्	१०.००
२—दुर्लभसार	१०.००
३—साधकोल्लास	५०.००
४—भक्तिचन्द्रिका	४०.००
५—श्रीराधारससुधानिधि (मूल)	२०.००
६—श्रीराधारससुधानिधि (सानुवाद)	३०.००
७—श्रीभगवद्भक्तिसार समुच्चय	३०.००
८—भक्तिसर्वस्व	३०.००
९—मनःशिक्षा	३०.००
१०—पदावली	३०.००
११—साधनामृतचन्द्रिका	४०.००
१२—भक्तिसंगीतलहरी	२०.००

सद्ग्रन्थ प्रकाशक एवं मुद्रक :

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस

(श्रीहरिदास निवास)

प्राचीन कालीदह, वृन्दावन (मथुरा)

गौशाला

आश्रम के अग्रभाग में एक बृहद् गौशाला है, जिसमें गोवंश की संख्या लगभग 171 है। यहाँ पर गाय की सेवा गाय के अनुकूल रूप में ही की जाती है न कि व्यवसाय की दृष्टि से। गाय श्रीकृष्णजी की भी पूज्य हैं जो कि उनकी भौमलीला से विदित है, उनको आदर्श मानकर ही यहाँ पर गाय की सेव्यरूप में सेवा की जाती है। गो-सेवा के लिए **'श्रीहरिदास गऊ संस्थान'** नामक ट्रस्ट की स्थापना की गयी है तथा तेहरा ग्राम श्रीवृन्दावन के निकट 11 एकड़ भूमि भी खरीदी गयी है, वहाँ पर एक और नवीन बृहद् गौशाला है। वृद्धावस्था में भी महाराजश्री स्वयं गो-सेवा करते हैं। इस आश्रम का वातावरण प्राचीन समय के ऋषिकुलों जैसा है। आश्रम में एक विराट् ग्रन्थागार भी है जिसमें प्रचुर प्राचीन मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। आश्रम की एक **'प्रेस'** भी है जिसका नाम 'श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस' है। इस प्रेस से अभी तक लगभग 80 सद्ग्रन्थों का संस्कृत, हिन्दी एवं बँगला भाषा में प्रकाशन हो चुका है।

मुद्रक :

श्रीगदाधर गौरहरि प्रेस

(श्रीहरिदास निवास)

प्राचीन कालीदह, वृन्दावन (मथुरा)